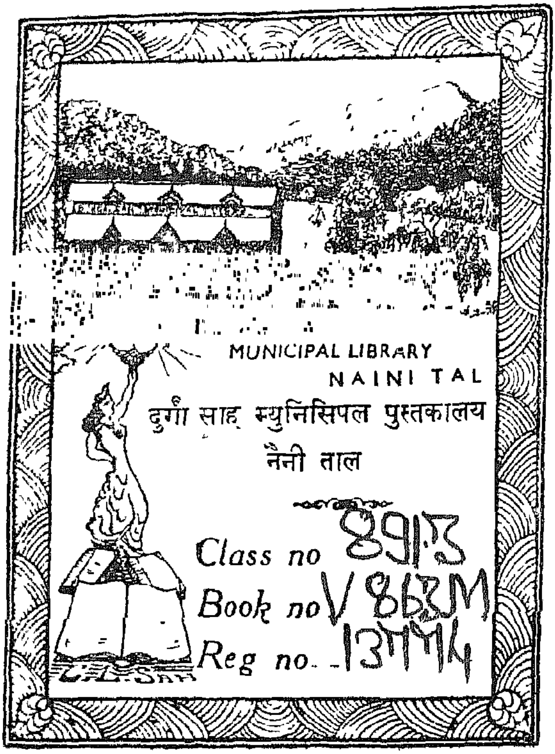


'मुक्तिदूत' एक महाकाव्यात्मक इयत्ता की कथा-कृति है। सत्ता, जीवन और चेतना का कोई भी आयाम और स्तर इसमें अछूता नहीं रहा है। चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन नारी के द्वन्द्व के माध्यम से, इसमें कथाकार ने जीवन के हर सम्भव संघर्ष और उलझन को प्रकाशित और परिभाषित कर, समाधान का सम्भव तट छूने का प्रयास किया है।

प्रसादजी की 'कामायनी' के बाद, महाकाव्य के स्तर पर, सार्वदेशिक और सार्वकालिक गुणवत्ता और मूल्यवत्ता की हिन्दी में शायद यह अपने ढंग की अनोखी कृति है। क्लासिकल और रोमानी सृजनात्मकता का इसमें एक अनूठा समन्वय हुआ है। इसे सतही वास्तविकता के अर्थ में नहीं, मौलिक यथार्थता के अर्थ में, एक यथार्थवादी कृति ही कहा जायेगा। क्योंकि इसमें चरम सत्ता के परिप्रेक्ष्य में, उससे प्रवाहित जीवन को देखने-समझने और सुलझाने का एक हार्दिक प्रयास है। इसमें अनुभूति ही अनायास चिन्तन बन गयी है।

मानव-चेतना की आन्तरिक अन्तरिक्ष-यात्रा के इस आख्यान में लेखक ने कुछ नये शिल्प प्रयोग भी किये हैं जो सुधी और विवेकी पाठक की दृष्टि से छिपे नहीं रहेंगे। अन्तश्चेतनिक मनोविज्ञान (डेप्थ साइकॉलॅजी) का यह शायद हिन्दी में एक अन्यतम सृजन-प्रयोग है। प्रस्तुत है पुस्तक का यह चौथा संस्करण।

मुक्तिदूत

[एक पौराणिक रोमांस]

*

वीरेन्द्रकुमार जैन

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक १

सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश

प्रथम संस्करण : १९४७
द्वितीय संस्करण : १९५०
तृतीय संस्करण : अप्रैल १९७३
चतुर्थ संस्करण : दिसम्बर १९७५

मुक्तिदूत
(उपन्यास)
वीरेन्द्रकुमार जैन

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७, कॅनॉट प्लेस,
नयी दिल्ली-११०००१
मूल्य : तेरह रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग,
वाराणसी-२२१००५

MUKTIDOOT ◦ NOVEL ◦ VEERENDRAKUMAR JAIN
Lokodaya Series : Title No. 1
Price : Rs 13.00

आज की दिशाहारा मानवता को

□

मेरी तपस्विनी माँ

चम्पा बा के योग्य

"पुराण की कथाओं का भी मुझपर कुछ ऐसा ही असर पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं तो यह बिलकुल बेतुकी और हँसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाये तो वह एक नयी ही रोशनी में दिखाई पड़ने लगती हैं, उनमें एक नया सौन्दर्य जान पड़ता है—ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊँची कल्पना ने अचरज-भरे फूल खिलाये हैं। इनमें आदमी के शिक्षा लेने की बहुत-सी बातें हैं।"

(यूनान के देवी-देवताओं की कहानियों की अपेक्षा) "हिन्दुस्तान की पुराण-गाथाएँ कहीं ज्यादा और भरी-पूरी हैं, और बड़ी ही सुन्दर एवं अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें, जिन्होंने कि ऐसे सजीव सपनों और सुन्दर कल्पनाओं को रूप दिया है, कैसे रहे होंगे, और विचार और कल्पना की किस सोने की खान में से उन्होंने खोदकर ऐसी चीजें निकाली होंगी।"

"....मैंने यह अनुभव किया कि पुरानी दन्त-कथाओं और परम्परा का औरों के दिमाग पर, खास तौर पर हमारी अनपढ़ जनता के दिमाग पर कितना ज्यादा असर पड़ा होगा। यह असर संस्कृति और नीति दोनों ही के लिहाज से अच्छा असर रहा है। इन कहानियों या रूपकों की सुन्दरता और ख्याली संकेत को बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज़ पसन्द न करूँगा।"

(I iscovery of India के अनुवाद
"हिन्दुस्तान की कहानी" के
पृष्ठ ८४ और ११२ से)

पण्डित जवाहरलाल नेहरू

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण)

अंजना और पवनंजय की प्रेम-कथा एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है। 'मुक्तिदूत' की रचना उसी आख्यान की भूमिका पर हुई है—आधुनिक उपन्यास के रूप में। पर लेखक ने इसका उप-शीर्षक दिया है—'एक पौराणिक रोमांस।' लगता है न कुछ विचित्र-सा? बात यह है कि अँगरेजी शब्द 'रोमांस' में आख्यान का जो एक विशेष प्रकार, कथानायक की महत्त्वाकांक्षा, नायिका की प्रेमाकुलता और घटनाओं के चमत्कार का सहज आभास मिलता है, वह 'आख्यान,' 'कथा' या 'उपन्यास' शब्द में नहीं। फिर भी, 'मुक्तिदूत' पश्चिमी ढंग का रोमांस नहीं है। इसमें 'रोमांस' (अथवा रोमांचकता) की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रधान है—वह जो शाश्वत, उन्नत और चिर-नवीन है।

लेखक ने कथा की पौराणिकता की भी एक सीमा बाँध ली है। उसके बाद उसने वातावरण की अक्षुण्णता में कल्पना को मुक्त रखा है। ऐतिहासिक शोध-खोज और भूगोल की सीमाओं का उल्लंघन यदि कथा कहीं करती है, तो किया करे। उड़ान की रोक लेखक को इष्ट नहीं। उसके लिए तो पुराण का कल्पना-मूलक इतिहास और भूगोल अपने आपमें ही पर्याप्त है। कल्पना की गहराइयों में आकर जिस चीज़ को लेखक ने खोजा है, वह बेशक 'तथ्य' न हो, पर वह 'सत्य की प्रतीति' अवश्य है। और यहीं श्री वीरेन्द्रकुमार का साहित्यिक, लोक-जीवन के नव-निर्माण का देवदूत बनकर प्रकट हुआ है। आज की विकल मानवता के लिए 'मुक्तिदूत' स्वयं मुक्तिदूत है, इस रूप में पुस्तक का समर्पण सर्वथा सार्थक है।

उपन्यास आपके हाथ में है; आप पढ़ेंगे ही घटनाओं का विरल तारतम्य—पवनंजय का अंजना के सौन्दर्य के प्रति प्रबल किन्तु अचिर आकर्षण, अंजना के

सम्बन्ध में अपने निरादर को लेकर पवनंजय की ग़लत धारणा, परिणय, विफल सुहाग-रात्रि, त्याग, आकुल स्मृति, मिलन, विच्छेद, युद्ध, खोज, हनुमान्जन्म, पुर्नमिलन—आदि। इस सर्वांगीण प्रणय-कथा के चिर-परिचित रूप में पाठकों के मनोविनोद की पर्याप्त सामग्री है। पर 'मुक्तिदूत' की मोहक कथा, सरस रचना, अनुपम शब्द सौन्दर्य और कवित्व से परे पाने लायक़ कुछ और ही है—वह जो पुस्तक की इस प्रत्येक विशेषता में व्याप्त होकर भी माला के अन्तिम तीन मनकों की तरह सर्वोपरि हृदय से, आँखों से और माथे से लगाने लायक़ है। पुस्तक का वह सन्देश पाठकों से स्वयं बोलेगा—रचना की सफलता की कसौटी यही है।

'मुक्तिदूत' पवनंजय के आत्म-विकास और आत्म-सिद्धि की कथा है। पुरुष को 'अहं' की अन्धकारा से नारी ने त्याग, बलिदान और आत्म-समपर्ण के प्रकाश द्वारा मुक्त किया है। कथा के प्रारम्भ का पवनंजय अपनी आकांक्षा के सपनों से खेलनेवाला, उद्धत और अभिमानी राजकुमार है। वह निर्वाण की खोज में है—और निर्वाण का यह दावेदार, बनना चाहता है अखिल सृष्टि का विजेता, भूगोल-खगोल का अधिकारी और एक ही समय में समग्र भोग, अनन्त सौन्दर्य और अक्षय प्रेम का परम भोक्ता! निर्वाण की खोज में वह ऋषभदेव की निर्वाणभूमि कैलास पर्वत पर हो आया है; पर उसे वहाँ निर्वाण नहीं मिला। उदयाचल से अस्ताचल पर्यन्त की परिक्रमा देने पर भी उसे मुक्ति नहीं मिली। मुक्ति का आकर्षण तीव्रतर अवश्य है—"देखो, प्रहस्त, दिशाओं में मुक्ति स्वयं बाँहें पसार-कर बुला रही है!"

पर देखिए, इस अहंकारी विजेता की वीरता कि यह स्त्री के सौन्दर्य से डर-कर भागा हुआ है! सागर के बीच, महलों की अटारी पर से आये हुए आकुल बाँहों के निमन्त्रण को, रूप के आह्वान को अनसुना-अनदेखा करके भाग निकला है उलटे पाँव, अपनी नाव में यह प्रतापी राजकुमार! गाँठ यहीं आकर पड़ गयी; यहीं 'अहं' उलझ गया। इसी गाँठ को कसे दिया मिश्रकेशी के व्यंग्य ने, अंजना की 'उपेक्षा' ने। चोट खाये हुए, बौखलाये हुए सिंह की तरह घूम रहा है पवनंजय वनों में, पर्वतों पर, समुद्र की तरंगों पर। अंजना से बदला ले चुका है—उसकी सुहागरात्रि की आकुल प्रतीक्षा को व्यर्थ करके, उसके त्याग की तुमुल घोषणा

महलों में गुँजवाकर ! नारी वेदनाएँ सहन कर-कर के जितना ही ऊँचे उठ रही है, पुरुष-पवनंजय अपने ही अहंकार के बोझ से उतना ही नीचे धँसता जा रहा है। पर, अब वह दार्शनिक हो गया है। अपने-पराये के भेद, मोह-मिथ्यात्व की परिभाषा, आत्मा की निज-परिणति, एकाकी मुक्त विहार--कितनी ही तर्कणाओं द्वारा वह अपने आदरणीय चिर-सखा प्रहस्त को चुप कर देना चाहता है। प्रहस्त अपने ही दिये हुए सजीव और सकवित्व दर्शन की ये निर्जीव व्याख्याएँ सुनता है, तो निर्बल के इस छद्मदर्शन पर मन ही मन हँसता है, दुखी होता है। प्रहस्त कह चुका है—

"तुम स्त्री से भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारण कर रहे हो। पागल के प्रलाप से अधिक तुम्हारे इस दर्शन का कुछ मूल्य नहीं। यह दुर्बल की आत्मवंचना है, विजेता का मुक्तिमार्ग नहीं। स्त्री के सम्मोहन-पाश में ही मुक्ति की ठीक-ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्ति की माँग वही तीव्रतम है....मुक्ति स्वयं स्त्री है, नारी को छोड़कर और कहीं शरण नहीं है, पवन ! मुक्ति चरम-प्राप्ति है, वह त्याग-विराग नहीं है पवन !"

पवन के त्रस्त अभिमान ने मन ही मन सोचा—स्त्री का सौन्दर्य, उसकी महत्ता मेरे 'अहं' से भी बड़ी ? और उसने निश्चय किया—

"अच्छा अंजन, आओ, पवनंजय के अँगूठे के नीचे—
और फिर मुसकराओ अपने रूप की चाँदनी पर !"

अंजना के त्याग का संकल्प करके, उसने कहा था—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है, प्रहस्त, तो चलो, मानसरोवर के तट पर अपनी विजय-यात्रा का पहला शिला-चिह्न गाड़ चलूँ।"

उसी मानसरोवर के तट पर गाड़ आया था पवनंजय अपने सहज, प्रकृत व्यक्तित्व का समाधि पाषाण ! "देखो प्रहस्त ! एक बात तुम और जान लो, जिस अपने सखा पवनंजय को तुम चिर-दिन से जानते थे, उसकी मौत मानसरोवर के तट पर तुम अपनी आँखों के आगे देख चुके हो।"

सुन्दर व्यक्तित्व के प्राणों को खोकर, पवनंजय का कंकाल घूमता फिरा दिशाओं-दिशाओं में तीव्र कषाय के उद्वेग और दैहिक-स्फूर्ति की दुर्द्धर्ष प्रचण्डता

के साथ ! तभी आया युद्ध का निमन्त्रण । यही तो इलाज है इस प्राणहीन प्रचण्डता का, भौतिक आकांक्षा का, 'अहं' के संघर्ष का, कि ये सब उसकी सान पर चढ़कर तेज़ हो सकें और आपस की टक्करों से अपने ही स्फुलिंगों में बुझ सकें !

युद्ध में बुझने के लिए पवनंजय जा रहा है, कि नारी का वरद हस्त, मंगल के दीप-सँजोये, सामने आता है कुशल-कामना लेकर । पुरुष का अहंकार अपनी ही कटुता में कुण्ठित हो गया—पर, ज्वाला भभकी—

"ओह, 'अशुभमुखी' !...." खड्ग-यष्टि से खिंचकर तलवार उनके हाथों में लपलपा आयी । तीव्र किन्तु स्फुट स्वर निकला—"दुरीक्षणे....छिः !"

उसपर अंजना ने क्या कहा ? मन ही मन उसने कहा—

'आज आया है प्रथम बार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा....तुम मुझसे बोल गये । हतभागिनी कृतार्थ हो गयी, जाओ अब चिन्ता नहीं; अमरत्व का लाभ करो ।'

उत्कट अपमान....अनुपम आत्मसमर्पण ! दानव अट्टहास कर उठें, देव फूल बरसा दें, मानव पानी-पानी होकर बह जायें !!

मानव के विष का चढ़ाव चरम सीमा पर पहुँच गया है । तो क्या अब मौत ? नहीं, ऊपर देखा तो है, कि अमृत का अक्षय भण्डार जीवन में प्राप्य है । पुरुष सादर, सपरिताप उन्मुख-भर हो ।

कंकाल-पुरुष प्राणों के लिए आकुल हुआ । वन में देखा कि एकाकिनी चकवी अपने प्रिय के लिए व्याकुल है । पवनंजय का वाल्मीकि अपने ही घुमड़ते हुए श्लोकों के शत-शत अनुष्टुपों में भर आया ।

बाईस वर्ष तक "विच्छेद की सहस्रों रातों में वेदना की अखण्ड दीपशिखा-सी तुम जलती रहीं ?" बिलखकर पहुँचा अपनी प्रेयसी की गोद में—जैसे भटका हुआ शिशु माँ की गोद में पहुँचे ।

यहीं तो है उसकी मुक्ति, उसका त्राण ! नारी की आकुल बाँहों की छाया में जाकर पुरुष आश्वस्त हुआ । और यहीं 'प्राण की अतलस्पर्शी आदिम गन्ध उसकी आत्मा को छू-छू' गयी ।—

"कामना दी है तो सिद्धि भी दो । अपने बाँधे बन्धन तुम्हीं खोलो, रानी !

मेरे निर्वाण का पथ प्रकाशित करो !"

"मुक्ति की राह मैं क्या जानूँ ? मैं तो नारी हूँ, और सदा बन्धन ही देती आयी हूँ। मुक्तिमार्ग के दावेदार और विधाता हैं पुरुष ! वे आप अपनी जानें !"

पर, देने में नारी ने कमी नहीं रखी; सम्पूर्ण उत्सर्ग के साथ नारी ने अपने आपको पुरुष के हाथों सौंप दिया—उसे सँभाल लिया !

इस प्रकार पुरुष उसी एक दिन की परित्यक्ता नारी की शरण में मुक्ति खोजता है। फिर वही नारी उसे महान् विजय यात्रा पर भेजती है—जिस युद्ध से वह मृत्युंजयी जेता बनकर लौटता है। नारी के प्राणों का स्पन्दन पाकर ही पवनंजय अपना पुरुषार्थ प्राप्त करता है। जो सदा अपने 'अहं' से परिचालित, किन्तु दूसरों के सहारे रहा वह अब स्वयं ही अहिंसक युद्ध की कल्पना करता है और उसकी शैली (Technique) निकालता है। यहाँ पवनंजय अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है—पर उसके पीछे है वही तपस्विनी सती अंजना। सती का यह प्रेम अन्त तक पुरुष के अहंकार को तोड़ता ही जाता है और अन्त में उस पुरुष के आदर्श को स्वयं बालक-रूप में जन्म देकर, वह उस पुरुष को चरम मार्ग-दर्शन देती है।

अंजना का जीवन सशक्त आदर्श का जीवन है। नारी के चरित्र की इतनी ऊँची और ऐसी अद्भुत कल्पना शायद ही कहीं हो। अंजना शरत् बाबू के ऊँचे से ऊँचे स्त्री पात्र से ऊपर उठ गयी है। अब तक के मानव इतिहास में नारी पर मुक्तिमार्ग की बाधा होने का जो कलंक चला आया है, इस उपन्यास में लेखक ने उस कलंक का मोचन किया है। अंजना का आत्म-समर्पण पुरुष के 'अहं' को गलाकर—उसके आत्म-उद्धार का मार्ग प्रशस्त करता है। अंजना का प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नहीं है, वह है एक अनवरत साधना; कहें कि 'अनासक्त योग'। इस प्रेम में पुरुष गौण है। और यदि वह विशिष्ट पुरुष है तो इसमें अटकाव नहीं, उसी के माध्यम से मुक्ति का द्वार खोज लेने का आग्रह है इस प्रेम में। अंजना का अटल आत्म-विश्वास देखिए—

"यदि कापुरुष को परमपुरुष बना सकने का आत्मविश्वास हमारा टूटा नहीं है, तो किस पुरुष का अत्याचार है जो हमें तोड़ सकता है ? पुरुष

सदा नारी के निकट बालक है। भटका हुआ बालक एक दिन अवश्य लौट आयेगा।"

युग-युग का सच्चा सन्देश आज की सहस्रों नारियों के लिए कितना सत्य और महत्त्वपूर्ण है!

अविकल आत्म-समर्पण के साथ, अंजना में मिथ्या मूल्यों के प्रति एक सशक्त और प्रबुद्ध विद्रोह है। प्रत्येक परिस्थिति में अपना मार्ग वह स्वयं बनाती है।

'मुक्तिदूत' की कथा-वस्तु जितनी तल पर है, उतनी ही नहीं है। उसके भीतर एक प्रतीक-कथा (Allegory) चल रही है, जिसे हम ब्रह्म और माया, प्रकृति और पुरुष की द्वन्द्व-लीला कह सकते हैं। अनेक अन्तर्द्वन्द्व—मोह-प्रेम, विरह-मिलन, रूप-सौन्दर्य, दैव-पुरुषार्थ, त्याग-स्वीकार, दैहिक कोमलता-आत्मिक मार्दव, ब्रह्मचर्य-निखिलरमण और इनके आध्यात्मिक अर्थ, कथा के संघटन और गुम्फन में सहज प्रकाशित हुए हैं।

आज के युग में जो एकान्त बुद्धिवाद और भावना या हृदयवाद—अहंकार और आत्मार्पण—के मार्गों में संघर्ष है, वह पवनंजय के चरित्र में सहज ही व्यक्त हुआ है। पवनंजय इस बात का प्रतीक है कि वह पदार्थ को बाहर से सीधे पकड़कर उसपर विजय पाना चाहता है। यहीं अहंकार उपजता है—आज का बुद्धिवाद, भौतिकवाद और विज्ञान की अन्ध साहसिक वृत्ति (Adventure) इसी 'अहं' के प्रतिफल हैं। विज्ञान इस अर्थ में प्रत्यक्ष वस्तुवादी है—वह इन्द्रियगोचर तथ्य पर विजय पाने को ही प्रकृति-विजय मान रहा है। यहीं उसकी पराजय सिद्ध होती है। इसी में से उपजती है हिंसा और महायुद्ध; और यहीं से उत्पन्न होता है निखिल संघातकारी एटम-बम!

श्री वीरेन्द्रकुमार ने मूल पौराणिक कथा को कहीं-कहीं थोड़ा retouch किया है, और निखारा है। मूलकथा में युद्ध गौण है पर यहाँ युद्ध-सम्बन्धी एक समूचा अध्याय जोड़ दिया है, जिसमें अहिंसक युद्ध की कल्पना को व्यावहारिक रूप दिया है। लेखक की कथा में युद्ध में जाकर स्त्री के दिये हुए निःस्व उत्सर्ग और महान् प्रेम के बल पर, पुरुष के सच्चे पुरुषार्थ का सर्वश्रेष्ठ प्रकाश सामने आया है।

पाठक पायेंगे कि अंजना के प्रकृतिस्थ तादात्म्य को नारी की जिन संवेदनाओं

के साथ दिखाया गया है, उसमें लेखक ने दुराव से काम नहीं लिया है। वर्णन सीधा और सधा हुआ है। उसमें कुछ भी हीन नहीं है। अंजना के लिए समस्त सृष्टि—लता, वृक्ष, पृथ्वी, पशु, पक्षी—सजीव और साकार प्रकृति के अखण्ड रूप हैं। वह स्वयं प्रकृति है, इसलिए उन अखण्ड रूपों में रम जाना उसके निसर्ग की आवश्यकता है। हाँ, वह आकुल है विराट् के लिए—उस आलोक पुरुष के लिए—जो उसका प्रणयी है, जो उसका शिशु है। प्रणय और वात्सल्य की आदिम भावनाओं के निराकुल और विदेह प्रदर्शन में 'प्रणयी' और 'शिशु' को अलग-अलग खोजना और उस सम्बन्ध में लौकिक दृष्टि से तर्क करना चाहें तो आप करें—लेखक सम्भवतया इससे परे है। यों आप दो प्रश्न करें, तो तीन प्रश्न मैं भी कर सकता हूँ—'वादे वादे जायते तत्त्व-बोधः'।

तो लीजिए, बताइए 'मुक्तिदूत' कौन है? पवनंजय? हनुमान्? अंजना? प्रहस्त?

पढ़िए और सोचिए।

'मुक्तिदूत' में 'रोमांस' के प्रायः सब अंग होते हुए भी यह रह गयी है प्रधानतः एक करुण-कथा। अलग-अलग प्रत्येक पात्र व्यथा का बोझ लिये चल रहा है। कथा की सार्थकता है अन्तिम अध्याय की उन अन्तिम पंक्तियों में जहाँ 'प्रकृति पुरुष में लीन हो गयी; पुरुष प्रकृति में व्यक्त हो उठा!'

पात्रों में व्याप्त व्यथा के नाना रूपों को सहानुभूति और सह-वेदना की जिस अश्रु-सिक्त तूलिका से लेखक ने चित्रित किया है, उसका चमत्कार पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित है; श्री वीरेन्द्रकुमार की शैली की यह विशेषता है कि वह अत्यन्त संवेदनशील है। पात्रों के मनोभावों और भावनाओं के घात-संघात के अनुरूप वह प्रकृति का चित्र उपस्थित करते जाते हैं। लगता है जैसे अन्तर की गूँज जगत् में छा गयी है, हृदय की वेदनाएँ चाँद, सूरज, फल-फूलों में रमकर, चित्र बनकर प्रकृति की चित्रशाला में आ टँगी हों।

उदाहरण देखिए—

१. अब अंजना अकेली, विचारों में डूबी बैठी है—

"शेष रात के शीर्ण पंखों पर दिन उतर रहा है। आकाश में तारे

कुम्हला गये हैं। मानसरोवर की चंचल लहरियों में कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनों की जाली बुन रही है। और एक अकेली हंसिनी, उस फूटते हुए प्रत्यूप में से पार हो रही है....वह नीरव हंसिनी, उस गुलाबी आलोक-सागर में अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यों है आज अकेली ?"

२. परिणय की वेला में—

"आज है परिणय की शुभ लग्न-तिथि। पूर्व की उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियों के बीच ऊषा के आकुल वक्ष पर यौवन का स्वर्ण-कलश भर आया है।"

३. अंजनामातृत्व के पद पर आसीन होने को है—

"आकाश के छोर पर कहीं श्वेत बादलों के शिशु किलक रहे हैं।"

४. निराशा की प्रतिध्वनि—

"कहीं-कहीं नदी की सतह पर मलिन स्वर्णाभा में वैभव बुझ रहा था।"

श्री वीरेन्द्रकुमार के स्वभाव में ध्वनि और वर्ण का सहज सम्मोहन है। अनेक छोटे-छोटे वाक्यों में उन्होंने स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध और ध्वनि की अनुभूतियों को सरस लेखनी में उतारा है। यथा—

१. "नारिकेल-शिखरों पर वसन्त के सन्ध्याकाश में गुलाबी और अंगूरी बादलों की झीलें खुल पड़ी हैं।"

२. "संधों में से आयी हुई कोमल धूप के धब्बे कहीं-कहीं बिखरे हैं जैसे इस कोमल सुनहली लिपि में कोई आशा का सन्देश लिख रहा है।"

३. "प्राण की अनिवार पीड़ा से वक्ष अपनी सम्पूर्ण मांसल मृदुता और माधुर्य में टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है।"

४. "सूँ....सूँ,...करती तलवार की विकलता पृथ्वी की ठण्डी और निबिड़ गन्ध में उत्तेजित होती गयी....शून्य में कहीं भी घाव नहीं हो सका है—मात्र यह निर्जीव खम्भे के पत्थरों का अवरोध टकरा जाता है.... ठन्न....ठन्न ?"

लेखक की चित्रण-कुशलता इन उदाहरणों में देखिए जहाँ एक ही क्रिया—'अवलोकन'—की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। और हर चित्रण अपनी जगह सार्थक और सुन्दर है—

१. परिचयहीन भटकी चितवन से वह वसन्त को देख उठी।
२. दोनों ने एक-दूसरे को देखकर एक वेदना-भरी मुसकराहट बदली।
३. अश्रु-निविड़ आँखों से, एक विवश पशु की तरह, पुतलियों में तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसन्त उस अंजना की ओर ताक रही है।
४. एक साध-भरी वेदना की उत्सुक और विधुर दृष्टि से पवनंजय उस ओर देखते रह गये!

नीचे लिखे चित्रों का चमत्कार देखिए। एक-एक वाक्य में कल्पना का और भावों का सागर उँड़ेल दिया है—

१. समर्पण की दीपशिखा-सी वह अपने आपमें ही प्रज्वलित और तल्लीन थी।
२. चम्पक-गौर भुजदण्डों पर कमल-सी हथेलियों में कर्पूर की आरतियाँ झूल रही हैं।
३. कपोल-पाली में फैली हुई स्मित-रेखा, उन आँखों के गहन कजरारे तटों में जाने कितने रहस्यों से भरकर लीन हो गयी।
४. अंजना की समस्त देह पिघलकर मानो उत्सर्ग के पद्म पर एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है।
५. भाले के फलक-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमार की छाती में चमक उठा।

'मुक्तिदूत' के कथानक का विस्तार, मानो अनन्त आकाश में है, इससे पात्रों को अधिक से अधिक फैलने का अवसर मिला है। मानुषोत्तर पर्वत, लवण समुद्र, अनन्त द्वीप-समूह, विजयार्ध की गिरिमाला आदि के कल्पक सौन्दर्य से कथा में बड़ी भव्यता आ गयी है। पुस्तक की भाषा इसी भूमिका और वातावरण के अनुरूप सहज संस्कृत प्रधान है। पर, लिखते समय मन, प्राण और इन्द्रियों की एकाग्रता से भाव-गुम्फन के लिए रूप, रस, वर्ण, गन्ध, और ध्वनि के व्यंजक जो

शब्द अनायास लेखनी पर आ जाते हैं—उनके विषय में हिन्दी-संस्कृत का भेद किया नहीं जा सकता। प्रत्येक शब्द की एक विशेष अनुभूति, चित्र, वर्ण और व्यंजना लेखक के मन में व्याप्त है। विशेष भाव के तदनुकूल चित्रण के लिए शब्द-विशेष सहज ही आ जाता है—और कभी-कभी कोश (Vocabulary) का भाषा-अभेद अनिवार्य हो जाता है। 'मुक्तिदूत' में भी ऐसा ही हुआ है। प्रवाह में आये हुए अनेक उर्दू शब्दों को जान-बूझकर निकाला नहीं गया है, यथा, 'परेशान', 'नजर', 'जलूस', 'दीवानखाना', 'कशमकश', 'परवरिश', 'सरंजाम', 'दफ़ना', आदि। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर लक्षणा या व्यंजना की सार्थकता में स्वयंसिद्ध है। अँगरेजी का 'रेलिंग', शब्द लेखक ने जान-बूझकर अपनी व्यक्तिगत रुचि की रक्षा के लिए लिया है क्योंकि लेखक 'इस शब्द में लक्षित पदार्थ का एक अद्‌भुत चित्रण-सौन्दर्य' पाता है। 'अपने बावजूद' और 'जो भी' ('यद्यपि' के लिए) का लेखक ने बार-बार प्रयोग किया है। ये उनकी विशिष्ट शैली के अंग हैं।

'मुक्तिदूत' अविभाज्य मानवता को जिस धर्म, प्रेम और मुक्ति का सन्देश देता है, वह हृदय की अनुभूतियों का प्रतिफल है और इसीलिए उसका प्रतिपादन बहुत ही सीधे और सरल ढंग से हुआ है। लेखक ने बहुत गहरे डूबकर इन आबदार मोतियों का पता लगाया है। दरिया आपके सामने है, अब आप जानें!

"गौहर से नहीं दरिया खाली, फूलों से नहीं गुलशन खाली,
अफ़सोस है तुझ पर दस्ते-तलब, जो अब भी रहे दामन खाली।"

डालमियानगर
१२ मई, १९४७

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक

प्रस्थापना

●

आज से सत्ताईस बरस पहले, एक अट्ठाईस बरस के युवक को 'मुक्तिदूत' लिखते देख रहा हूँ। देख रहा हूँ कि महज़ टेबल पर बैठकर उसने यह कृति नहीं लिखी। अंजना और पवनंजय के मौलिक वियोग को सृजने के लिए, वह कई दिन भीतर की राह कैलास और मानसरोवर की हिमावृत वीरानियों में भटका। फिर उनके परिपूर्ण मिलन को साक्षात् करने के लिए, वह कई-कई रातों जागकर अपने एकाकी बिस्तरे में छटपटाता रहा। बाहर की दुनिया में, देह-प्राण-मन के स्तरों पर, उस मिलन की सार्थकता उसे नहीं दीखी। सो चेतना के इन स्थूल प्रान्तरों को भेदने की कोशिश में, वह बाहर से सर्वथा विमुख होकर, अपनी आन्तरिक विरह-व्यथाओं में रात-दिन तपता रहा। अंजना के वनवास को चित्रित करने के लिए वह हफ़्तों कई बियाबानों में भटका। उसे एक ऐसे समग्र, विराट् और तात्त्विक पर्वतारण्य की खोज थी, जहाँ वह अंजना के क्षुद्र सामाजिक नैतिकता से घटित निर्वासन को, एक आत्मिक अतिक्रान्ति, निर्गति और मुक्ति के रूप में परिणत पा सके। उसकी यह तपोवेदना कृतकाम हुई। अंजना और पवनंजय के परिपूर्ण मिलन की रात्रि उसे सांगोपांग एक स्वप्न में उपलब्ध हो गयी। और अपनी भटकन में एक दिन वह अंजना की आन्तरिक मुक्ति के तात्त्विक तपोवन को भी इसी पृथ्वी पर पा गया।

'मुक्तिदूत' का वह युवा लेखक, तब अपने जीवन में भी चौतरफ़ा अभावों की गहरी खन्दकों से घिरा था। स्वजन-बिछोह के घाव से उसका हृदय टीस रहा था। उसकी संवेदनाकुल आत्मा की, परम मिलन की अन्तहीन पुकार अनुत्तरित थी। आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक सभी पहलुओं में वह नितान्त सर्वहारा था। मानवीय अहं-स्वार्थ का नग्न रूप वह देख चुका था। मानव-सम्बन्धों की सीमा और निष्फलता को उसने पहचान लिया था। एक अथाह

अँधेरी खन्दक़ के किनारे वह अकेला खड़ा था।

उधर दूसरा महायुद्ध मनुष्य की जड़ें हिला रहा था। उसकी सर्वभक्षी लपटों की रोशनी में, उसने सतही आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक क्रान्तियों और समायोजनों द्वारा, सुखी और शान्तिपूर्ण विश्व-रचना के प्रयत्नों की चरम निष्फलता को बूझ लिया था। अपनी दूरंदेश दृष्टि से उसने, बाहर से हताश पश्चिमी लेखकों की उत्तरोत्तर अन्तर्मुख हो रही सृजन-यात्रा का स्पष्ट आभास पा लिया था। सो अनायास उसने अपने आपको भी भीतर की ओर मुड़ते पाया।

यूरप के अग्रणी लेखक जब मानव-मंगल की खोज में रूस की तीर्थयात्रा से निराश लौट चुके थे, तब चालीसी के उन बरसों में भारत के लेखक और खासकर हिन्दी के कवि, एक सिरे से अपने काव्य में लाल झण्डे का जयगान कर रहे थे। 'मुक्तिदूत' का युवा लेखक, भारतीय लेखक के इस पिछड़ेपन और भेड़िया-धँसान को देखकर हैरान था। वह प्रवाह में न बह सका। उसने लाल झण्डे की कविता लिखने से इनकार कर दिया। उसे स्पष्ट प्रतीति हुई कि वैयक्तिक अहं-स्वार्थ और राग-द्वेष से उत्पन्न क्रिया-प्रतिक्रिया के दुश्चक्र को अपनी चेतना में कहीं तोड़े बिना, नया और सही रास्ता नहीं खुल सकता। उसे साफ़ दीखा कि इसके लिए उसे साहसपूर्वक पहल करनी होगी। उसे अनर्गल बहाव से ऊपर उठकर उसको प्रतिरोध देना होगा। भीतर डुबकी मारकर उसके मूल में घुसकर, धारा के इस दुश्चक्र को तोड़ना होगा। उसकी टोटल निष्फलता का तट इसके लिए अनुकूल सिद्ध हुआ।

वहाँ से उसे साफ़ दीखा कि समस्या महज़ तात्कालिक नहीं, प्रासंगिक नहीं। वह निरी वस्तुगत नहीं, बल्कि आत्मगत है, चेतनागत है। चैतन्य व्यक्ति को कहीं, इस जड़त्व की कुण्ठा से ऊपर उठकर, अपने स्वायत्त स्वरूप को पहचानना होगा। उस पहचान की रोशनी में पहले अपने को ठीक करना होगा, आत्मस्थ और आत्म-स्वामी होना पड़ेगा। सार्वभौमिक हिंसा के उस जंगल में, गान्धी की अकेली पड़ गयी आवाज़ में, उसे रास्ता दीखा। उसने भी अकेले पड़ जाने का खतरा उठा लिया। वह रास्ते की खोज में भीतर चला गया। वह अपने ही द्वारा प्रज्वलित हिंसा की लपटों में जल रही बाहरी दुनिया से पीठ फेरकर, लाल झण्डे की नारेबाज़ी से बरतरफ़ होकर, 'मुक्तिदूत' रचने को बैठ गया। वह

शाश्वत संवादिता (Harmony) के अन्तर्जगत् की खोज में चला गया। यह सन् ४४-४५ की बात है।

कॉमरेड मुक्तिबोध ने कहा : 'यह आत्मरति है, वीरेन, यह वास्तविकता से पलायन है। यह निष्क्रिय आत्मविलास है। यह रोमानी, वायवीय ख़ामख़याली है। यह थोथी आदर्शवादिता है। यह युग और इतिहास से मुँह मोड़ना है। यह आउट-मोडेड है।' वीरेन मुसकराकर चुप हो रहा। जिस पश्चिम का अन्धानुकरण ये सब कर रहे थे, उस पश्चिम में ही आरम्भ हो चुके अन्तर्मुखी सृजना के पुनरुत्थान को वीरेन पहचान रहा था। मुक्तिबोध को तब उसने यह आगाही दी थी : 'अगला साहित्य अन्तर्मुखी होगा, अस्तित्व-मूलक होगा, अन्तश्चेतनिक होगा, कॉमरेड मुक्तिबोध!' मुक्तिबोध ने वीरेन का मज़ाक़ उड़ा दिया। वीरेन ख़ामोश रहा : अपना काम वह चुपचाप करता चला गया।....

जो मैंने कहा था, वह सच हुआ। पश्चिम का सर्जक एक सिरे से अन्तर्मुख, अन्तश्चेतना का मुतलाशी होता चला गया। बाहर की सारी व्यवस्थाओं के प्रति, स्थापित रूढ़ आदर्शों के प्रति उसका भयंकर विद्रोह, व्यंग, इनकार : और एकान्त आत्म-लक्षिता (Subjectivity) की ओर उसका बेरोक अभियान आज की तमाम सर्जन-विधाओं में साफ़ उजागर है। आज पश्चिम का लेखक, सभ्यता-संस्कृति के सारे जड़ आवरणों को छिन्न-भिन्न कर, सारी लोक-लीकों और मर्यादाओं को तोड़कर, तर्कातीत (Irrational), आदिम, नग्न, शुद्ध भीतरी मनुष्य की खोज में है। बिना किसी पारिभाषिक 'लेबल' के, यही आज पश्चिम के अत्याधुनिक सर्जन की, एक प्रयोगशील नवआध्यात्मिक रुझान है।

●

मैंने तब आन्तरिक नये मनुष्य, नयी सत्ता (New Being) की खोज के लिए, पौराणिक सृजन-माध्यम चुना था। क्योंकि समस्या मेरे मन महज़ सामयिक और प्रासंगिक नहीं थी, बल्कि सार्वकालिक, चेतनागत और प्रज्ञागत थी। सार्वकालिक मनुष्य की रचना मिथकीय पात्र में ही सम्भव है। क्योंकि वह किसी वास्तविक देश या काल-विशेष से मर्यादित नहीं हो सकता है। इसी से ऐसी तलाश के लिए प्रतीकात्मक पात्र-रचना ही अधिक उपयुक्त हो सकती है।

प्रतीकात्मक व्यक्तित्वों के सृजन के लिए मिथक ही सबसे शक्तिशाली और प्रभावक साधन सिद्ध हो सकते हैं। मैंने अपनी अन्तःप्रज्ञा से साहित्यिक सर्जन-शिल्प के इस सर्वाधिक सक्षम माध्यम और रूप-तन्त्र (Form) की अमोघता को गुन लिया था। सो मैंने तात्कालिक तमाम बाहरी वर्जनाओं और प्रचलित मान्यताओं को नज़रन्दाज़ कर दिया। और हिम्मत के साथ अपने स्वायत्त 'फ़ॉर्म' में ही सृजन-प्रवृत्त हो गया।

यह एक दयनीय व्यंग है कि अन्तर्मुखता और आध्यात्मिकता के सर्वोपरि केन्द्र भारत का लेखक, आज पौराणिक माध्यम की इस शक्ति से अनभिज्ञ हो गया है। हिन्दी में आज तथाकथित अत्याधुनिकता के दावेदार, अधिकांश कृतिकार और आलोचक, प्रासंगिकता के मोह से इतने अधिक पीड़ित हैं कि पौराणिक कृतित्व को वे आज के सन्दर्भ में आउट-मोडेड और निरर्थक क़रार दे बैठे हैं। जिस पश्चिम के अन्धानुकरण में, वे प्रासंगिकता का ढोल पीटते हैं, उस पश्चिम के पूर्वगामी और समकालीन लेखकों ने समान रूप से, सदा पौराणिक माध्यम की अचूक सामर्थ्य और शाश्वत गुणवत्ता तथा मूलवत्ता को पहचाना है, और मिथकीय प्रतीक-चरित्रों की रचना कर, साहित्य के अमर शिखर उठाये हैं। होमर, वर्जिल, दान्ते, मिल्टन-जैसे प्राचीनों और गोइथे, शिलर आदि रोमानियों को छोड़ भी दें, तब भी हमारे वर्तमान युग में ही टॉमस मान, हेर्मान हेस, नीको कज़ांकाकिस, जेम्स् जॉयस, वर्जीनिया वुल्फ़, एज़रा पौण्ड, टी. एस. ईलियट, रिल्के और यूजीन आयोनेस्को तक ने मिथक, दन्तकथा, फन्तासी और प्रतीक-पात्रों के माध्यमों को सर्वोपरि शक्तिमान् सृजन-स्वरूप स्वीकारा है, और उस तरह के रूप-तन्त्रों में उत्कृष्ट रचनाएँ प्रदान की हैं। यह एक आश्चर्यजनक हक़ीक़त है कि चिरकाल के अन्तर्द्रष्टा भारत के आज के लेखकों से, आधुनिक पाश्चात्य लेखक में कहीं बहुत अधिक गहरी अवगाहन-क्षमता (Probing), सूक्ष्म संवेदनशीलता, और अन्तश्चेतना के गहिरतर, विशाल और अमूर्त चेतना-स्तरों का अन्वेषण करने की क्षमता पायी जाती है। क्या आधुनिक लेखन के पिछले तीस बरसों के दौर में हम एक भी मलार्मे, बॉदलेयर, रिम्बो, हेनरी प्रस्त, डी. एच. लॉरेंस, जॉयस या वर्जीनिया वुल्फ़-जैसा मौलिक अन्तर्दर्शी सर्जक पैदा कर सके हैं? उनके 'फ़ॉर्म' की नक़ल हमने भले ही की हो, पर उनके हार्द से

हम अछूते ही रह गये।

लगता है कि पिछले एक हज़ार वर्ष की ग़ुलामी से भारतीय बौद्धिकता इतनी परमुखापेक्षी, अन्धी, सतही, स्थूल और अमौलिक हो गयी है कि अपनी स्वतन्त्र चेतना से, ज्ञान और सृजना के क्षेत्रों में कोई नया उपोद्घात करने की न तो उसके पास कोई मौलिक अन्तर्दृष्टि रह गयी है और न वैसी साहसिकता। आदिकाल के पारद्रष्टा, अध्यात्मचेता भारत के आधुनिक लेखक की यह निरी काल-धर्मिता और रोटीजीवी प्रासंगिकता सचमुच अत्यन्त व्यंगास्पद और दयनीय है।

●

अत्याधुनिक भारतीय लेखक, इस दुराग्रह से अभिभूत और अन्धा है कि यथार्थ केवल जीवन की भौतिक वास्तविक समस्याएँ और संघर्ष हैं। यथार्थ केवल सरकार, राजनीति, शोषक और ग़लत आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था है। यथार्थ केवल उदर और शिश्न की भूख-प्यासें हैं। इसके अतिरिक्त देह-प्राण-इन्द्रिय-मन के निरे स्थूल अवबोधन से परे, जो एक अन्तश्चेतनिक अन्तर्दृष्टि का कल्पना-स्वप्न-मूलक मौलिक अवबोधन है, जो स्व और पर का एक आत्मानुभूतिक साक्षात्कार है, वह महज़ खामख्याली है, अयथार्थ है, मरीचिका है, मिथ्या-विलास है। हिन्दी में ऐसे चोटी के आधुनिक लेखकों की कमी नहीं, जो पौराणिक रचना को सारहीन, निरर्थक कल्पना-विहार मानते हैं। वे नहीं जानते कि जिस प्रासंगिक यथार्थ-भोग में वे इतने व्यस्त और उलझे हैं, उसके दुश्चक्री कर्दम को चिरकाल साहित्य में उलीचते रहकर, उससे निस्तार नहीं पाया जा सकेगा। जो लेखक प्रासंगिकता से ऊपर उठकर, प्रज्ञा के आत्मस्थ धरातल पर आसीन होकर, अपनी अन्तर्दृष्टि के प्रकाश द्वारा पहल करके, प्रासंगिकता के इस दुश्चक्र को भेदेगा, वही प्रासंगिक समस्याओं को सही माने में सुलझाने में समर्थ हो सकेगा। ऐसा ही सर्जक, मनुष्य को मौलिक संवादिता और संगतियों के सुख-शान्तिपूर्ण चेतना-स्तर पर अतिक्रान्त और उत्क्रान्त कर सकेगा।

आज से सत्ताईस वर्ष पहले 'मुक्तिदूत' के चिर-अवहेलित और अनपहचाने रचनाकार ने, इस सत्य को बूझा और पहचाना था। साहित्य में आज तक अस्वीकृत रहने का खतरा उठाकर भी, उसने अपनी रचना के लिए द्रष्टा

का यह धरातल चुना है। आज भी वह उसी धरातल पर एकाग्र और अबाध चित्त से रचना कर रहा है। फ़िलहाल वह फिर से पौराणिक कहानियों की एक सिरीज लिख रहा है, जिसमें शलाका पुरुषों के माध्यम से वह सम्भाव्य संयुक्त मनुष्य (Integrated Man) की एक जीवन-परक 'इमेज' रच रहा है : अध्यात्म को वह ऐन्द्रिक-मानसिक चेतना के स्तर पर उतार रहा है। वह भगवान् महावीर पर एक उपन्यास लिखने में संलग्न है। और अपने इस नये सृजन-साहस (Enterprize) द्वारा वह, प्रासंगिकता और ऐतिहासिकता के क्रिया-प्रतिक्रिया-जनित दुश्चक्र को भेदकर, नयी मानवसत्ता (New Being) के अनावरण, आविर्भाव और आविष्कार के लिए, एक भगीरथ आत्म-मन्थन कर रहा है। निरे घिसे-पिटे वर्तमान और प्रचलन को वह आधुनिकता मानने से इनकार करता है। उसके लेखे आत्म (Self) और वस्तु के मौलिक स्वरूप का यथार्थ ज्ञान पाकर, अनुक्षण उसकी संगति में जीना ही सच्ची आधुनिकता है। इसी स्वरूप-साक्षात्कार द्वारा पहल की जा सकती है, नया रास्ता खोला जा सकता है, नये मनुष्य को रचा जा सकता है।

देश और काल से इनकार सम्भव नहीं। जीवन-जगत् उन्हीं में व्यक्त और विकासमान है। पर देश-काल के अधीन होकर नहीं, उनकी सीमा से ग्रस्त होकर नहीं, बल्कि उन्हें अपने अधीन करके, अपने उत्सीय आत्म-चैतन्य की पहल के साथ ही, हम अपना अभीष्ट जीवन देश-काल में रच सकते हैं। इसी से आत्मगत पहल (Initiative) से अधिक महत्त्वपूर्ण मेरे लिए कुछ भी नहीं। वर्तमान के पिष्टपेषण और उसके प्रति अवश समर्पण से वह पहल सम्भव नहीं। वर्तमान से उत्तीर्ण होकर, जो नयी चेतना उत्सित कर रहा है, वही अत्याधुनिक और आगामी कल का लेखक है। और वर्तमान में अकेले पड़ जाना, और अनपहचाने रह जाना, ऐसे लेखक की अनिवार्य नियति होती है। 'मुक्तिदूत' के लेखक ने स्वेच्छतया वह रास्ता चुना है : वह ख़तरा उठाया है।

गत सत्ताईस बरसों में यह उपन्यास, एक विचित्र संयोग से गुजरा। हिन्दी के लेखक, आलोचक और इतिहासकार ने इसे उल्लेख योग्य तक नहीं समझा।

अपने कथ्य में यह एक आध्यात्मिक और दार्शनिक मिजाज की कृति है। रूप-तन्त्र में यह पर्याप्त रूप से प्रयोगशील है। हिन्दी उपन्यास में जब प्रयोगशीलता लगभग अनजानी थी, तब 'मुक्तिदूत' के लेखक ने काफ़ी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक, चेतना-प्रवाह के चित्रक और प्रतीकात्मक व्यंजना के उद्योतक प्रयोग इस कृति में किये थे। इतनी सूक्ष्मता और चेतना-स्तरों की गहन अन्वेषणशीलता, इससे पूर्व हिन्दी उपन्यास में विरल ही देखने में आती है। मतलब कुल मिलाकर यह उपन्यास, एक खासी दुरूह रचना है। फिर भी अजीब बात है कि केवल हिन्दी प्रदेशों में ही नहीं, बल्कि पंजाब से लगाकर सुदूर पूर्व में असम तक और दक्षिण में तमिलनाडू, आन्ध्र और केरल तक के हिन्दी-प्रेमी पाठकों में यह उपन्यास बेहद लोक-प्रिय हुआ। लेखक के पास ऐसे अनेक पाठकों से आये पत्र, इसके प्रमाण हैं।

इतना ही नहीं, कई पाठकों की जीवन-धारा इस कृति को पढ़कर बदल गयी। भावुक इसे बारम्बार पढ़ते नहीं अघाते थे, और ऐसे कई लोग लेखक के देखने में आये, जिन्हें इस किताब के कई-कई पैरेग्राफ़ और वार्तालाप ज़बानी याद हो गये थे। किसी भी कृति की इससे बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है।

और अब १९७२ के अक्तूबर में एक चामत्कारिक घटना घटी। श्री महावीर जी में दक्षिण कर्नाटक के एक प्रतापी, विद्वान् और सारस्वत दिगम्बर जैन श्रमण मुनिश्री विद्यानन्द स्वामी से लेखक की अचानक भेंट हुई। मुनिश्री बोले : "मैं गत बीस बरसों से 'मुक्तिदूत' के लेखक को खोज रहा हूँ। पन्द्रह बरस मैं इस उपन्यास को नित्य सिरहाने रखकर सोता था। इसी को बारम्बार पढ़कर मैंने हिन्दी सीखी। मैं अब तुम्हें छोड़ूँगा नहीं। मुझे तुम्हारी क़लम चाहिए : आगामी महानिर्वाणोत्सव के उपलक्ष्य में तुम्हें भगवान् महावीर पर एक उपन्यास लिखना होगा।" आदि। जन्मजात जैन होकर भी जैन मुनियों से मेरा कवि-मानस कभी प्रभावित और आकृष्ट न हो सका। मगर तीर्थंकर महावीर की साक्षात् प्रतिमूर्ति जैसे इस दिगम्बर नरसिंह के चरणों में मैं बरबस नतमाथ हो गया। मुनिश्री कोरे शुष्क तत्त्वज्ञानी नहीं, वे ज्ञान, तप, रस, भाव, सौन्दर्य, प्रेम, कला और साहित्य की एक जीवन्त समन्वय-मूर्ति हैं। वे साम्प्रदायिक साधु नहीं, समग्र

भारत की अनादिकालीन प्रज्ञा-परम्परा और सामासिक संस्कृति के एक अनन्य प्रतिनिधि हैं। मेरे हर ऊहापोह को भेदकर, उनका शब्द मेरे लिए अनिवार्य आदेश हो रहा। और फलत: आज जब मैं भगवान् महावीर पर उपन्यास लिखने में जुटा हूँ, तो मेरी सरस्वती ने ज्ञान, भाव, सौन्दर्य और रस के अपूर्व प्रज्ञा-स्रोत मेरे भीतर मुक्त कर दिये हैं। इस अनन्त वैभव को समेटना कठिन हो गया है।

और फिर १९७३ के गत जनवरी महीने में, एकाएक मुनिश्री की प्रेरणा से, रचना के सत्ताईस वर्ष बाद, कोटा के 'विश्व-धर्म ट्रस्ट' ने इस कृति को २५०१) के पुरस्कार से सम्मानित किया। उस दिन एक अद्भुत अनुभूति हुई: इस रचना के कर्तृत्व से मैंने अपने आपको मुक्त महसूस किया। मुझे प्रत्यक्ष प्रतीति हुई कि इसे मैंने नहीं रचा, तीर्थंकर महावीर की कैवल्य-ज्योति में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही 'मुक्तिदूत' लिखा जा चुका था। इससे अधिक कृतार्थता किसी कृति और कृतिकार की और क्या हो सकती है।

मेरी इस कर्तृत्व-मुक्ति का सारा श्रेय भगवद्पाद गुरुदेव श्री विद्यानन्द स्वामी को है। और मेरी इस धन्यता के संवाहक हैं, कोटा के 'विश्व-धर्म ट्रस्ट' के स्तम्भ और साहित्य-प्रेमी बन्धु श्री त्रिलोकचन्द्र कोठारी, श्री गनेशीलाल रानीवाला तथा श्री मदनलाल पाटनी। इन सबके प्रति मेरी कृतज्ञता, शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। मुनिश्री के आशीषतले उन्होंने, ६ जनवरी १९७३को रात 'मुक्तिदूत' को नवजन्म दिया।

और उसी के फल-स्वरूप आज 'मुक्तिदूत' का यह तीसरा संस्करण आपके हाथ में है।

श्री महावीर जयन्ती :
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी :
१५ अप्रैल, १९७३
गोविन्द निवास: सरोजिनी रोड;
विले पारले (पश्चिम) ; बम्बई-५६

वीरेन्द्रकुमार जैन

मुक्तिदूत

□

[१]

वनों में वासन्ती खिली है। चारों ओर कुसुमोत्सव है। पुष्पों के झरते पराग से दिशाएँ पीली हो चली हैं। दक्षिण पवन देश-देश के फूलों का गन्ध उड़ा लाता है; जाने कितनी मर्म-कथाओं से मन भर आता है। आम्र-घटाओं में कोयल ने प्राण-प्राण की अन्तर्पीड़ा को जगा दिया। चारों ओर स्निग्ध, नवीन हरीतिमा का प्रसार है। दिशाओं की अपार नीलिमा आमन्त्रण से भर उठी है।

नवयुवा कुमार पवनंजय का जी इन दिनों घर में नहीं है। जब-तब महल की छत पर आ खड़े होते हैं, और सचमुच इस दक्षिण पवन पर चढ़कर उस नीली क्षितिज-रेख को लांघ जाना चाहते हैं।

तभी फाल्गुन का आष्टाह्निक पर्व आ गया। देव और गन्धर्व अपने विमानों पर चढ़कर, अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दना करने नन्दीश्वर-द्वीप की ओर उड़ रहे हैं। भरतक्षेत्र के राजा और विद्याधर, भगवान् ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि कैलास-पर्वत पर, भरत चक्रवर्ती के बनवाये स्वर्ण-मन्दिरों की वन्दना को जा रहे हैं।

कुमार पवनंजय ने अपने पिता, आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद से कैलास जाने की आज्ञा चाही। पिता प्रसन्न हुए और सपरिवार स्वयं भी चलने का प्रस्ताव किया। कुमार के स्वच्छन्द भ्रमण के सपने को ठेस लगी, पर क्या कहकर इनकार करते? सिर झुकाकर चुप हो रहे। रानी केतुमती, कुमार और समस्त राजपरिवार सहित महाराज कैलास की वन्दना को गये। पूजा-वन्दन और धर्मोत्सव में आष्टाह्निक पर्व सानन्द बीता। लौटते हुए, राजपरिवार ने मानसरोवर के तट पर कुछ दिन वसन्त-विहार करने का निश्चय किया।

एक दिन सवेरे उठकर क्या देखते हैं कि बहुत दूर मानसरोवर के कछार में एक फेनों-सा उजला महल खड़ा है। अनुमान से जाना कि विद्यानिर्मित महल है; जान पड़ता है कोई विद्याधर राजा वहाँ आकर ठहरे हैं।

कैलास की परिक्रमा करके लौटे हैं, पर कुमार पवनंजय का मन विराम नहीं पा रहा है। यह लौटना और यह विश्राम क्यों है ? प्राण की जिज्ञासा और उत्कण्ठा का अन्त नहीं है। अन्तहीन यात्रा पर चल पड़ने को उसका युवा मन आतुर है। कैलास की उत्तुंग चोटियों पर स्वर्ण-मन्दिरों के वे शिखर दिखाई पड़ रहे हैं। अस्तंगत सूर्य की किरणों में वह प्रभा मानो बुझ रही है। ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि को पाकर कुमार को सन्तोष नहीं है। वह निर्वाण कहाँ है ? कितनी दूर ? वह शिखरों की प्रभा जो अभी तिरोहित हो जाने को है; उसके ऊपर होकर फिर यात्रा कैसे होगी ?

कि अचानक कुमार की दृष्टि दूर के उस फेनोज्ज्वल महल पर पड़ी। उसके वातायन की मेहराब में होकर वह अपार नील जल-राशि लहराती दिखाई पड़ी। कुमार हर्षाकुल होकर चल पड़े। इधर लहरों पर खेलना ही पवनंजय का प्रिय उद्योग हो गया है। बिना किसी से कहे, संगी-सेवकविहीन अकेले ही तट पर जा पहुँचे। नाव पर आरूढ़ होकर तट की साँकल खोल दी—और खूब तेज़ी से डाँड़ चलाने लगे। तट से बहुत दूर, झील के बीचोंबीच, ठीक उस महल के सामने ले जाकर नाव को लहरों के अधीन छोड़ दिया। हवा के झकोरे प्रबल से प्रबलतर हो रहे हैं। उछालें खाती हुई तरंगें नाव पर आ-आकर पड़ रही हैं। कुमार का उत्तरीय हवा के झोंकों में यकसा उड़ रहा है। डाँड़ फेंककर आप, पैर पर पैर डाले, हाथ बाँधकर बैठे हैं। लहरों के गर्जन और आलोडन पर मानो आरोहण किया चाहते हैं। विविध भंगिमा में आती हुई तरंगों को भुजाओं में समेट लेना चाहते हैं, पर जैसे उनपर उनका वश नहीं है। और इसलिए वे बालक की ज़िद से तुल पड़े हैं कि हार नहीं मानेंगे। नाव का भान उन्हें नहीं है। वे तो बस लहरों के लीला-क्रोड़ में खो गये हैं। उड़ते हुए तरंग-सीकरों से साँझ की आख़िरी गुलाबी प्रभा झर रही है।

अब तो कुमार का उत्तरीय भी नहीं दिखाई पड़ता, नाव भी नहीं दिखाई पड़ती; केवल वे आकाश की ओर उठी हुई भुजाएँ हैं, जिनमें अनन्त लहरें खेल रही हैं।

और एकाएक एक अति करुण कोमल 'आह' ने स्तब्ध दिशाओं को गुँजा दिया। कुमार की दृष्टि ऊपर उठी। उस महल की सर्वोच्च अटारी पर एक

नीलाम्बर उड़ता दिखाई दिया—और वेग से हिलते हुए दो आकुल हाथ अपनी ओर बुला रहे थे। सन्ध्या की उस शेष गुलाबी आभा में कोई मुखड़ा और उस-पर उड़ती हुई लटें....

नाव पर से छलांग मारकर कुमार पानी में कूद पड़े। लहरों की गति के विरुद्ध जूझते हुए पवनंजय ने डेरे की राह पकड़ी और लौटकर नहीं देखा !

पहर रात जाने तक भी कुमार आज सो नहीं सके हैं। इधर प्रायः ऐसा ही होता है। तब वे भ्रमण को निकल पड़ते हैं। आज भी ऐसे ही शय्या त्याग कर चल पड़े। महाराज के डेरे के पास से गुज़र रहे थे कि कुछ बातचीत का रव सुनाई पड़ा। पास जाकर सुना, शायद पिता ही कह रहे थे—

"....उन सामने के महलों में विद्याधरराज महेन्द्र ठहरे हैं। दन्तिपर्वत की तलहटी में स्थित महेन्द्रपुर नगर के वे स्वामी हैं। रानी हृदयवेगा, अरिन्दम आदि सौ कुमार और कुमारी अंजना साथ हैं। अंजना अब पूर्णयौवना हो चली है। महाराज महेन्द्र उसके विवाह के लिए चिन्तित हैं। जब से उन्हें पता लगा है कि कुमार पवनंजय अभी क्वाँरे हैं तभी से वे बहुत अनुरोध आग्रह कर रहे हैं। वे तो अपनी ओर से निश्चय ही कर चुके हैं। कहते हैं कि विवाह मानसरोवर के तट पर ही होगा और तभी यहाँ से दोनों राजकुल चल सकेंगे।...."

और बीच-बीच में माँ हर्षित होकर स्वीकृति दे रही हैं।

लक्ष्यहीन कुमार झील के तट पर आतुर पैरों से भटक रहे हैं। लहरों के गम्भीर संगीत में अन्तर की वह आकुल पुकार अशेष हो उठी है—और चारों ओर सन्ध्या की उस 'आह' को खोज रही है।

[२]

"देखो न प्रहस्त, कैलास के ये वैडूर्यमणिप्रभ धवलकूट, ये स्वर्ण-मन्दिरों की ध्वजाएँ, मानसरोवर की यह रत्नाकर-सी अपार जल-राशि, हंस-हंसिनियों के ये मुक्त विहार और वे दूर-दूर तक चली गयीं श्वेतांजन पर्वत-श्रेणियाँ, क्या इन सबसे भी अधिक सुन्दर है वह विद्याधरी अंजना ?"

कुमार के हृदय का कोई भी रहस्य, प्रहस्त से छुपा नहीं था। बालपन से ही वह उनका अभिन्न सहचर था। मार्मिक मुसकराहट के साथ प्रहस्त ने उत्तर दिया—

"और कौन जाने, कुमार पवनंजय उसी रूप के झरोखे पर चढ़कर ही न इस अपार सौन्दर्य के साथ एकतान हो रहे हों ?"

"विनोद मान रहे हो प्रहस्त ! उस रूप को देखा ही कब है, जो तुम मुझे उसका बन्दी बनाया चाहते हो। हाँ, उस सन्ध्या में वह 'आह' जो दिगन्त में गूँज उठी थी—उसका पता ज़रूर पाना चाहता हूँ ! पर डर यही है कि अंजना को पाकर कहीं उसे न खो दूँ....।"

"उस रूप को पा जाओगे पवन, तो ये सारी भ्रान्तियाँ मिट जायेंगी !"

"भूलते हो प्रहस्त, पवनंजय रुकना नहीं जानता ! सौन्दर्य का प्रवाह देश और काल की सीमाओं के ऊपर होकर है। और रूप ? वह तो अपने आपमें ही सीमा है—वह बन्धन है, प्रहस्त। कैलास की इन उत्तुंग चूड़ाओं पर जाकर भी मेरा मन विराम नहीं पा सका है। और तुम अंजना के रूप की बात कह रहे हो....?"

"पर उस महल पर का वह उड़ता हुआ नीलाम्बर, वह मृदु मुख, और वह दिगन्तभेदिनी 'आह', वह सब क्या था पवनंजय ?"

"नहीं, वह रूप नहीं था—वह सीमा नहीं थी, प्रहस्त, वह अनन्त सौन्दर्य प्रवाह का आकर्षण था कि मैं विरुद्ध-गामिनी लहरों से जूझता हुआ लौट आया। वही परिचयहीन चिरआकर्षण, कहाँ है उसकी सीमा-रेखा ?"

"मन के इस मान-सम्भ्रम को त्याग दो पवन, और आओ मेरे साथ, उस सीमा का परिचय पाओ, जिस पर खड़े होकर, असीम को पाने की तुम्हारी उत्कण्ठाएँ तीव्र हो उठी हैं।"

साँझ घनी हो गयी है। मानसरोवर के सुदूर जल-क्षितिज पर, चाँद के सुनहले बिम्ब का उदय हो रहा है। उस विशाल जल-विस्तार पर हंस-युगलों का विरल क्रीड़ा-रव रह-रहकर सुनाई पड़ता है। देवदारु-वन और फूल-घाटियों की सुगन्ध लेकर वासन्ती वायु हौले-हौले बह रही है। चिर दिन का सखा प्रहस्त

कुमार के सदा के सरल मन में अनायास आ गयी इस उलझन को समझ रहा था। तीन दिन से कुमार की विकलता को वह देख रहा है। भीतर से पवन जितना ही अधिक तरल, कोमल और चंचल हो पड़ा है, बाहर से वह उतना ही अधिक कठोर, स्थिर और विमुख दिखाई पड़ रहा है। प्रहस्त ने इस उलझन को सुलझाने की युक्ति पहले ही खोज निकाली थी। केवल एक बार अवसर पाकर, वह कुमार के मन की टोह-भर पा लेना चाहता था। आज साँझ वह प्रसंग आ उपस्थित हुआ। प्रहस्त ने सोच लिया कि इस सुयोग का लाभ उठा लेना है। सारा आयोजन वह पहले ही कर चुका था।

बिना किसी वितर्क के मौन-मौन ही कुमार प्रहस्त के अनुगामी हुए। थोड़ी ही देर में यान पर चढ़कर, आकाश-मार्ग से प्रहस्त और पवनंजय विद्याधर-राज के महल की अटारी पर जा उतरे। एक झरोखे में जहाँ माणिक-मुक्ताओं की झालरें लटकी थीं, उसी की ओट में दोनों मित्र जा बैठे।

सामने जो दृष्टि पड़ी तो पवनंजय पता पूछने की बात भूल गये। अन्तर्मुहूर्त मात्र में मानो दूसरे ही लोक में आ गये हैं। सौन्दर्य के किस अज्ञात सरोवर में खिला है यह रूप का कमल! गन्ध, राग, सुषमा की लहरों से वातावरण चंचल है। चारों ओर जैसे सौन्दर्य के भँवर पड़ रहे हैं, दृष्टि ठहर नहीं पाती। सारी जिज्ञासाएँ, सारे प्रश्न, सारी उत्कण्ठाएँ मानो यहाँ आकर निःशेष हो गयी हैं। सम्मोहन के उस लोक में सारी रागिणियाँ, बस उसी एक संगीत में मूर्च्छित हो गयी हैं। कुमार खो गया है कि पा गया है—कौन जाने? पर जो था सो अब वह नहीं है।

सखियों से घिरी अंजना जानु मोड़कर, एक हाथ के बल बैठी है। अनेक पार्वत्य फूलों की वर्ण-वर्ण विचित्र मालाएँ आस-पास बिखरी हैं। उनसे क्रीड़ा करती हुई वे सब सखियाँ परस्पर लीला-विनोद कर रही हैं। अंजना की उस कुन्दोज्ज्वल देह पर, बड़े ही मृदु, हलके रत्नों के विरल आभरण हैं, और गले में नीप कुसुमों की माला। सूक्ष्म दुकूल उस देहयष्टि की तरल सुषमा में लीन हो गया है। सारे वस्त्राभरणों में भी सौन्दर्य का वह पद्म, अनावृत है—अपनी ही शोभा में क्षण-क्षण नव-नवीन।

चंचल हास-परिहास के बाद अभी कुछ ऐसा प्रकरण आ गया है कि अंजना

कुछ गम्भीर हो गयी है।

वसन्तमाला ने बड़े दुलार से अंजना का एक हाथ खींचते हुए कहा—"ओ हो अंजन, नाम आते ही ग़ायब हो रही है। पा जाओगी तब तो शायद दुर्लभ हो जायेगी। पर कितना सुन्दर नाम है—पवनंजय—कुमार पवनंजय! उस दिन मानसरोवर की उन उत्ताल तरंगों पर सन्तरण करता वह कुमार सचमुच पवनंजय था। निर्भय हँसता हुआ जैसे वह मौत से खेल रहा था। उन सुदृढ़, सुडौल भुजाओं के लिए वह लीलामात्र थी। और वे हवा में उड़ती हुई आलुलायित अलकें! बड़े भाग्य हैं तेरे अंजन—जो पवनंजय-सा कुमार पा गयी है तू।"

अंजना चित्र-लिखी-सी, बिलकुल अवश, मुग्ध बैठी रह गयी। वसन्तमाला की बात सुन वह भीतर ही भीतर नम्र-विनम्र हुई जा रही है। आँख के पलक निस्पन्द हैं। पुलकों में मानो शरीर सजल होकर बह चला है। एक हाथ उसका शिथिल, वसन्तमाला के हाथ में है। वसन्तमाला उसकी सबसे प्रियतमा सखी है—कहें कि उसकी आत्मा की सहचरी है। बात करते-करते सुख के आवेग से वसन्त भी जैसे भर आयी, सो विनोद करना भूल गयी।

तभी एक दूसरी सखी मिश्रकेशी ईर्ष्या से मन ही मन जल उठी और होंठ काटकर चोटी हिलाती हुई बोली—

"हेमपुर के युवराज विद्युत्प्रभ के सामने पवनंजय क्या चीज़ है। भरतक्षेत्र के क्षत्रिय-कुमारों में विद्युत्प्रभ अद्वितीय हैं। रूप, तेज-पराक्रम, श्री-शौर्य में दूसरा कौन उनके समकक्ष ठहर सकता है? और फिर हेमपुर के महाराज कनकद्युति का विशाल वैभव, परिकर! आदित्यपुर का राजवैभव उसके सम्मुख तिनके बराबर भी नहीं है। यह जानकर कि विद्युत्प्रभ के संन्यस्त होने का नियोग है, अंजना का विवाह महाराज ने उनके साथ न किया, यह अविचार है। क्षुद्र पवनंजय का आजीवन संग भी व्यर्थ है; और विद्युत्प्रभ-जैसे पुरुषपुंगव का क्षण-भर का संग सम्पूर्ण जीवन की सार्थकता है....।"

अंजना अब भी इतनी विभोर थी कि जैसे इन कटु-कठोर वचनों को उसने सुना ही नहीं। उसकी सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्राण की उसी एक ऊर्जस्वल धारा में लीन हो गयी थीं। विरक्ति की ग्लानि के बजाय अब भी उसके दीप्त मुख-मण्डल

पर वही अमन्द आनन्द की मुसकराहट थी। समर्पण की दीप-शिखा-सी वह अपने आपमें ही प्रज्वलित और तल्लीन थी—बाहर के थपेड़ों से अप्रभावित। उसका अंग-अंग सौरभभार-नम्र पुण्डरीक-सा झुक आया था।

मिश्रकेशी के उस कटु भाषण से सभी सखियाँ इतनी विरक्त और क्षुब्ध हो गयी थीं कि किसी ने भी उस विष को बिखेरना उचित नहीं समझा। तभी एकाएक अंजना को जैसे चेत आया। अनायास वह चंचल हो पड़ी और वसन्त-माला के गले में दोनों हाथ डालकर उसकी गोद में झूलती हुई बोली—"वसन्त—मेरी पगली वसन्त!"

और फिर वह उठ बैठी और सब सखियों की ओर उन्मुख होकर बोली—

"लो चाँद निकल आया—ठहरो मैं बीन लाती हूँ। आज वसन्त गायेगी और तुम सब जनियाँ नाचने के लिए पायल बाँधो।"

हँसती-बलखाती अंजना, चंचल बालिका-सी झपटती हुई अपने कक्ष में बीन लेने चली गयी। उधर सखियों की हँसियों से वातावरण तरल हो उठा। छूम-छनन् घुँघरू बज उठे।

पर मणि-मुक्ता की झालरों की ओट के उस झरोखे में ?....पुरुष के अहं-दुर्ग की बुनियादें हिल उठीं! और फिर पवनंजय तो विजेता का गर्व और चुनौती लेकर आये थे। उनकी भुजाओं में दिग्विजय का आलोडन था। देश और काल के प्रवाह के ऊपर होकर जो मार्ग गया है—उसके वे दावेदार थे। इसी से तो ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि पर आकर भी उनका मन चैन नहीं पा सका है। वे तो उस निर्वाण का पता पाना चाहते हैं। पुरुष के गर्व के उस शिखर पर से, मानवी नारी के मौन समर्पण की कथा वे कैसे समझ पाते ?

और ऐसा विजेता जब नारी के प्रणय-द्वार पर आकर अनजाने ही अपने 'मैं' को हार बैठा, तब उसकी ऐसी अवज्ञा ? मिश्रकेशी ने कुमार पवनंजय के लिए निदारुण अपमान के वचन कहे और अंजना वैसी ही चुप मुसकराती हुई सुनती रही ? उसने उसका कोई प्रतिकार नहीं किया ? और तब एकाएक उसे सूझा नृत्य-गान और वीणा-वादन! विद्युत्प्रभ के प्रताप की बात सुनकर वह सुख से ऐसी चंचल हो उठी ? और पवनंजय उसके सम्मुख इतना तुच्छ ठहर गया कि उसकी निन्दा-स्तुति से जैसे अंजना को कोई सरोकार ही न हो ? गर्व

के सारे स्तरों को भेदकर वह आघात मर्म के अन्तिम 'मैं' पर जा लगा। वह 'मैं' भीतर ही भीतर नग्न होकर ज्वाला-सा दहक उठा।

कुमार ने प्रहस्त को चलने का इंगित किया, और उत्तर के लिए ठहरे बिना ही विमान में जा बैठे। क्रोध से उनका रोम-रोम जल रहा था, पर उस सारी आग को वे एक घूँट उतारकर पी गये। फूट पड़ने को आतुर होंठों को उन्होंने काटकर दबा दिया। आज तक उन्होंने प्रहस्त से कोई बात नहीं छिपायी थी—पर आज ? आज तो उसका विजेता भू-लुण्ठित हो गया था। यह उसके पुरुष की चरम पराजय की मर्म-कथा थी !

प्रहस्त से रहा न गया। उसने वह क्षुब्ध मौन तोड़ा—"देख आये पवन, यह है तुम्हारे उस परिचयहीन चिर आकर्षण की सीमा-रेखा ! आदित्यपुर की भावी राजलक्ष्मी को पहचान लिया तुमने ?"

पवनंजय अलक्ष्य शून्य में दृष्टि गड़ाये हैं। सुनकर भवें कुंचित हो आयीं। छिन भर ठहर कर बोले—

"प्रहस्त, संसार की कोई भी रूप-राशि कुमार पवनंजय को नहीं बाँध सकती। सौन्दर्य की उस अक्षय धारा को मांस की इन क्षायक रेखाओं में नहीं बाँधा जा सकता। और वह दिन दूर नहीं है प्रहस्त, जब नाग-कन्याओं और गन्धर्व-कन्याओं का लावण्य पवनंजय की चरण-धूलि बनने को तरस जायेगा।"

"ठीक कह रहे हो पवन, अंजना इसे अपना सौभाग्य मानेगी ! क्योंकि वह तो चरण-धूलि बनने के पहले आदित्यपुर के भावी महाराज के भाल का तिलक बनने का नियोग लेकर आयी है।"

"नियोगों की शृंखलाएँ तोड़कर चलना पवनंजय का स्वभाव है प्रहस्त; और परम्पराओं से वह बाधित नहीं। अपने भावी का विधाता वह स्वयं है। आदित्यपुर का राजसिंहासन उसके भाग्य का निर्णायक नहीं हो सकता !"

प्रहस्त ग़ौर से चुपचाप पवनंजय की मुद्रा को देख रहा था। सदा का वह हृदयवान् और बालक-सा सरल पवनंजय यह नहीं है।

विमान से उतरकर बिदा होते हुए आदेश के स्वर में पवनंजय ने कहा—

"अपनी सेना के साथ कल सवेरे सूर्योदय के पहले मैं यहाँ से प्रयाण करूँगा, प्रहस्त ! महाराज के डेरे में सूचना भेज दो और सेनापतियों को उचित आज्ञाएँ।

मानसरोवर के तट पर मैं कल का सूर्योदय नहीं देखूँगा !"

कहकर तुरत पवनंजय एक झटके के साथ वहाँ से चल दिये। प्रहस्त को लगा, जैसे निरभ्र आकाश का हृदय विदीर्ण कर एकाएक बिजली कड़क उठी हो। वह सन्नाटे में आ गया। दिग्मूढ़-सा खड़ा वह शून्य ताकता रह गया।

[३]

शेष रात के शीर्ण पंखों पर दिन उतर रहा है। आकाश में तारे कुम्हला गये। दूर पर दो तमसाकार पर्वतों के बीच के गवाक्ष से गुलाबी आभा फूट रही है। मानसरोवर की चंचल लहरावलियों में कोई अदृष्ट बालिका अपने सपनों की जाली बुन रही है। और एक अकेली हंसिनी उस फूटते हुए प्रत्यूष में से पार हो रही है। अंजना अभी-अभी शय्या त्याग कर उठी है। अँगड़ाई भरती हुई वह अपने झरोखे के रेलिंग पर आ खड़ी हुई। एक हाथ से नीलम की मेहराब थामे, खम्भे पर सिर टिकाये वह स्तब्ध देखती ही रह गयी....। वह नीरव हंसिनी उस गुलाबी आलोक-सागर में अकेली ही पार हो रही थी। वह क्यों है आज अकेली ?

कि लो, हिमगिरि की शैलपाटियों, दरियों और उपत्यकाओं को कँपाता हुआ प्रस्थान का तूर्यनाद गूँज उठा। दुन्दुभी का घोष मानसरोवर की लहरों में गर्जन भरता हुआ, दिगन्त के छोरों तक व्याप गया।

अंजना ने सहमकर वक्ष थाम लिया। उत्तर की पर्वत-श्रेणियों से उठ-उठकर धूल के बादल आकाश में छा रहे हैं। डूबती हुई अश्व-टापों की दूरागत ध्वनि रह-रहकर प्रतिध्वनित हो रही है। कि तट के उन डेरों की ओर से घुड़सवारों की एक टुकड़ी हवा पर उछलती हुई घाटियों में कूद गयी।

परेशान-सी वसन्तमाला भागती हुई आयी। चाहकर भी वह अपने को रोक नहीं सकी—बोली—

"अंजन, कुमार पवनंजय प्रस्थान कर गये। अपने सैन्य को साथ लेकर वे अकेले ही चल दिये हैं—"

बीन का तार जैसे टन्न...से अचानक टूट गया, भटकती हुई वह झंकार रोम-

रोम में झनझना उठी है। पता नहीं यह आघात कहाँ से आया। बेबूझ, अपार विस्मय से अंजना की वे अबोध आँखें वसन्त के चेहरे पर बिछ गयीं। अपने बावजूद वह वसन्त से पूछ उठी—

"कारण ?"

"ठीक कारण ज्ञात नहीं हो सका। पर एकाएक मझरात में महाराज प्रह्लाद के पास सूचना पहुँची कि कुमार कल सूर्योदय के पहले अकेले ही प्रस्थान करेंगे; अपनी सेनाओं को उन्होंने कूच की आज्ञाएँ दे दी हैं। उसी समय अनुचर भेजकर महाराज ने कुमार को बुलवाया, पर वे अपने डेरे में नहीं थे। शाम को ही जो वे गये, तो फिर नहीं लौटे। उनके अन्यतम सखा प्रहस्त से केवल इतना ही पता चला है कि पवनंजय के रोष का कारण कुछ गम्भीर और असाधारण है। इस बार वे भी उनके मन की थाह न ले सके हैं—और पूछने का साहस भी वे नहीं कर सके।"

"क्या पिताजी को यह संवाद मिल गया है, वसन्त ?"

"हाँ, अभी जो अश्वारोहियों की टुकड़ी गयी है, उसी में महाराज आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद के साथ कुमार को लौटा लाने गये हैं।"

अंजना ने वक्ष में निःश्वास दबा लिया। किसी अगम्य दूरी में दृष्टि अटकाये गम्भीर स्वर में बोली—

"बाँधकर मैं उन्हें नहीं रखना चाहूँगी, वसन्त ! जाने को ये दिशाएँ खुली हैं उनके लिए। पर संयोग की रात जब लिखी होगी, तो द्वीपान्तर से उड़कर आयेंगे, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है। पगली वसू, छिः आँसू ? अंजना के भाग्य पर इतना अविश्वास करती हो, वसन्त ?"

कहते-कहते अंजना ने मुँह फेर लिया और वसन्त का हाथ पकड़ उसे कक्ष में खींच ले गयी।

[४]

कुछ दूर जाकर ही अचानक विराम का शंख बज उठा। सैन्य का प्रवाह थम गया। रथ की रास खींचकर पवनंजय ने पीछे मुड़कर देखा। कौन है जिसने

कुमार पवनंजय के सैन्य को रोक दिया है ? दीखा कि कुछ ही दूर घोड़ों पर महाराज प्रह्लाद, महाराज महेन्द्र, मित्र प्रहस्त और कुछ घुड़सवार चले आ रहे हैं। महाराज के संकेत पर ही सेनाधिप ने विराम का शंखनाद किया है।

कुछ निकट आकर वे सब घोड़ों से उतर पड़े। महाराज प्रह्लाद ने अकेले प्रहस्त को ही भेजा कि वे पवनंजय से लौट चलने का अनुरोध करें। महाराज पुत्र का स्वभाव जानते थे और खूब समझते थे कि प्रहस्त यदि पवनंजय को न लौटा सके तो, वे तो क्या, फिर विश्व की कोई भी शक्ति कुमार को नहीं लौटा सकती।

सन्दिग्ध और व्यथित प्रहस्त रथ के निकट पहुँच घोड़े से उतर पड़े। सारथी को घोड़ों की वल्गा थमाकर, गरिमा से मुसकराते हुए पवनंजय रथ से नीचे उतर आये। पर उस गरिमा में तेज नहीं था, महिमा नहीं थी, थी एक बुझी हुई अल्प-प्राणता। वह चेहरा जैसे एक रात में ही झुलसकर निष्प्रभ हो गया था। प्रहस्त चुपचाप पवनंजय का हाथ पकड़, उन्हें ज़रा दूर एक झरने के नज़दीक ले गये।

एकाएक दूसरी ओर देखते हुए प्रहस्त ने मौन तोड़ा—

"तुम्हारे गौरव के शिखरों को छूने के लिए प्रहस्त अब बहुत छोटा पड़ गया है, पवन ! और वैसी कोई धृष्टता करने आया भी नहीं हूँ। आदित्यपुर और महेन्द्रपुर के राजमुकुट भी तुम्हारे चरणों को शायद ही पा सकें, इसीलिए उन्हें पीछे छोड़ आया हूँ। पर यह याद दिलाने आया हूँ कि अपने ही से हारकर भाग रहे हो, पवन ! क्षत्रिय का वचन टलता नहीं है। इस विवाह को लेकर परसों रात महादेवी से ,तुमने क्या कहा था, वह याद करो। उसके भी ऊपर होकर यदि तुम्हारा मार्ग गया है, तो संसार की कौन-सी शक्ति है जो तुम्हें रोक सकती है ?"

सुनते-सुनते पवनंजय विवर्ण हुए जा रहे थे कि एकाएक उत्तेजना और रोष से चेहरा उनका तमतमा उठा।

"वह मोह था प्रहस्त, मन की एक क्षण-भंगुर उमंग। निर्बलता के अतिरेक में निकलनेवाला हर वचन निश्चय नहीं हुआ करता। और मेरी हर उमंग मेरा बन्धन बनकर नहीं चल सकती। मोह की रात्रि अब बीत चुकी है, प्रहस्त !

प्रमाद की वह मोहन-शय्या पवनंजय बहुत पीछे छोड़ आया है। कल जो पवनंजय था, वह आज नहीं है। अनागत पर आरोहण करनेवाला विजेता, अतीत की साँकलों से बँधकर नहीं चल सकता। जीवन का नाम है प्रगति। ध्रुव कुछ नहीं है प्रहस्त,—स्थिर कुछ नहीं है। सिद्धात्मा भी निजरूप में निरन्तर परिणमन-शील है! ध्रुव है केवल मोह—जड़ता का सुन्दर नाम—!"

"तो जाओ पवन, तुम्हारा मार्ग मेरी बुद्धि की पहुँच के बाहर है। पर एक बात मेरी भी याद रखना—तुम स्त्री से भागकर जा रहे हो। तुम अपने ही आपसे पराभूत होकर आत्म-प्रतारणा कर रहे हो। घायल के प्रलाप से अधिक, तुम्हारे इस दर्शन का कुछ मूल्य नहीं। यह दुर्बल की आत्मवंचना है, विजेता का मुक्ति-मार्ग नहीं!"

"और मुक्ति का मार्ग है—विवाह, स्त्री! क्यों न प्रहस्त?"

"हाँ पवन, ये मुक्तिमार्ग की अनिवार्य कसौटियाँ हैं। इन तोरणों को पार करके ही मुक्ति के द्वार तक पहुँचा जा सकेगा। स्त्री से भागकर जो जेता दिग्विजय करने चला है, दिशाओं की अपरिसीम भुजाओं का आलिंगन वह नहीं पा सकेगा। शून्य में टकराकर एक दिन फिर वह सीमित नारी के चरणों में दिग्मूढ़-सा लौट आयेगा। स्त्री के सम्मोहन-पाश में ही मुक्ति की ठीक-ठीक प्रतीति हो सकती है। मुक्ति की माँग वही तीव्रतम है। उसी चरम पीड़ा की ऊष्मा में से फूटकर मुक्ति का श्वेत कमल खिलता है। मुक्ति स्वयं स्त्री है—नारी को छोड़कर शरण और कहीं नहीं है, पवन! स्वार्थी, भोगी, उच्छृंखल पुरुष अपनी लिप्साओं से विवश होकर, जब स्त्री की परम प्राप्ति में विफल होता है, तब अपने पुरुषार्थ के मिथ्या आस्फालन में वह नारी से परे जाने की बात सोचता है। मुक्ति चरम प्राप्ति है—वह त्याग विराग नहीं है, पवन!"

"और वह चरम प्राप्ति, विवाह और स्त्री के बिना सम्भव नहीं—क्यों न प्रहस्त?"

"मैं मानता हूँ कि विजेता और उसकी चरम प्राप्ति विवाह से बाधित नहीं। पर यदि विवाह अनिवार्य होकर उसके मार्ग में आ ही जाये, तो उससे उसे निस्तार नहीं है। निखिल को अपने भीतर आत्मसात् करनेवाले अखण्ड प्रेम की लौ जिस जेता के वक्ष में जल रही है—उसके सम्मुख एक तो क्या लक्ष-लक्ष

विवाह भी बाधा-बन्धन नहीं बन सकते, पवन। छियानवे हजार रानियों के लीला-रमण और षट्खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर थे भरत चक्रवर्ती! उस सारे वैभव के अव्याबाध भोक्ता होकर वे रहे, और अन्तर्मुहूर्त मात्र में सारे बन्धनों को तोड़कर निखिल के स्वामी हो गये। बालपन से जो नरश्रेष्ठ तुम्हारा आदर्श रहा है, उसी की बात कह रहा हूँ, पवन!"

पवनंजय का घायल पुरुषार्थ भीतर ही 'भीतर सुलग रहा था। नहीं, वह अंजना को छोड़कर नहीं जा सकेगा। मृत्यु की तरह अनिवार होकर यह सत्य उसकी छाती में वज्र-सा टकराने लगा। ऐं! क्या वह भाग रहा है—स्त्री से, हारकर? भयभीत होकर, कातर और त्रस्त होकर? नहीं, वह हरगिज़ नहीं जायेगा। प्रतिशोध की सौ-सौ नागिनें भीतर फुफकार उठीं। उस निदारुण अपमान का बदला लेने का इससे अच्छा अवसर और क्या होगा।....अच्छा अंजन, आओ, पवनंजय के अँगूठे के नीचे आओ।....और फिर मुसकराओ अपने रूप की चाँदनी पर! तुम्हारे उस गर्विष्ठ रूप को चूर्ण कर उसे अपनी चरण-धूलि बनाये बिना मेरी विजय-यात्रा का आरम्भ नहीं हो सकता।

अपनी अधीरता पर संयम करते हुए प्रकट में पवनंजय बोले—

"यदि तुम्हारी यही इच्छा है प्रहस्त, तो चलो—मानसरोवर के तट पर ही अपनी विजय-यात्रा का पहला शिला-चिह्न गाड़ चलूँ!"

....प्रहस्त को हाथ से खींचकर पवनंजय ने रथ पर चढ़ा लिया और बल्गा खींचकर रथ को मोड़ दिया। सेनापति को सैन्य लौटाने की आज्ञा दी गयी। फिर प्रस्थान का शंख गूँज उठा।

[५]

आज है परिणय की शुभ लग्न-तिथि। पूर्व की उन हरित-श्याम शैल-श्रेणियों के बीच, ऊषा के आकुल वक्ष पर यौवन का स्वर्णकलश भर आया है। मणि-मुक्ता के झालर-तोरणों से सजे अपने वातायन से अंजना देख रही है। उस एक ओर के शैल की हरी-भरी तलहटी में हंस-हंसिनियों का एक झुण्ड मुक्त आमोद-प्रमोद कर रहा है। पास ही सरोवर में कमलों का एक संकुल वन है। सारी रात सुख

की एक अशेष पीड़ा अंजना के वक्ष को मथती रही है। जैसे वह आनन्द देह के सारे सीमा-बन्धनों को तोड़कर निखिल चराचर में बिखर जाना चाहता है। पर कहाँ है इस विकलता का अन्त ? सरोवर के उन सुदूर पद्मवनों में ? हंसों के उस विहार में ? हरीतिमा की उस आभा में ? इन अनन्त लहरों के अन्तराल में ?—कहाँ है प्राण की इस चिर विच्छेद-कथा का अन्त ?

कि लो, अनेक मंगल-वाद्यों की उछाह-भरी रागिणियों से सरोवर का वह विशाल तट-देश गूँज उठा। कैलास के स्वर्ण-मन्दिरों के शिखरों पर जाकर वे ध्वनियाँ प्रतिध्वनित होने लगीं। अनेक तोरण, द्वार, गोपुर, मण्डप और वेदियों से तटभूमि रमणीय हो उठी है। मानो कोई देवोपनीत नगरी ही उतर आयी है। स्थान-स्थान पर बालाएँ अक्षत-कुंकुम, मुक्ता और हरिद्रा के चौक पूर रही है। दोनों राजकुलों की रमणियाँ मंगल गीत गाती हुई उत्सव के आयोजनों में संलग्न हैं। कहीं पूजा-विधान चल रहे हैं तो कहीं हवन-यज्ञ। विपुल उत्सव, नृत्य-गान, आनन्द-मंगल से वातावरण चंचल है।

सवेरे ही अंजना को नाना राग, गन्ध, उबटनों से नहलाया गया है। पुण्डरीक और नील कमलों के पराग से अंगराग किया गया है। दूर-दूर की पर्वत-घाटियों से वन-पाल नाना रंगी फूल लाये हैं। उनके हारों और आभरणों से अंजना का शृंगार हो रहा है। ललाट, वक्षदेश और दोनों भुजाओं पर वसन्तमाला ने बड़े ही मनोयोग से पत्र-लेखा रची है। प्रत्यूष की पहली गुलाबी आभा के रंग का दुकूल वह ओढ़े है। भीतर कहीं-कहीं से विरल रत्नाभरणों की प्रभा झलमला उठती है।

और इस सारे आस-पास के उत्सव-कोलाहल, शृंगार-सज्जा के भीतर दबे अंजना के श्वेत कमलिनी-से पावन हृदय से एक आह-सी निकल आती है। रह-रहकर एक सिसकी-सी वक्ष में उठती है और अनायास वह उसे दबा जाती है। बाहर के तल-देश के सारे सुख-चांचल्य की जो छाया घनीभूत होकर उसके अन्तस्तल में पड़ रही है—वह क्यों इतनी करुण, नीरव और विषादमयी है ?

मानसरोवर की वेला में, लहरों से विचुम्बित परिणय की वेदी रची गयी है। सब दिशाओं की पार्वत्य वनस्पतियों और फल-फूलों से वह सजायी गयी है। चारों ओर रत्न-खचित खम्भे हैं—जिनपर मणि-माणिक्य के तोरण-वन्दनवार

लटके हैं।

सुदूर जल-क्षितिज में सूर्य की कोर डूब गयी। ठीक गोधूलि-वेला में लग्न आरम्भ हो गया। हवन के सुगन्धित धूम्र से दिशाएँ व्याप्त हो गयीं। सन्ध्यानिल के मादक झकोरों पर वाद्यों की शीतल रागिणियाँ, तन्तु-वाद्यों की स्वर-लहरियाँ और रमणी-कण्ठों के मृदु-मन्द गान मन्थर गति से बह रहे थे। और बीच-बीच में रह-रहकर हवन के मन्त्रोच्चार की गम्भीर ध्वनियाँ गूँज उठतीं।

अंजना ने देखा, वे हंसों के युगल उन दूर के शैल-श्रृंगों के पार उड़े जा रहे हैं। और वह क्यों बिछुड़कर अकेली पड़ी जा रही है। सब कुछ अवसन्न, करुण, नीरव हुआ जा रहा है। आस-पास का गीत-वाद्य, कलरव, सब निःशेष हुआ जा रहा है। केवल मानसरोवर की लहरों का अनन्त जल-संगीत और हवा के हू-हू करते झकोरे। मानवहीन, निर्जन तट का महाविस्तार........!

पाणि-ग्रहण की वेला आ पहुँची। अंजना को चेत आया। उसने साहस करके नीची दृष्टि से ही पवनंजय को देखना चाहा...., तबतक कब हथेली में हथेली जोड़कर बाँध दी गयी, पता ही नहीं। यही है उसका वह नियोगी पुरुष? वह पहचान नहीं पा रही है। उसे याद आ रहा है उस सन्ध्या का वह नौका-विहार, वह विरुद्ध-गामिनी लहरों पर जूझता हुआ पवनंजय! कहाँ है वह आज? क्या यही पुरुष है वह? अरे कहाँ है वह इस क्षण? और लहरों के असीम विस्तार पर उसकी आँखें उसे खोजती ही चली गयीं।

लोक में परिणय सम्पन्न हो गया!

और दूसरे ही दिन दोनों राज-परिवार अपने दल-बल सहित अपने-अपने देशों को प्रस्थान कर गये।

[६]

विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी पर, आकाश-विहारिणी वन-लेखा से बालारुण का उदय हो रहा है। अनेक रथों, पालकियों और सैन्य की ध्वजाओं से पर्वत-पाटियाँ चित्रित हो उठीं। दुन्दुभियों के तुमुल घोष ने घाटियों और गुहाओं को थर्रा दिया। दरीगृहों में सोये सिंह जागकर चिंघाड़ उठे। हिंस्र जन्तुओं से भरे

कान्तारों का जड़ अन्धकार हिल उठा। पर्वत-गर्भ से जानेवाले दरीमार्गों के चट्टानी गोपुर गगनभेदी वाद्यों और शंखनादों से गूँज उठे। महाराज प्रह्लाद आज कैलास-यात्रा से लौटकर अपने राज-नगर आदित्यपुर को वापस आ रहे हैं।

बीहड़ पर्वत-मार्ग को पार कर सैन्य की ध्वजाएँ मुक्त किरणों में फहराने लगीं। दूर पर आदित्यपुर के परकोट दीखने लगे। अंजना ने रथ के गवाक्ष की झालरें उठाकर देखा। शरद् ऋतु के उजले बादलों-से आदित्यपुर के भवन आकाश की पीठिका पर चित्रित हैं। विस्तीर्ण वृक्ष-घटाओं के पार, राज-प्रासाद की रत्न-चूड़ाएँ बाल-सूर्य की कान्ति में जगमगा रही हैं। सघन उपवनों और पद्म-सरोवरों की आकुल गन्ध लेकर उन्मादिनी हवा बह रही है। श्यामल तरु-राजियों में कहीं अशोक से कुंकुम झर रहा है, तो कहीं गुलमोरों से केशर और मल्लिकाओं से स्वर्ण-रेणु झर रही है। अंजना के अंग-अंग एक अपूर्व सुख की पुलकों से सिहर उठते हैं। पर इन पुलकों के छोरों में यह कैसी अविज्ञात कातरता है—चिर अभाव का कैसा संवेदन है ?

कि लो, देखते-देखते उत्सव का एक पारावार उमड़ आया। चित्र-विचित्र वस्त्राभूषणों में नर-नारियों की अपार मेदिनी चारों ओर फैली है। नवपरिणीत युवराज और युवराज्ञी का अभिनन्दन करने के लिए प्रजा ने यह विपुल उत्सव रचा है। चारों ओर से अक्षत, कुंकुम, गन्ध-चूर्ण और पुष्पमालाओं की वर्षा होने लगी। सबसे आगे गन्ध-मादन गजराज पर स्वर्ण-खचित हाथीदाँत की अम्बाड़ी में मणि-छत्र के तले कुमार पवनंजय बैठे हैं। वे चौड़ी जरी किनार का हंस-धवल उत्तरीय ओढ़े हैं—और माथे पर मानसरोवर के बड़े-बड़े नीलाभ मोतियों की झालरवाला किरीट धारण किये हैं। अपनी ईषत् बंकिम ग्रीवा को जरा घुमाकर मानो अवहेला पूर्वक वे अपने चारों ओर देख रहे हैं। होंठों पर गुरु गरिमा की एक मुसकराहट जैसे चित्रित-सी थमी है। धनुषाकार होता हुआ एक भुजदण्ड अम्बाड़ी के कठघरे को थामे है। ईषत् गरदन हिलाकर, और कुछ भ्रू उचकाकर ही वे प्रजा के उस सारे अभिनन्दन, अभिवादन और जयकारों को झेल लेते हैं।

नवीन चित्रों से शोभित, नगर के सिंह-तोरण पर अशोक और कदली की वन्दनवारें सजी हैं। तोरण के गवाक्षों में शहनाइयों की मंगल-रागिणियाँ बज

रही हैं। उसके ऊपर के झरोखों से केशर-वसना कुमारिकाएँ कमलकोरक और फूलों की राशियाँ बरसा रही हैं। कुमार की गर्व-दीप्त आँखों ने एक बार भ्रू की मर्यादा तोड़कर, तोरण के झरोखों पर दृष्टि डाली।....चम्पक-गौर भुजदण्डों पर कमल-सी हथेलियों में कर्पूर की आरतियाँ झूल रही हैं। सौन्दर्य की उस प्रभा के सम्मुख कुमार की भौंहों का वह मानगिरि एकबारगी ही चूर्ण हो गया। मन ही मन वे उद्वेलित हो उठे।....'ओह, परिणय की स्वर्ण-साँकलों से बँधा मैं, क़ैदी होकर लौट आया हूँ इन मायाविनियों के देश में! और रूप की ये रजोराशियाँ विजेता के गौरव से खिलवाड़ किया चाहती हैं?'

जय-जयकार और शंखनादों के बीच कुमार के हाथी ने तोरण में प्रवेश किया। नगर के भवन, छज्जे, अटारी और वातायनों में उड़ते हुए सुगन्धित दुकूल और कोमल मुखड़ों की छटा खिली है; कंकण, नूपुर और किंकिणियों की रणकार तथा मृदुकण्ठों की गान-लहरियों से वातावरण चंचल-आकुल है।....और पवनंजय ने मानो आकाश का तट पकड़कर यह निश्चय अनुभव करना चाहा कि वह इस सब पर पैर धरकर चल रहा है!

पुष्पों, पुष्पहारों और हेम-कुंकुम से ढकी हुई अंजना दोनों हाथों पर भाल के तिलक को झुकाकर प्रजाजनों के अभिनन्दन झेल रही थी। देह के तट तोड़कर जैसे उसका समस्त आत्मा आनन्द के इस अपार समुद्र में एकतान हो जाने को आकुल हो उठा है। क्यों है यह अलगाव, यह दूरी, यह खण्ड-खण्ड सत्ता? यही है उसकी इस समय की सबसे बड़ी आनन्दवेदना। वह आज मानो अपने को निःशेष कर दिया चाहती है। पर इस अथाह शून्य में कोई थामनेवाला भी तो नहीं है।

[७]

यह है युवराज्ञी अंजना का 'रत्नकूट-प्रासाद'। अन्तःपुर की प्रासाद-मालाओं में इसी का शिखर सबसे ऊँचा है। अनेक देशान्तरों के बहुमूल्य और दुर्लभ धातु, पाषाण और रत्न मँगवाकर महाराज ने इसे भावी राजलक्ष्मी के लिए बनवाया था। दूर-दूर के ख्यात वास्तु-विशारद, शिल्पी और चित्रकारों ने इसके निर्माण

में अपनी श्रेष्ठतम प्रतिभा का दान किया है। आज लक्ष्मी आ गयी है और महल में प्रभा जाग उठी है।

महल की सर्वोच्च अटारी पर चारों ओर स्फटिक के जाली-बूटोंवाले रेलिंग और वातायन हैं। बीचोंबीच वह स्फटिक का ही शयन-कक्ष है, लगता है जैसे क्षीर-समुद्र की तरंगों पर चन्द्रमा उतर आया है। फ़र्शों पर चारों ओर मरकत और इन्द्रनील मणि की शिलाएँ जड़ी हैं। कक्ष के द्वारों और खिड़कियों पर नीलमों और मोतियों के तोरण लटक रहे हैं, जिनकी मणि-घण्टिकाएँ हवा में हिल-हिलकर शीतल शब्द करती रहती हैं। उनके ऊपर सौरभ की लहरों से हलके रेशमी परदे हिल रहे हैं।

कक्ष में एक ओर गवाक्ष के पास सटकर पद्मराग मणि का पर्यंक बिछा है। उसपर तुहिन-सी तरल मसहरी झूल रही है। उसके पट आज उठा दिये गये हैं। अन्दर फेनों-सी उभारवती शय्या बिछी है। मीनाखचित छतों में मणि-दीपों की झूमरें झूल रही हैं। एक ओर आकाश के टुकड़े-सा एक विशाल बिल्लौरी सिंहासन बिछा है। उसपर कास के फूलों से बुनी सुख-स्पर्श, मसृण गद्दियाँ और तकिये लगे हैं। उसके आस-पास उज्ज्वल मर्मर पाषाण के पूर्णाकार हंस-हंसिनी खड़े हैं, जिनके पंखों में छोटे-छोटे कृत्रिम सरोवर बने हैं, जिनमें नीले और पीले कमल तैर रहे हैं। कक्ष के बीचोंबीच पन्ने का एक विपुलाकार कल्पवृक्ष निर्मित है, जिसमें से इच्छानुसार कल घुमा देने पर, अनेक सुगन्धित जलों के रंग-बिरंगे सीकर बरसने लगते हैं। मणि-दीपों की प्रभा में ये सीकर इन्द्रधनुष की लहरें बन-बनकर जगत् की नश्वरता का नृत्य रचते हैं। कक्ष के कोनों में सुन्दर बारीक जालियों-कटे स्फटिकमय दीपाधार खड़े हैं, जिनमें सुगन्धित तैलों के प्रदीप जल रहे हैं।

बाहर उत्सव का सायाह्न एक मधुर अलसता और अवसाद से भरा है। आज सुहागिनी अंजना की शृंगार-सन्ध्या है। चारों ओर महलों के सभी खण्डों के झरोखों से मोहन-राग संगीत और प्रकाश की शीतल-मन्थर लहरें बह रही हैं। सुन्दर सुवेपिनी दासियाँ स्वर्ण-थालों और कलशों में नाना सामग्रियाँ लिये व्यस्ततापूर्वक ऊपर-नीचे दौड़ती दीख रही हैं।

शयन-कक्ष के बाहर छत पर दासियाँ और सखियाँ मिलकर अंजना के लिए

स्नान का आयोजन कर रही हैं। कुछ दूर पर नारिकेल-वन के अन्तराल से 'पुण्डरीक' नामक विशाल प्राकृतिक सरोवर की ऊर्मियाँ झाँकती दीख पड़ती हैं। नारिकेल शिखरों पर वसन्त के सन्ध्याकाश में गुलाबी और अंगूरी बादलों की झीलें खुल पड़ी हैं। ऊपर घिर आती रात की श्याम-नील वेला में से कोई-कोई विरल तारक-कन्याएँ आकर इन झीलों में स्नान-केलि कर रही हैं।

देव-रम्य राजोद्यान के पूर्व छोर पर, सघन तमालों की वनाली से, सुहागिनी के मुख-मण्डल-सा हेम-प्रभ चन्द्रमा निकल आया। सरोवर से सद्यः विकसित कुमुदिनियों का सौरभ और पराग लेकर वसन्त का मादक सन्ध्यानिल झूमता-सा बह रहा है। छत के उत्तर भाग में एक पद्माकार केलि-सरोवर बना है। उसके एक दल पर स्फटिक की चौकी बिछा दी गयी है और उसी पर बिठाकर अंजना को स्नान कराया जा रहा है। सुगन्धित दूध, नवनीत, दही तथा अनेक प्रकार के गन्धजलों की झारियाँ और उपटनों के चषक लेकर आस-पास दासियाँ खड़ी हैं। वसन्तमाला अंग-लेप लगा-लगाकर अंजना को स्नान करा रही है। केलि-सरोवर के किनारे गमलों में लगी भूशायिनी वल्लरियाँ हवा के हिलोरों में उड़ती हुई इधर-उधर डोल रही हैं। वे आ-आकर अंजना की अनावृत भुजाओं, जंघाओं, बाँहों और कटिभाग में लिपट जाती हैं। वह उन अनायास उड़ आती लताओं को विह्वल बाँहों से वक्ष में चाँपकर उनपर अपना सारा प्यार उड़ेल देती है। एक अपूर्व अज्ञात सुख की सिहरन से भरकर उसका अंग-अंग जाने कितने भंगों में टूट जाता है। उनके छोटे-छोटे फूलों को अंगुलियों के बीच लेकर वह चूम लेती है—उन मृदुल डालों और नन्ही-नन्ही पत्तियों को गालों से, पलकों से हलके हलके छुहलाती है। इस क्षण उसके प्यार ने सीमा खो दी है। बहिर्जगत् की लाज और विवेक जाने कहाँ पीछे छूट गया है। आस-पास खड़ी सखियाँ और दासियाँ हँसी-चुहल में एक दूसरी से लिपटी जा रही हैं। तभी हलके-से हँसते हुए वसन्त ने मधुर भर्त्सना की—

"तेरा बचपन अभी भी छूटा नहीं है, अंजन! इन नन्ही-नन्ही फूल-पत्तियों से खेलने में लगी है कि नहाना भूल गयी है। ऐसे ही अपनी बाल्य-क्रीड़ाओं में रत होकर किसी दिन कुमार पवनंजय को मत भूल बैठना, नहीं तो अनर्थ हो जायेगा!"

कहकर वसन्त खिल-खिलाकर हँस पड़ी। अंजना एक वेलि को गाल से लगाये कुछ देर मुग्ध विभोरता में नत हो रही। फिर धीमे से बोली—

"सो मुझे कुछ नहीं मालूम है, वसन्त। पर देख रही हूँ—कितना सरल है इन नन्ही-नन्ही वल्लरियों का प्यार। व्याज नहीं, छल नहीं, अपेक्षा भी नहीं है। सहज ही आकर मुझसे लिपट रही हैं। किस जन्म की आत्मीयता है यह? (रुककर) सोचती हूँ, कौन-सा प्यार है जो इस प्यार से बड़ा हो सकता है! क्या मनुष्य का प्रेम इससे भी बड़ा है? पर मैं क्या जानूँ वसन्त, इनसे परे इस क्षण मेरे लिए कुछ भी स्पृहणीय नहीं है!"

कुछ देर चुप रहकर फिर मानो भर आते गले से बोली—

"निखिल को भूलकर जो एक ही याद रह जायेगा, उसकी ठीक-ठीक प्रतीति मुझे नहीं है—पर इस क्षण इस प्यार से परे मैं किसी को भी नहीं जानती?"

"तो वह जानने की वेला अब दूर नहीं है अंजन—लो उठो, उस ओर चलकर कपड़े पहनो।"

छत के दक्षिण भाग में, खुले आकाश के नीचे रत्न-जटिल खम्भोंवाली सुहाग-शय्या बिछी है। चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणों से रत्नों में प्रभा की तरंगें उठ-उठकर विलीन हो रही हैं। मानो वह शय्या किसी नील जलधि वेला में तैर रही है। शय्या पर कचनार और चम्पक पुष्पों की राशियाँ बिछी हैं। उसकी झालरों में केसरवाले पुण्डरीक झूल रहे हैं। पलंग के रत्न-दण्डों पर चारों ओर कुन्द-पुष्पों से बुनी जालियों की मसहरी झूल रही है। पलंग के शीर्ष के चौखट पर चन्द्रकान्त मणियों की झालरें लटकी हैं; चाँद की किरणों का योग पाकर उन मणियों में से भीनी-भीनी जल की फुहारें झर रही हैं।

और वहीं पास ही इन्द्रनील शिला के फ़र्श पर चारों ओर सखियों और दासियों से घिरी, सुहागिनी अंजना का श्रृंगार हो रहा है। उस तरल ज्योत्स्ना-सी देह में पीत कमलों के केसर से अंगराग किया गया है। हथेलियों और पगतलियों में लोध्र की रेणु से महावर रची गयी है। सन्ध्या की सागर-वेला-सी वह घनश्याम केश-राशि ऐसी निर्बन्ध लहरा रही है कि उस देह के तरल तटों में वह सम्हाले नहीं सम्हलती। इसी से वेणी गूँथने का प्रयत्न नहीं किया गया है; केवल

मानसरोवर की मुक्ताओं की तीन लड़ियों से हलका-सा बाँधकर उसे अटका दिया गया है। लिलार और गालों के केशपाश पर से दो लड़ियाँ दोनों ओर की केश-पट्टियों को बाँधती हुई जाकर चोटी के मूल में अटकी हैं; माँग की सिन्दूर रेखा पर से एक तीसरी लड़ जाकर उन दोनों से मिल गयी है। कानों में नीलोत्पल पहनाये गये हैं। अर्धचन्द्राकार ललाट पर गोरोचन और चन्दन से तथा स्तनों पर कालागुरु से वसन्तमाला ने पत्र-लेखा रची है। मृणाल-तन्तुओं में लाल कमल के दलों को बुनकर बनायी गयी कंचुकी पद्म-कोरकों से उद्भिन्न वक्ष-देश पर बाँध दी गयी। कलाइयों पर मणि-कंकण और फूलों के गजरे पहनाये गये और भुजाओं पर रत्न-जटित भुज-बन्ध बाँधे गये। गले में वैडूर्य-मणि का एक अति महीन चाँदनी-सा हार धारण कराया गया। देह पर श्वेत-नील लहरिये का हलका-सा रेशमी दुकूल पहना और पैरों में मणियों के नूपुर झनझना उठे।

वैशाख की पूर्णिमा का युवा चन्द्र, तमाल के वनों से ऊपर उठकर, सम्पूर्ण कलाओं से मुसकरा उठा। अपनी सारी पीली मोहिनी नवोढ़ा अंजना को सौंपकर अब वह उज्ज्वल हो चला है। दूर देव-मन्दिरों के धवल शिखर पर आकर वह कुछ ठिठक गया है। मानो आज वह सुहागिनी अंजना का दर्पण बन जाना चाहता है। जयमाला जब दर्पण लेकर सामने आयी, तो अंजना ने सम्भ्रम-पूर्वक गरदन घुमाकर चाँद की ओर देखा और मुसकरा दिया। कपोल-पाली में फैली हुई स्मित रेखा, उन आँखों के गहन कजरारे तटों में जाने कितने रहस्यों से भरकर लीन हो गयी।

शयन कक्ष के झरोखों से दशांग धूप की धूम्र-लहरें आकर बाहर चाँदनी की तरलता में तैर रही हैं; अंजना के केशों पर आकर मानो वे सपनों के जाल बुन रही हैं।

थोड़ी ही देर में शृंगार सम्पन्न हो गया। दूसरी ओर के केलि-सरोवर के पास दासियों ने प्रवाल के हिंडोलों को पुष्प-मालाओं से छा दिया। चारों ओर घिरी सखियों के हास-परिहास, विलास-विभ्रम और चंचल कटाक्षों के बीच अंजना अपनी सारी शोभा को समेट अपनी ढुलकी पलकों की कोरों में लीन हो रही है। अपनी ही सौरभ से मुग्ध पद्मिनी जैसे झुककर अपने ही अन्तर की आकुल ऊर्मियों में अपना प्रतिबिम्ब देख रही हो।

इन्द्रनील शिला के फ़र्श में जिस बाला की परछाहीं पड़ रही है, उसे अंजना पहचान नहीं पा रही है। किस आत्मीय-जनहीन सागरान्त की वासिनी है यह एकाकिनी जल-कन्या ? और लो, वह छाया तो खोयी जा रही है; अनन्त लहरों में, नाना भंगों में टूटकर वह छवि दिगन्तों के भी पार हो गयी है ! अंजना का समस्त प्राण उस बाला के लिए अथाह करुणा-व्यथा से भर आया है। चाँदनी के जल से आकुल दिशाओं के सभी छोरों पर वह उसे खोजती भटक रही है। पर जहाँ तक दृष्टि जाती है, चंचल लहरों के सिवा कहीं और कुछ नहीं है। लहरें जो टूट-टूटकर अनन्त में बिखर जाती हैं। सारे ग्रह-नक्षत्र छवि की इन तरंग-मालाओं में चूर-चूर होकर बिखर रहे हैं। जन्म और मरण से परे मुक्ति के भँवरों पर आत्मोत्सर्ग का उत्सव हो रहा है। देश और काल की परिधि निश्चिह्न हो गयी है। सुख-दुख, आनन्द-विषाद की सीमा तिरोहित हो गयी है।

..........और शून्य में वह कौन आलोक पुरुष दिखाई पड़ रहा है, जिसके चरणों में जा-जाकर ये अन्तहीन लहरें निर्वाण पा रही हैं ! एकाएक अंजना ने शून्य में हाथ फैला दिये। अपने ही मणि-कंकणों की रणकार से वह चौंक उठी। वसन्तमाला ने पीछे से उसे थाम लिया। परिचयहीन, भटकी चितवन से वह वसन्त को देख उठी। फिर एक अपूर्व संवेदन की मर्म-पीड़ा उन आँखों की कजरारी कोरों में भर आयी। देखकर वसन्त नीरव हो गयी। चित्त उसका रुद्ध हो गया और चाहकर भी बोल नहीं फूट पाया।

पूर्ण चेत आते ही अंजना को रोमांच हो आया, कपोलों पर पसीना झलक उठा। प्रगाढ़ लज्जा से मानो वह अपने ही में मुँदी जा रही है। कि अगले ही क्षण वह परवश होकर लुढ़क पड़ी—वसन्तमाला के वक्ष पर।

"अंजन, मुझसे ही लाज आ रही है आज तुझे ?"

"जीजी........बहुत दिनों का भूला सम्बोधन आज फिर होंठों पर आ गया है—अनायास, क्षमा कर देना, जीजी। पर आज तुम बड़ी ही बड़ी लग रही हो ! तुम्हें छोड़कर आज कहीं शरण नहीं है—इसी से कह रही हूँ। बीच धारा में मुझे असहाय छोड़कर चली मत जाना। अपनी अंजना का पागलपन तो तुम सदा से जानती हो—फिर क्या आज भी क्षमा नहीं कर दोगी, जीजी ?"

अंजना की झुकी हुई पलक पर बिखर आयी हलकी-सी केश-लट को उँगली

से हटाते हुए वसन्त ने कहा—

"इसी से तो कह रही हूँ अंजन, कि अपनी चिर दिन की उस जीजी से भी यों लाज करेगी ?"

"तुमसे नहीं जीजी, अपनी ही लाज से मरी जा रही हूँ। अपनी ही हीनता पर मन करुणा और अनुताप से भरा आ रहा है। देने को क्या है मेरे पास, जीजी, तुम्हीं बताओ न ?"

"छि: मेरी पगली अंजन...."

कहते-कहते वसन्त का गला भी हर्ष के पुलक से भर आया। और भी दुलार से अंजना के शिथिल हो पड़े शरीर को उसने वक्ष से चाँप लिया।

"सच कह रही हूँ जीजी, मेरा मन मेरे वश में नहीं है। और रूप ? यह तो टूट-टूट कर बिखरा जा रहा है; धूल-मिट्टी हुआ जा रहा है ! शृंगार-सज्जा के छद्म-बन्धन में बाँधकर इसे,' उन चरणों पर चढ़ाने को कहती हो जीजी ? क्या क्षणों के इस छल से उन चरणों को पाया जा सकेगा ? और यदि पा भी गयी—तो कै दिन रख सकूँगी ?"

"कैसी बातें करती है, अंजन ? जिस अंजना के दिव्य रूप को पाने के लिए, स्वर्ग के देवता मर्त्यलोक में जन्म पाने को तरस जायें, उसी अंजना के हृदय का यह अमृत आज उसकी समर्पण की अंजुलियों में भर आया है ! देखूँ, वह कौन-सा पुरुषार्थ है, जो रूप के इस अकूल समुद्र को पार कर, नाश की मझधारा से ऊपर उठकर, हृदय के इस अमृत को प्राप्त कर लेगा ! मानसरोवर की विरुद्धगामिनी लहरों पर तैरनेवाले कुमार पवनंजय के मान की परीक्षा है आज रात.... ।"

अंजना की समस्त देह पिघल कर मानो उत्सर्ग के पथ पर, एक अदृश्य जल-कणिका मात्र बनी रह जाना चाहती है। वसन्त के वक्ष पर सिमटकर वह गाँठ हुई जा रही है। उसने बोलती हुई वसन्त के होंठों पर हथेली दाब दी—

"ना...ना...ना....बस करो जीजी। मेरी क्षुद्रता को शरण दो जीजी। कहाँ है हृदय—जो उसकी बात कह रही हो। मन, प्राण, हृदय—सर्वस्व हार गयी हूँ ! अपने को पकड़ पाने के सारे प्रयत्न विफल हो गये हैं। इसी से पूछ रही हूँ कि क्या देकर उन चरणों को पा सकूँगी ? मैं तो सर्वहारा हो गयी हूँ, क्षण-क्षण मिटी जा रही हूँ, मुझपर दया करो न, जीजी !"

और तभी उस ओर के केलि-सरोवर से सखियों के चंचल हास्य का रव सुनाई पड़ा। कि इतने में ही लीला की तरंगों-सी सखियाँ इस ओर दौड़ आयीं।

"उठो रानी, खेलने के लिए बालिका अंजन को जाने दो—हिंडोले की पैंगें उसकी राह देख रही हैं!" कहकर वसन्त ने अंजना को दोनों हाथों से झकझोरकर एकदम हलका कर देना चाहा।

चारों ओर घिर आयी सखियों ने सिन्धुवार और मल्लिका के फूलों से अंजना का अभिषेक कर दिया। 'युवराज्ञी अंजना की जय'—मृदु कण्ठों का समवेत स्वर हवा में गूँज गया। जयमाला ने एक उत्फुल्ल कुमुदों की माला अंजना के गले में डाल दी। वसन्त के हाथ के सहारे उठकर अंजना चली—धीर-गम्भीर और सम्भ्रम से भरी। चारों ओर—सखियाँ और दासियां झुक-झुककर बलइयाँ ले रही हैं। इस सारे रूप, शृंगार, सज्जा से ऊपर उठकर सौन्दर्य की एक मुक्त विभा-सी वह चल रही है। चाँद उस सौन्दर्य का दर्पण न बन सका—वह उसका भामण्डल बन जाने को उसके केश-पाश की लहरों पर आ खड़ा हुआ है; पर वहाँ भी जैसे ठहर नहीं पा रहा है।

केलि-सरोवर के एक ओर के दलों के ऊपर होकर हिंडोला झूल रहा है। हिंडोले के एक कोने में बायीं पीठिका के सहारे, एक मोतिया रंग के रेशमी उपधान पर कुहनी टिकाये, गाल एक हथेली पर धरकर अंजना बैठी है। सहज संकोचवश कुछ मुड़े-से दोनों जानु उसने अपने ही नीचे समेट लिये हैं। पास ही दायीं पीठिका के सहारे वसन्तमाला बैठी है। कुछ सखियाँ हिंडोले के आस-पास खड़ी होकर हौले-हौले झुला दे रही हैं। बड़ी ही कोमल रागिणियों से वे गीत गा रही हैं। उन रागों की मूर्च्छा पवन पर चढ़कर दिशाओं के तट छू आती है। बढ़ते हुए उल्लास के साथ रागों का आलाप बढ़ता ही जाता है।

केलि-सरोवर के उस ओर हारयष्टि बाँधकर खड़ी सखियाँ नाना भंगों में नृत्य कर उठीं। मंजीरों की पहली ही रणकार से अन्तरिक्ष के तारों में झंकार भर गयी। वीणा, मृदंग और जल-तरंग की स्वरावलियों पर समुद्र की लहरों का संगीत उतरने लगा; अन्तर के कितने ही लोक एक साथ जाग उठे। वायु की तरंगों-सी वे तन्वंगी बालाएँ, संगीत के तालों पर, शून्य में चित्र बनाने लगीं।

अर्ध उन्मीलित नयनों से, देह-यष्टि को अनेक भंगियों में तोड़कर, उन्होंने हाथ जोड़कर अपने आपको निवेदित किया। देह का सारा स्थूल रूप-लावण्य सौन्दर्य की कुछ ही सूक्ष्म रेखाओं में सिमटकर जाज्वल्य हो उठा। 'बादल-बेला', 'मयूरी-नृत्य', 'वसन्त-लीला', 'अनंग-पूजा', 'प्रणयाभिसार, 'सागर-मन्थन' आदि अनेक नृत्य क्रमशः वे बालाएँ रचती गयीं।

अंजना कभी नृत्य की भाव-भंगियों और संगीत की मूर्च्छना में विभोर हो आँखें मूँद लेती; और कभी आकाश की ओर दृष्टि उठाये अपने हाथ के लीला-कमल को उँगलियों के बीच नचाती हुई ग्रह-नक्षत्रों की गतियों से खेलने लगती। एकाएक उसकी नज़र केलि-सरोवर के जल में पड़ते तारों के प्रतिबिम्ब पर जा पड़ती। ईषत् झुककर हाथ के लीला-कमल से वह जल की सतह को झकझोर देती। ग्रह-नक्षत्रों के बिम्ब उलट-पुलट हो जाते। वह खिलखिलाकर हँस पड़ती। पास खड़ी सखियाँ अचरज में भरी देखती रह जातीं। कभी अंजना की वे लीलायित भौंहें कुंचित हो जातीं तो कभी गम्भीर! तो कभी एक निर्दोष कौतुक से वह मुसकरा देती। मानो आज नियति से ही विनोद करने को वह उतर पड़ी है।

सिंहपौर पर नौबत बज उठी। रात का दूसरा पहर आरम्भ हो गया। सामने दृष्टि पड़ी—गुलाबी कंचुकियों से बँधे उद्भिन्न वक्ष देश पर, हाथों की अंजुलियों में सर्वस्व उत्सर्ग करती हुईं, मुद्रित-नयन बालाएँ समर्पण के भंगों में नत हो गयीं। मंजीरों की रणकार नीरव हो गयी। संगीत की डूबती हुई सुरावलियाँ दिशाओं के उपकूलों में जाकर सो गयीं। एक-एक कर सब बालाएँ तिरोहित हो गयीं।

अटारी के दक्षिणवाले रेलिंग पर अंजना और वसन्त खड़ी हैं—छाया-मूर्तियों-सी मौन। विशाल राजप्रांगण में चारों ओर सन्नाटा छा गया है। नीरवता सघन हो रही है। आकाश के असंख्य तारों की उत्सुक आँखें इस छत पर टकटकी लगाये हैं। चारों ओर निस्पन्द, अपलक प्रतीक्षा बिछी है। उद्यान की वन-राजियों में से, केलि-गृहों के द्वारों में से, नारिकेल-वन के अन्तरालों से, लता-मण्डपों के द्वारों से, सरोवर तट के कदली और माधवी-कुंजों से, देव-मन्दिरों के शिखरों पर से, सौधमालाओं की चूड़ाओं से—मानो कोई आनेवाला है! अन्धकार में से कोई

छायामूर्ति आती दिखाई पड़ती है—और फिर कहीं छाया चाँदनी की आँख-मिचौनी में खो जाती है। दक्षिण समीर के अलस झोंके में तरु-मालाएँ मर्मरित होती रहती हैं। वह शून्यता और भी निबिड़, और भी गम्भीर हो जाती है।

'पुण्डरीक' सरोवर के गुल्मों में से कभी कोई एकाकी मेंढक टरटरा उठता है, कोई जल-जन्तु विचित्र स्वर कर उठता है। सरोवर की सतह पर से कोई एकाकी बिछुड़ा पंछी उड़ता हुआ निकल जाता है; पानी छप्-छप् बोल उठता है। झिल्ली का रव इस शून्यता के हृदय का संगीत बन गया है। कभी-कभी दूर पर, प्रहरी के उत्कट शब्द की ध्वनि, स्तब्धता को और भी भयावह बना देती है।

सुहाग-शय्या के सामनेवाले वातायन में अंजना चुप बैठी है। पास के रेलिंग पर वसन्त खामोश ठुड्डी पर हाथ देकर बैठी है। नयी डाली हुई धूप से धूम्र-लहरियाँ और भी वेग से उड़ रही हैं। चारों ओर मणि-माणिकों की झलमल आभा में नाना भोग-सामग्रियाँ दीपित हैं! स्फटिक की चित्रमयी चौकियों पर रत्नों की झारियाँ शोभित हैं। कंचन के थालों में विविध फल और पुष्पहार सजे हैं। अनेक शृंगार के उपादानों से भरी रत्न-मंजूषाएँ खुली पड़ी हैं। वसन्तमाला ने कमरे में घूमकर दीपाधारों के दीपों की जोत को और भी ऊँचा उठा दिया। सुहाग-सेज के चारों ओर के धूप-दानों में नवीन धूप डाल दिया। शून्य शय्या में जा- जाकर धूम्र-लहरें विसर्जित होने लगीं। सुहागिनी की प्रतीक्षा से आकुल नयन आकाश में लोटते ही चले गये....। और तरु-पल्लवों की 'ढल-पल' में तारे खिल-खिलाकर हँस पड़े।

चाँद ठीक सौध के शिखर पर आ गया है। चूड़ा के रत्न-दीप में से कान्ति की नीली-हरी किरणें झर रही हैं। दूर पर कुमार पवनंजय के 'अजितंजय-प्रासाद' का शिखर दीख रहा है। उसपर अष्टमी के वक्र चन्द्र-सा अरुण रत्न-दीप उद्भासित है। ज़रा झुककर धीरे से वसन्त ने कहा—"देख रही हो अंजन, वह रतनारी चूड़ा—वही है 'अजितंजय-प्रासाद'!"—वसन्त के इंगित पर अनायास अंजना की आँखें उस ओर उठ गयीं। पर दर्प की वह भ्रू-लेखा जैसे वह झेल न सकी। चाहकर भी फिर उस ओर देखने का साहस वह न कर सकी।

काल का प्रवाह अनाहत चल रहा है। जीवन क्षण-पल घड़ियों में कण-कण बिखरकर अवश बह रहा है। यह जो आस-पास सब स्तब्ध-स्थिर दीख रहा है,

यह सब उस प्रवाह में सूक्ष्म रूप से अतीत और व्यय हो रहा है; सब चंचल है—और क्षण-क्षण मिट रहा है, और नव-नवीन रूपों में नव-नवीन इच्छाओं और उच्छ्वासों के साथ फिर उठ रहा है। सब कुछ अपने आपमें परिणमन-शील है। आत्मा के अन्तराल में चिरन्तन बिछोह की व्यथा निरन्तर घनी हो रही है।

कि लो, सिंह-पौर पर तीसरे पहर की नौबत बज उठी। फिर हवा के झोंके में तरु-मालाएँ मर्मरा उठीं और तारे फिर खिलखिलाकर हँस पड़े। अन्तरिक्ष में रह-रहकर एक नीरव ध्वनि गूँज उठती है—'नहीं आये! नहीं आये!! नहीं आये!!!" रात ढल रही है। तारे बह रहे हैं, चाँद बह रहा है, बादल बह रहे हैं, आकाश बह रहा है, पृथ्वी बह रही है, हवाएँ बह रही हैं, अन्धकार और प्रकाश बह रहे हैं—। और इसी प्रवाह में चेतना भी अवश बह रही है। पर भीतर संवेदन की एक अखण्ड जोत जल रही है—जो इस प्रवाह को चीर-कर ऊपर आया चाहती है; परिणमन के इन सारे जुलूसों को जो अपने भीतर तदाकार और चिद्रूप कर लेना चाहती है। देह की दीवारों में वह बन्दिनी टकरा रही है, पछाड़ें खा रही है। और ऊपर मणि-माणिक्य की नानावर्णी प्रभा में माया की चित्र-लीला अविराम चल रही है। संसार-चक्र सतत गतिशील है—।

कि लो, रात के चौथे पहर की नौबत बज उठी। प्रश्न-चिह्न-सी सजग, अपने आपमें चिन्मय लौ-सी बाला अंजना वातायन में बैठी है; इस सारे परिच्छेद के बीच वह नितान्त निराधार, असहाय और अकेली है—निज रूप में रमण-शील! रेलिंग पर से उठकर उसके पास जाने की वसन्त की हिम्मत नहीं है।.... देखते-देखते पश्चिम के वानीर-वनों में चाँद पाण्डुर होता दीख पड़ा। तारे क्षीण होकर डूबने लगे। शयनकक्ष के दीपाधारों में सुगन्धित तैलों के प्रदीप मन्द हो गये। धूप-दानों पर कोई विरल धूम्र-लहरी शून्य में उलझी रह गयी है।

केवल मणि-द्वीपों की म्लान, शीतल विभा में वह विपुल भोग-सामग्रियों से दीप्त सुहाग की उत्सव-रात्रि कुम्हला रही है। अस्पर्शित शय्या की चम्पक-कचनार सज्जा मलिन हो गयी। कुन्द-पुष्पों की मसहरी जल-सीकरों में भींगकर झर गयी है। पूजा की सामग्री ठुकरायी हुई, हतप्रभ, शून्य उन थालों में उन्मन

पड़ी है। सब कुछ अनंगीकृत, अवमानित, विफल पड़ा रह गया है। पुजारिणी स्वयं चिर प्रतीक्षा की प्रतिमा बनी झरोखे में बैठी रह गयी है। एक गम्भीर पराजय, अवसन्नता, म्लानता चारों ओर फैली है!

और भीतर कक्ष की शय्या पर आत्मा की अग्नि-शिखा नग्न होकर लोट रही है।

सन्ध्या में सीढ़ियों पर बिछाये गये प्रफुल्ल कुमुदिनियों के पाँवड़े अछूते ही कुम्हला गये! पर वह नहीं आया—इस सुहाग-रात्रि का अतिथि नहीं आया!

और लो, राज-प्रांगण की प्राचीरों के पार ताम्र-चूड़ बोल उठा।

[८]

राजपरिकर में बिजली की तरह ख़बर फैल गयी : "देव पवनंजय ने नव-परिणीता युवराज्ञी अंजना का परित्याग कर दिया!"

और दिन चढ़ते न चढ़ते सम्पूर्ण आदित्यपुर नगर इस संवाद को पाकर स्तब्ध हो गया। उत्सव की धारा एकाएक भंग हो गयी। प्रातःकाल ही राज-मन्दिर से लगाकर नगर के चारों तोरणों तक वाद्य, गीत-नृत्य की जो मंगल-ध्वनियाँ उठने लगी थीं, वे अनायास एक गम्भीर उदासी में डूब गयीं। प्रजा द्वारा सात दिन के लिए आयोजित विवाहोत्सव के उपलक्ष्य में नगर में जहाँ-तहाँ तोरण, मण्डप, वेदियाँ रची गयी थीं; अनेक लता-फूल, वनस्पतियों के द्वार बने थे; ध्वजाओं और वन्दनवारों के सिंगार से नगर छा गया था; उस सारी सजावट में एक गहरा सन्नाटा गूँज रहा है। मानो नियति का व्यंग्य-अट्टहास अन्तहीन हो गया है। केवल बड़े-बड़े काँसे के धूप-दानों में जहाँ-तहाँ सुगन्धित धूप का धूम्र मौन-मौन लहराता-सा उठ रहा है। मन्दिरों के पूजा-पाठ और घण्टा-रव एकाएक मूक हो गये। देवताओं की वीतराग पाषाण प्रतिमाएँ, और भी अधिक वीत-रागता के रहस्य से भरकर मुसकरा उठीं! नागरिकों में चारों ओर अपार आश्चर्य, निरानन्द और कौतूहल छा गया है।

राज-प्रांगण में गम्भीर आतंक का सन्नाटा फैला है। राज-मन्दिरों पर घने विषाद का आवरण पड़ गया है। प्रासाद-मालाओं के छज्जों पर केवल कबूतरों

की गुटुर-गुटुर सुनाई पड़ती है, जो उस उदासी को और भी सघन और मार्मिक बना देती है। सिंहपौर पर केवल समय-सूचक नौबत काल के अनिवार चक्र की निर्मम सूचना देती है।

मनुष्य की वाणी ही आज मानो अपराधिनी बन गयी है। कभी कोई एकाकिनी प्रतिहारी, विशाल राज-प्रांगण को पार कर एक सौध से दूसरे सौध को जाती दिखाई पड़ती है। जीवन, कर्म, व्यापार, चेष्टा सब जड़ीभूत हो गया है। चारों ओर फैला है आतंक, अपराध, क्षोभ, रोष—समस्त राज-कुल के प्राण विकल पश्चात्ताप से हाय-हाय कर उठे हैं। नागरिकाओं और कुल-कन्याओं के वक्ष में एक शब्दहीन रुलाई गूँज रही है। प्राण-प्राण के तटों में जाकर अकल्पित दुख की यह कथा अशेष हो गयी है।

यह सब इसलिए कि यह कोई उड़ती हुई खबर नहीं थी। यह कुमार पवनंजय द्वारा स्वयं घोषित की गयी घोषणा थी। कुमार की जिस गुप्त प्रतिहारी ने, उनकी निश्चित आज्ञाओं के अनुसार इस घोषणा को नगर में फैलाया, उसके पास एक लिखित पत्रिका थी जिस पर कुमार के हस्ताक्षर थे। हवा के वेग से प्रतिहारी घूम गयी। लोग अवाक् रह गये—और देखते-देखते प्रतिहारी ग़ायब हो गयी। प्रजा में जन-श्रुति की तरह यह बात प्रसिद्ध है कि 'देव पवनंजय की हठ टलती नहीं है; उनका वचन पत्थर की लकीर होता है।' फिर वह तो लिपि-बद्ध घोषणा थी—जो कुमार ने स्वयं आग्रह-पूर्वक प्रकाशित की थी।

महादेवी केतुमती के आँसुओं का तार नहीं टूट रहा है। आस-पास आत्मीय, कुटुम्बी, परिजन, दासियाँ बारम्बार सम्बोधन के हाथ उठाकर रह जाते हैं। बोल किसी का फूट नहीं पाता है। क्या कहकर समझायें। सब निर्वाक् हैं और हृदय सभी के रुद्ध हैं।

महाराज प्रह्लाद राज-मन्त्रियों के साथ सवेरे से मन्त्रणा-गृह में बन्द हैं। प्रमुख द्वार भीतर से रुद्ध है, घण्टों हो गये नहीं खुला। महाराज ने सवेरे ही स्वयं महामन्त्री सौमित्रदेव को भेजा था कि जाकर वे पवनंजय को लिवा लायें। पर महामन्त्री निराश लौटे; कुमार अपने महल में नहीं थे। महाराज स्वयं पालकी पर चढ़ कर गये। 'अजितंजय-प्रासाद' का एक-एक कक्ष महाराज घूम गये पर कुमार का कहीं पता नहीं था। अश्वशाला में पवनंजय का प्रियतम तुरंग

'वैजयन्त' अपनी जगह पर नहीं था। महल के द्वार के दोनों ओर प्रतिहारियाँ क़तार बाँधे नत खड़ी थीं। महाराज के पूछने पर सिर उठाये और भय से थरथराती हुई वे मूक रह गयीं। वे रो पड़ीं और बोल न सकीं। महाराज उदास होकर लौट आये। चारों दिशाओं में सैनिक दौड़ाये गये, पर दिन डूबने तक भी कोई संवाद नहीं आया।

और विषाद के बादलों से ढककर जब आस-पास का सारा राज-वैभव मानो भू-लुण्ठित हो गया है, तब यह 'रत्नकूट-प्रासाद' इस सबके बीच खड़ा है—वैसा ही अचल, उन्नत, दीप्त रत्नों से जगमगाता हुआ! इसका तेज जरा भी मन्द नहीं हुआ है। दिन की चिलचिलाती धूप में वह और भी प्रखर, और भी प्रज्वलित होता गया है। कोई कान्तिमान् तरुण योगी मानो समाधिस्थ है; होंठों की वीतराग मुसकराहट में एक गहन रहस्यमयी करुणा है।

परिजनों की आँसू-भरी आँखें धूप में दहकते उस शिखर की ओर उठती हैं, पर ठहर नहीं पातीं; ढुलक जाती हैं, और आँसू सूख जाते हैं। इस प्रज्वलित अग्नि-मन्दिर के पास जाने का साहस किसी को नहीं हो रहा है। सारे मनों की करुणा, व्याकुलता, सहानुभूति अनेक धाराओं में उसके आस-पास चक्कर खाती हुई लुप्त हो जाती है।

दासियाँ और प्रतिहारियाँ महल की सीढ़ियों और खण्डों में पहेलियाँ बुझाती हुई बैठी हैं—पर ऊपर जाने की हिम्मत नहीं है।

छतवाले उसी शयन-कक्ष में बीच के बिल्लौरी सिंहासन की दायीं पीठिका के सहारे अंजना अधलेटी है। पास ही बैठी है उदास वसन्त; रो-रोकर चेहरा उसका म्लान हो गया है और आँखें लाल हो गयी हैं। पीछे खड़ी रत्नमाला मयूर-पंख का विपुल विजन धीरे-धीरे झल रही है।

अंजना की देह पर से राग-सिंगार, आभरण मानो आप ही झरे पड़ रहे हैं। उन्हें उतारने की चेष्टा नहीं की गयी है, वे तो निष्प्रभ होकर जैसे आप ही खिर रहे हैं। और जब वे पहनाये गये थे तब भी कब सचेष्टता के साथ सम्हाले गये थे। सुषमा के उस सरोवर में वे तो आप ही तैरने लगे थे और धन्य हो गये थे। दिन-भर आज खुली छत में शय्या के पास बैठ, अंजना ने सूर्यस्नान किया है। उसमें सारे रत्नाभरण और कुसुमाभरण उस देह से उठती ज्वालाओं में

गलित-विगलित होते गये हैं।

अब साँझ होते-होते वसन्त का वश चला है कि वह उसे उठाकर कक्ष में ले आयी है। बिल्लौरी सिंहासन पर सरोवर के जल-बिन्दुओं से आर्द्र, सद्यः तोड़े हुए कमल के पत्तों की शय्या बिछाकर उसपर अंजना को उसने लिटाना चाहा, पर वह बैठी है। पास ही मीना की चौकी पर पन्ने के चपकों में कर्पूर, मुक्ता और चन्दन के रस भरे रखे हैं; पर उन अंगों ने लेप नहीं स्वीकारा। सुगन्धि जलों और रसों की झारियाँ मुँह ताकती रह गयीं।

रत्नमाला ने कल घुमा दी; पन्ने के कल्प-वृक्षों से निकलकर शीतल सुगन्धित नीहार-लोक कमरे में छा गया। अंजना के तप्तोज्ज्वल मुख पर अपार शान्ति है। गलित-स्वर्ण-सी पसीने की धारें कहीं-कहीं उस अरुणाभा में सूख रही हैं। सघन बरौनियों के भीतर घन पल्लव-प्रच्छाय किसी अतलान्त वन्य वापिका के जल-सी वे आँखें कभी उठकर लहरा जाती हैं और फिर ढुलक जाती हैं।

अंजना के माथे पर हलके से हाथ फेरती हुई वसन्त बोली—

"अंजन, तेरे हृदय के अमृत तक नहीं पहुँच सका वह अभागा पुरुष! इसी से तो झुँझलाहट की एक ठोकर शून्य में मारकर वह चला गया है।...पर नारी की देह लेकर—"

कहते-कहते फिर वसन्त का गला भर आया; विह्वल होकर उसने अंजना को अपनी गोद में खींच लिया और उसका मुख वक्ष में भर मुँदी आँखों के वे बड़े-बड़े पलक चूम लिये। उस ऊष्मा में अंजना की वे सुगोल सरल आँखें भरपूर खुलकर वसन्त की आँखों में देख उठीं और फिर ढुलक गयीं। मुहूर्त मात्र में वह वसन्त को अपने अन्तर्लोक में खींच ले गयी।

"भूल हो गयी है जीजी, मुझी से भूल हो गयी है। मैंने अपनी आँखों से देखा था कल रात—उस इन्द्रनील शिला के फ़र्श में! छाया की उस कन्या को मैं अपने सुख-सुहाग के गर्व में पहचान न सकी। पर मैं ही अभागिनी तो थी वह! टूटती ही गयी—टूटती ही गयी। अनन्त लहरों में चूर-चूर होकर मैं बिखर गयी। और मैंने देखा, वे आलोक के चरण आ रहे हैं! पर मैं पहुँच न सकी जीजी उन तक। देखो न वे तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं तो चूर-चूर हुई जा रही हूँ। देखो न जीजी मैं अभागिन।"

कहते-कहते अपने दोनों हाथ अंजना ने शून्य में उठा दिये। और वसन्त ने देखा, उसकी दोनों आँखों से आँसू अविराम झर रहे हैं। लगा कि वह ध्वनि मानो किसी सुदूर की गम्भीर उपत्यका से आ रही थी।

"अंजन—मेरी प्यारी अंजन! यह कैसा उन्माद हो गया है तुझे? मेरी अंजन,......."

कहते-कहते वसन्त ने अंजना के दोनों उठे हुए हाथों को बड़ी मुश्किल से समेटकर, फिर उसके चेहरे को अपने वक्ष में दाब लिया।

"पर जीजी भूल मुझी से हुई है। बार-बार तुमसे मन की बात कहनी चाही है—पर न कह सकी हूँ। मोह की मूर्च्छा में अपनी तुच्छता को भूल बैठी, इसी से यह अपराध हो गया है, जीजी! देखो न, वे चरण तो चले ही आ रहे हैं, पर मैं ही नष्ट हुई जा रही हूँ—टूटी जा रही हूँ। उन चरणों के आने तक यदि चुक ही जाऊँ तो मेरा अपराध उनसे निवेदन कर, मेरी ओर से क्षमा माँग लेना, जीजी!"

वसन्त से बोला नहीं गया। उसने अंजना का बोलता हुआ मुँह और भी भींचकर छाती से दाब लिया, फिर धीमे से कहा—

"चुप....चुप....चुप कर अंजनी।"

कुछ क्षण एक गहरी शान्ति कमरे में व्याप गयी। तब अंजना को अपनी गोद पर धीमे से लिटाकर, वसन्त हलके हाथ से उसके ललाट पर चन्दन-कर्पूर और मुक्ता-रस का लेप करने लगी।

[९]

यह है कुमार पवनंजय का 'अजितंजय-प्रासाद'। राजपुत्र ने अपने चिर दिन के सपनों को इसमें रूप दिया है। अबोध बालपन से ही कुमार में एक जिगीषा जाग उठी थी—वह विजेता होगा। वय-विकास के साथ यह उत्कण्ठा एक महत्त्वाकांक्षा का रूप लेती गयी। ज्ञान-दर्शन ने सृष्टि की विराटता का वातायन खोल दिया। युवा कुमार की विजयाकांक्षा सीमा से पार हो चली: वह मन ही मन सोचता—वह निखिलेश्वर होगा—वह तीर्थंकर होगा!

इस महल में कुमार ने अपने उन्हीं सपनों को सांगोपांग किया है। महाराज ने पुत्र की इच्छाओं को साकार करने में कुछ भी नहीं उठा रखा। विपुल द्रव्य खर्च कर, द्वीपान्तरों के श्रेष्ठ कलाकारों और शिल्पियों द्वारा इस महल का निर्माण हुआ है।

दूर पर विजयार्द्ध की उत्तुंग शृंग-मालाएँ आकाश की नीलिमा में अन्तर्धान हो रही हैं। और उनके पृष्ठ पर खड़ा है यह गर्वोन्नत 'अजितंजय-प्रासाद'—अपनी स्वर्ण-चूड़ाओं से विजयार्ध की चोटियों का मान मर्दन करता हुआ।

पार्वत्य-प्रदेश के ठीक सीमान्त पर, जहाँ से समतल भूमि आरम्भ होती है, एक विस्तृत टीले पर यह महल बना है। राज-मन्दिर से यहाँ तक आने के लिए विशेष रूप से एक सड़क बनी है; दूसरा कोई रास्ता यहाँ नहीं पहुँच सकता। महल के सामने ऊँचे तनेवाली सघन वृक्षराजियों से भरा एक रम्य उद्यान है। और उसके ठीक पीछे, पादमूल में ही आ लगा है वह पहाड़ियों से भरा बीहड़ जंगल। किसी प्राचीर या मुंडेर से उसे अलग नहीं किया गया है। महल के पूर्वीय वातायन ठीक उसी पर खुलते हैं। कृत्रिम का यह सीमान्त है, और प्रकृति का आरम्भ। ठीक महल की परिखा पर वे भयावनी वन्य-झाड़ियाँ झुक आयी हैं। महल को चारों ओर से घेरकर यह जो कृत्रिम परिखा बनी है, वह देखने में बिलकुल प्राकृतिक-सी लगती है। बड़े-बड़े भीमाकार शिलाखण्ड और चट्टानें उसके किनारे अस्त-व्यस्त बिखरे हैं, जिनमें पलाश और करौंदों की घनी झाड़ियाँ उगी हैं। विशद परिखा के अन्दर हरा-नीला पुरातन जल बारहों महीने भरा रहता है; बड़े-बड़े कछुए, अजगर, मच्छ और केकड़े उसमें तैरते दिखाई पड़ते हैं।

इस परिखा के बीच कज्जल और भूरे पाषाणों के आठ विशाल दिग्गजों की कुरसी बनी है, जिस पर 'विजेता' का यह प्रासाद झूल रहा है। नौ खण्डों के इस महल में चारों ओर अगणित द्वार-खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं; जिनमें से आर-पार झाँकता हुआ आकाश मानो खण्ड-खण्ड होता दिखाई पड़ता है। अनेक पार्वत्य नदियों के प्रवाहों में पड़े हुए, निरन्तर लहरों के जल-संघात से चित्रित हरे, नीले, जामुनी और भूरे पाषाणों से इस महल का निर्माण हुआ है। पहले ही खण्ड में चारों ओर महल को घेरकर जो मेखला-सी गवाक्ष-माला बनी है, उसके सम्बलों में सप्त-धातु की मोटी-मोटी शृंखलाएँ लटक रही हैं, जो

कुरसी के दिग्गजों के कुम्भस्थलों को बाँधे हुए हैं। महल के सर्वोच्च खण्ड पर पंच मेरुओं के प्रतीक स्वरूप सोने के पाँच भव्य शिखर हैं, जिन पर केशरिया ध्वजाएँ उड़ रही हैं। सामने की ओर परिखा को पाटता हुआ जो महल का प्रवेश-द्वार है, उसके दोनों ओर सजीव-से लगनेवाले सोने के विशाल सिंह बने हैं।

पीछे के वन्य-प्रदेश में दूर पर कुछ पहाड़ियों से घिरी एक प्राकृतिक झील पड़ी है। गुहाओं में झरती हुई पानी की झिरियाँ वनों में होकर झील में आती रहती हैं, जिससे झील का पानी कभी सूखता नहीं है। झील के दोनों ओर के तट-भागों में सघन अटवियाँ फैली हैं। महल के पूर्वीय वातायन पर खड़े होकर देखा जा सकता है कि कभी चाँदनी रात में या फिर किसी शिशिर की दोपहरी में सिंह झील के किनारे पानी पीने आते हैं। वह प्रदेश प्रायः निर्जन-सा है, क्योंकि वहीं से विजयार्ध की वे दुर्गम खाइयाँ और विकट अरण्य-वीथियाँ शुरू हो गयी हैं—जो आस-पास के जन-समाज में प्रायः अगम्य मानी जाती हैं और जिनके सम्बन्ध में लोक में तरह-तरह की रहस्य-भरी कथाएँ प्रचलित हैं।

भय और मृत्यु की घाटियों पर आरूढ़ यह 'जेता' का स्वप्न-दुर्ग है। देव पवनंजय यहाँ अकेले रहते हैं—सिर्फ़ कुछ प्रतिहारियों के साथ। पुरुष यहाँ वही अकेला है—दूसरा कोई नहीं। दिशाएँ उसकी सहचरियाँ हैं और सपने उसके साथी।

पौ अभी नहीं फटी है। प्रतिहारियाँ दालान में ऊँघ रही हैं। द्वार के सिंह से सटकर जो पुरुष सीढ़ियों पर बैठा है, वह अखण्ड रात जागता बैठा रहा है। अभी-अभी सवेरे की ताज़ी हवा में उसकी आँख झपक गयी है।

अचानक घोड़े की टाप सुनकर वह पुरुष चौंका। उसने गरदन ऊपर उठाकर देखा। घोड़े से उतरकर पवनंजय क्षण-भर सहम रहे। फिर एक झटके के साथ वे आगे बढ़ गये और दुर्निवार वेग से महल की सीढ़ियाँ चढ़ गये। उसी वेग में बिना मुड़े ही कहा—

"ओह, प्रहस्त ! अ....आओ...."

प्रतिहारियाँ हड़बड़ाकर उठीं और अपने-अपने स्थान पर प्रणिपात में नत हो गयीं। 'देव पवनंजय की जय' का एक कोमल नाद गूँज उठा। उस भव्य

दीवानखाने में अनेक स्तम्भों और तोरणों को पार करते हुए तीर के वेग से पवनंजय सीधे उस सिंहासन पर जा पहुँचे, जो उस सिरे पर बीचोंबीच आसीन था। अमूल्य नागमणियों से इस सिंहासन का निर्माण हुआ है। महानीलमणि के बने नागों के विपुलाकार फणा-मण्डल ने इसपर छत्र ताना है, जिसमें गज-मुक्ताओं की झालरें लटक रही हैं। सहस्र-नाग के फनों और वराहों की पीठ पर यह उठा हुआ है। पैर के पायदान के नीचे चितकबरे पाषाणों के दो विशाल सिंह जबान निकालकर बैठे हैं; और किसी तीव्र आग्नेय मणि से बनी उनकी आँखें आतंक उत्पन्न करती रहती हैं। सिंहासन की मूल वेदिका के दोनों ओर जो कटघरे बने हैं, उनमें क्रम से सूर्य और चन्द्र की अनुकृतियाँ बनी हैं।

पीछे की दीवार में रत्नों का एक उच्च वातायन है, जिसमें आदि चक्रवर्ती भरत की एक विशाल सूर्यकान्त मणि की प्रतिमा विराजमान है। उसके पाद-प्रान्त में चक्र-रत्न नाना रंगी प्रभाओं से जगमगाता घूम रहा है।

उधर उदयाचल पर 'अजितंजय-प्रासाद' के भामण्डल-सा सूर्य उदय हो रहा है।

छत्र के फणा-मण्डल पर कुहनी रखकर पवनंजय खड़े रह गये। सुदृढ़ प्रलम्बमान देह-यष्टि पर कवच और शस्त्रास्त्र चमक रहे हैं। कुंचित अलकावलि अस्त-व्यस्त बिखरी है और उसपर एक कुम्हलाये श्वेत वन्य-फूलों की माला पड़ी है। ललाट पर बालों की एक लट दोनों भौंहों के बीच कुण्डली मारी हुई नागिन-सी झूल रही है; लाख हटाने से भी वह हटती नहीं है।

प्रहस्त चुपचाप पीछे चले आये थे। उन्हें एक हाथ के इंगित से ऊपर बुलाते हुए लापरवाह मुसकराहट से पवनंजय बोले—

"आओ प्रहस्त, कुशल तो है न....?"

प्रहस्त ऊपर चढ़कर अपने सदा के आसन पर बैठ गये, धीरे से बोले—"साधुवाद पवन! कुशल तो अब तुम्हारी कृपा के अधीन है। मेरी ही नहीं, समस्त आदित्यपुर के राजा और प्रजा की कुशल तुम्हारे भ्रू-निक्षेप की भिखारिणी बन गयी है!"

प्रहस्त ने देखा पवनंजय के चेहरे पर गहरे संघर्ष की छाया है। वह शून्य से जूझ रहा है। अपनी ही छाया के पीछे वह भाग रहा है। उसके पैर धरती पर

नहीं हैं—वह अधर में हाथ-पैर मार रहा है। वह चट्टानों से सिर मारकर आया है। उसका अंग-अंग चंचल और अधीर है। अपने भीतर की सारी कशमकश को भौंहों में सिकोड़कर पवनंजय ने उत्तर दिया—

"अधीन! अधीन कुछ नहीं है, प्रहस्त। कोई किसी के अधीन नहीं है। अपने सुख-दुख, जन्म-मरण के स्वामी हम-आप हैं। मोह से हमारा ज्ञान-दर्शन आच्छन्न हो गया है; इसी से हम निज स्वरूप को भूल बैठे हैं। अपना स्वामित्व खो बैठे हैं, इसी से यह अधीनता और दयनीयता का भाव है। किसी की गति-विधि दूसरे पर निर्भर नहीं। वस्तु-मात्र अपने ही स्वभाव में परिणमनशील है; और मेरी तो क्या बिसात स्वयं तीर्थंकर और सिद्ध भी उसे नहीं बदल सकते...."

"ठीक कह रहे हो पवन! वह तो हमारे ही अज्ञान का दोष है। पिछले कुछ दिनों में तुम जिस गुणस्थान तक पहुँच गये हो वहाँ तक हमारी गति नहीं। सारे सम्बन्धों से परे तुम तो निश्चय-ज्ञानी हो गये हो। और हम तो साधारण संसारी मानव हैं; राग-कषाय, मोह-ममता, दया-करुणा से अभिभूत हैं। तुम सम्यक्-द्रष्टा हो गये हो—और मैं मिथ्यात्वों से प्रेरित लोकाचार की व्यावहारिक वाणी बोल रहा हूँ। वह तुम्हारे निकट कैसे सच हो सकती है, पवन! मेरी धृष्टता के लिए मुझे क्षमा कर देना।"

इस्पात के कवच में बँधा पवनंजय का वक्ष अभी भी रह-रहकर फूला आ रहा था। मानो भीतर कुछ घुमड़ रहा है जो सीना तोड़कर बाहर आया चाहता है। आँखें उसकी लाल हुई जा रही हैं। मस्तक में आकर खून पछाड़ें खा रहा है। प्रहस्त का साहस नहीं है कि इस पवनंजय से बैठने को कहे—

"अपनी पहुँच के बारे में मैं किसी का मत सुनने को ज़रा भी उत्सुक नहीं हूँ। क्योंकि सिद्धि सारे मतामत से परे है। मैं तो पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता की बात कह रहा था। पदार्थ का स्वभाव मेरी पहुँच की अपेक्षा नहीं रखता। वस्तु पर मैं अपने को लादना नहीं चाहता। ममकार से परे हटाकर ही सत्ता के निसर्ग रूप का दर्शन हो सकता है। कहना चाहता हूँ, किसी के भी प्रति दायित्ववान् होना निरा दम्भ है, और मैं उससे छुट्टी चाहता हूँ! स्वयं नहीं बँधना चाहता हूँ, इसी से किसी को बाँधकर भी नहीं रखना चाहता। बिजयार्ध की चोटियों को अपने में डुबाकर भी यह आकाश वैसा ही निर्लेप है; और वे चोटियाँ

अपने को खोकर भी वैसी ही उन्नत हैं—वैसी ही अम्लान ! यही मेरा निस्संग मुक्ति-मार्ग है। कोई इसे क्या समझता है—यह जानने की चिन्ता मुझे ज़रा भी नहीं है, यह तुम निश्चय जानो, प्रहस्त !"

"और उस निस्संग मुक्ति-मार्ग पर कितनी दूर अपनी जय-ध्वजा गाड़कर अभी लौटे हो, पवन ? शायद 'रत्नकूट-प्रासाद' तक पहुँचने के लिए तुम्हें कई दुर्लंघ्य पर्वत और समुद्रों को पार करना पड़ा है ! तुम्हारी यह परेशान सूरत और ये बिखरी अलकें इस बात की साक्षी दे रही हैं। योद्धा का अभेद्य कवच अपनी जगह पर है, पर माथे पर शिरस्त्राण नहीं है और खड्ग-यष्टि में खड्ग नहीं है। अंजना पर विजय पा लेने के बाद शायद योद्धा इनकी जरूरत से उपरत हो गया है !"

एक ज़ोर के लापरवाह झटके से सिर के बालों को झकझोरकर पवनंजय सिंहासन की पीठ के सहारे जा खड़े हुए और दोनों बाँहों को छत्र के फणा-मण्डल पर पूरा पसार दिया। भौंहों के कुंचन में अपने को सम्हालते हुए दीवानखाने के द्वार की ओर उँगली उठाकर बोले—

"उस ओर देखो प्रहस्त ! विजयार्द्ध के श्रृंगों पर नवीन सूर्य का उदय हो रहा है। हर नवीन सूर्योदय के साथ मैं नवीन जय-यात्रा का संकल्प करता हूँ। जो मंज़िल विगत हो चुकी है—उसका अब क्या ज़िक्र और कैसी चिन्ता ? दिनों बीत गये उस कथा को। बिदा होने से पहले मानसरोवर के तट पर एक शिला-चिह्न गाड़ आया था। उस अतीत क्षण की याद उसे कुछ हो तो हो; चाहो तो जाकर उससे पूछो। पर समय के प्रवाह में अब तो वह भी उखड़ गया होगा। सत् पल-पल उठ रहा है—मिट रहा है—और अपने निज रूप में ध्रुव होते हुए भी वह प्रवहमान है। सत्ता स्वतन्त्र है और निरन्तर गतिशील है। विगत, आगत और अनागत से परे वह चल रही है। प्रगति-मार्ग का राही पीछे मुड़कर नहीं देखता। परम्परा राग-ममकार के कारण है—और उससे मैं छुट्टी ले चुका हूँ। जो पल ठीक अभी बीत चुका है, उसका ही मैं नहीं हूँ तो कल का क्या ज़िक्र—?"

"मेरी धृष्टता को क्षमा करना पवनंजय, एक बात से सावधान किया चाहता हूँ। आत्म-स्वातन्त्र्य के इस आदर्श की ओट में कहीं दुर्बल का हीन अहंकार न

पल रहा हो? आत्म-रमण के सुन्दर नाम के आवरण में व्यक्ति की उच्छृंखल इच्छाओं का नग्न प्रत्यावर्तन न चल रहा हो? आत्मा और अहं का अन्तर जानना ही सबसे बड़ा भेद-विज्ञान है। स्व-पर के भेद-विज्ञान में दम्भ और स्वार्थ को काफ़ी अवसर हो सकता है। आत्मा मात्र स्व है और अनात्मा मात्र पर है। अनात्म शरीर के उपचार से अन्य की आत्मा को 'पर' कहकर दायित्व से मुँह मोड़ना स्वार्थी का पलायन है! वह भीरुता है—वह निर्वीर्यता और असामर्थ्य का चिह्न है। सबसे बड़ा ममकार अपने 'मैं' को लेकर ही है! सबको त्याग कर जो अपने 'मैं' को प्रस्थापित करने में लगा है, वह वीतरागी नहीं; वह सबसे बड़ा भोगी और रागी है। वह ममता का सबसे बड़ा अपराधी है। अपने 'मैं' को जीत लो, और सारी दुनिया विजित होकर तुम्हारे चरणों में आ पड़ेगी। मुक्ति विमुखता नहीं है, पवन, वह उन्मुखता है। अपने आपमें बन्द होकर शून्य में भटक जाने का नाम मुक्ति नहीं है; समग्र चराचर को अपने भीतर उपलब्ध कर लेना है—या कि उसके साथ तदाकार हो जाना है। इस 'मैं' को मिटा देना है, बहा देना है, अणु-अणु में रमाकर एक-तान कर देना है—?" बीच ही में अधीर होकर पवनंजय बोल उठे—

"मुक्ति का मार्ग किसी निश्चित सड़क से नहीं गया है, प्रहस्त। मेरा मार्ग तुमसे भिन्न हो सकता है। आत्म-साधना का मार्ग हर व्यक्ति का अपना होता है; मित्र की सलाह उसमें कुछ बहुत काम नहीं आती। अपना दर्शन अपने तक ही रहने दो तो अच्छा है। दूसरों पर वह लादना भी एक प्रकार का दुराग्रह ही होगा।"

"तो अपनी एक जिज्ञासा का उत्तर मैं योगीश्वर पवनंजय से पाया चाहता हूँ—फिर यहाँ से चला जाऊँगा। राग-ममकार से परे सत्ता की स्वतन्त्रता की प्रतीति जिस पवनंजय ने पा ली है—उसके निकट किसी भी पर वस्तु के ग्रहण और त्याग का प्रश्न ही क्यों उठ सकता है? जिस अंजना का ग्रहण उनके निकट अप्रस्तुत है, उसके त्याग की घोषणा करने का मोह उन्हें क्यों हुआ? और जिस मंज़िल की समाप्ति वे मानसरोवर के तट पर ही चिह्नित कर आये थे—इतने दिनों बाद परसों फिर आदित्यपुर नगर में उसे घोषित करने का आग्रह क्यों?"

पवनंजय के ललाट की नसें तनी जा रही थीं। अनजाने ही वे मुट्ठियाँ बँध गयीं, भौंहें तन गयीं। कड़ककर एकाएक वे बोले—

"पवनंजय की हर भूल उसका सिद्धान्त नहीं हो सकती। और व्यक्ति पवनंजय की हर ग़लती के लिए कैफ़ियत देने को विजेता पवनंजय बाध्य नहीं है। सिद्धान्त व्यक्ति से बड़ी चीज़ है! मैं व्यक्तियों की चर्चा में नहीं उलझना चाहता। व्यक्ति-जीवन अवचेतन के अँधेरे स्तरों में चलता है। और देखो प्रहस्त, एक बात तुम और भी जान लो; जिस अपने सखा पवनंजय को तुम चिर दिन से जानते थे, उसकी मौत मानसरोवर तट पर तुम अपनी आँखों आगे देख चुके हो। उसे अब भूल जाओ यही इष्ट है। और भविष्य में उस पवनंजय की खोज में तुम आये तो तुम्हें निराश होना पड़ेगा—"

कहकर दोनों हाथ से अभिवादन किया और बिना प्रत्युत्तर की राह देखे पवनंजय सिंहासन से नीचे कूद गये। उसी वेग में सनसनाते हुए दीवानखाना पार किया और आयुधशाला का द्वार खोल नीचे उतर गये।

प्रहस्त की आँखों में जल भर आया। वह चुप-चाप वहाँ से उठकर धीरे-धीरे चला आया।

[१०]

महादेवी केतुमती का कक्ष।

पहर रात बीत चुकी है। महारानी पलंग पर लेटी हैं। सिरहाने एक चौकी पर महाराज चिन्तामग्न, सिर झुकाये बैठे हैं। कुहनी शय्या पर टिकी है और हथेली पर माथा ढुलका है। कभी-कभी रानी की अथाह व्यथा-भरी आँखों में वे अपने को खो देते हैं। रानी की आँखें प्रश्न बनकर उठतीं हैं—उत्तर में राजा खामोश आँसू-से ढल पड़ते हैं। इस बेबूझता में वचन निरर्थक हो गया है, बुद्धि गुम है। चारों ओर विपुल वैभव की जगमगाहट परित्यक्त, म्लान और अवमानित होकर पड़ी है। रत्नदीपों का मन्द आलोक ही उस विशाल कक्ष में फैला है।

एकाएक द्वार खुला। देखा, पवनंजय चले आ रहे हैं—अप्रत्याशित और

अनायास। महाराज ने चौंककर सिर उठाया। महादेवी माथे पर आँचल खींचती हुई उठ बैठीं। पवनंजय बिलकुल पास चले आये। चुपचाप विनयावनत हो पिता के चरणों में नमन किया। फिर माँ के पैर छुए और पलंग के किनारे बैठ गये। कुमार की वे गर्विणी आँखें उठ नहीं सकीं—एक बार भी नहीं। मूर्तिवत् जड़ वे बैठे रह गये हैं। हाथ की अंगुलियाँ मुट्ठी में बँध आना चाहती हैं, पर बँध नहीं पा रही हैं; वे चंचल हैं और काँप रही हैं। माता और पिता एकटक पुत्र का वह चेहरा देख रहे हैं, जो उस नम्रता में भी दृप्त है। भय और विषाद की गहरी छाया से वह मुख अभिभूत है। मोतियों की हलकी-सी लड़ उन कुटिल अलकों को बाँधने का विफल प्रयत्न कर रही है। एक गहरा जामुनी उत्तरीय कन्धे पर पड़ा है। देह निराभरण है; केवल एक महानील मणि का वलय बायीं भुजा पर पड़ा हुआ है।

पिता ने बालपन से ही कुमार को बहुत माना है। अपार मान-सम्भ्रम के क्रोड़ में उन्होंने पवनंजय को परवरिश किया है। पवन की इच्छा के ऊपर होकर महाराज की कोई इच्छा नहीं रही है। पवन की हर उमंग वे दोनों हाथों से झेलते थे। और उसकी हर अनहोनी माँग को पूरा करने के लिए सारा राज-परिकर हिल उठता था। राजा को पवन में देवता की असाधारणता का आभास होता था; और इसी लिए कुमार का कोई भी कृत्य उनके निकट शिरोधार्य था। उसमें मीन-मेष नहीं हो सकती थी। पर अंजना-सी वधू का त्याग—? महाराज की बुद्धि सोचने से इनकार कर रही थी। उन्हें विश्वास नहीं हो सकता था कि पवन यह कर सकता है। और यह पवन भी सामने प्रस्तुत है! चाहें तो पूछ सकते हैं। नहीं, पर वह उनका बुलाया नहीं आया है। पहर रात बीतने पर अन्तःपुर के महल में, वह माँ से मिलने को ही शायद चुपचाप आ गया है।

राजा के मन में कोई प्रश्न नहीं उठ रहा है; वे कोई कैफ़ियत नहीं चाहते। उसकी कल्पना भी उन्हें नहीं हो सकती है। बस, वे तो इस चेहरे को देखकर व्यथा से भर आये हैं। इस लाड़ले मुखड़े को, जिसके पीछे न जाने कौन विषम संघर्ष चल रहा है, अपने अन्तर में ढाँक लेना चाहते हैं; दुनिया की नजरों से हटा लेना चाहते हैं। पर वे अपने को अनधिकारी पाने लगे। उन्हें डर हुआ कि वे

कहीं पागलपन में ग़लती न कर बैठें।....नहीं, उनका यहाँ एक क्षण भी ठहरना उचित नहीं। माँ और बेटे के बीच उनका क्या काम? बिना कुछ कहे वे एकाएक उठकर चल दिये। रानी ने रोका नहीं। पवनंजय निश्चेष्ट थे।

माँ का हृदय किनारे तोड़ रहा था, पुत्र का वह गम्भीर, म्लान चेहरा देखकर। बरसों का सोया दूध आज मानो उमड़ा आ रहा है। पिता के अधिकार की सीमा हो तो हो, पर जननी के अधिकार से बड़ा किसका अधिकार है? पर वक्ष का उमड़ाव और भुजाओं का विह्वल वात्सल्य चपेट-सी खाकर रह जाता है—पुत्र के दृप्त ललाट पर—दोनों घनी भौंहों के बीच उठे उस अर्धचन्द्राकार कालागुरु के तिलक पर।

यह कोख का जाया, क्यों पराया हो उठा है? रानी का हृदय मानो बुझता ही जाता है, डूबता ही जाता है, और फिर बिजली-सा प्रज्वलित हो उठ रहा है। वह अपने मातृत्व के अधिकार को हार बैठी है। पर वही तो है यह पवन, आप ही ललककर तो माँ की गोद की शरण आया है। गोद फड़क उठती है कि अभी पास खींचकर छाती से लगा लेंगी। कि उसी अविभाज्य क्षण में हिम्मत टूट गयी है—भुजाएँ ढीली पड़ गयी हैं। पुत्र के ऊपर होकर पुरुष,—दुर्जेय दुर्निवार, दुरन्त पुरुष का आतंक सामने एक चट्टान-सा आ जाता है।

गहरी निःश्वास छोड़कर माता ने सारी शक्ति बटोर, भर्राये कण्ठ से पूछा—

'पवन, माँ से छुपाओगे? बोलो....मेरे जी की सौगन्ध है तुम्हें!"

पवन ने पहली बार आँखें माँ की ओर उठा दीं। उन आँखों में कुहरा छाया है; वे थमी हैं अपलक। बियाबानों की भयावनी शून्यता है उनमें; दुर्गम कान्तारों की बीहड़ता है और पत्थरों की निर्ममता। बेरोक खुली है वह दृष्टि, पर उसे भेदकर उस बेटे के हृदय तक पहुँचना माँ के बस का नहीं है।

कुछ क्षण सन्नाटा बना रहा। पवनंजय ने चित्त के स्वस्थ होने पर ज़रा कण्ठ का परिष्कार कर कहा—

"अपने बेटे को नहीं पहचानती हो माँ? अपने ही अन्तरंग में झाँक देखो, अपनी ही कोख से पूछ देखो—मुझसे क्यों पूछ रही हो?"

"बेटा, अभागिनी माँ की ऐसी कठोर परीक्षा न लो। तुम्हें जनकर ही यदि उससे अपराध हो गया है तो उसे क्षमा कर दो! शायद तुम्हारी माँ होने योग्य

नहीं थी मैं अभागन, इसी से तो नहीं समझ पा रही हूँ।"

पवनंजय की आँखों में जो रहस्य का कुहरा फैला था, वह मानो धीरे-धीरे लुप्त हो गया है। और आँखों के किनारों पर पानी की लकीरें चमक रही हैं—जैसे विद्युल्लेखाएँ वर्षा के आकाश में स्थिर हो गयी हों।

"माँ, बेटे को और अपराधी न बनाओ। उसे यों ठेले दे रही हो? फिर एक बार चूक गया। इस गोद में शरण खोजने आया था—पर शरण कहाँ है? वह झूठ है—वह मरीचिका है। सत्य है केवल अशरण! नहीं, इस गोद में शरण पाने योग्य अब मैं नहीं रहा हूँ माँ। मुझे क्षमा कर देना, कहने को मेरे पास कुछ नहीं है—।"

कहकर पवनंजय छत को फटी आँखों से ताकते रह गये। पानी की वे विद्युल्लेखाएँ आँखों के किनारों पर अचल थमी थीं।

"पवन यह क्या हो गया है मुझे? तुझे पहचान नहीं पा रही हूँ। मेरी कोख कुण्ठित हो गयी है—मेरा अन्तरंग शून्य हो गया है। अपनी माँ के हृदय पर विश्वास करो, पवन। वहाँ तुम्हारे मन की बात अन्तिम दिन तक छुपी रहेगी। कहीं भी जाओ—चाहे मौत से खेलने जाओ, पर मुझसे कहकर जाना; जीत सदा तेरी होगी।"

क्षणैक चुप रहकर माता ने फिर सजल आँखों से पवन की ओर देखा; उसके कन्धे पर हाथ रख दिया और बोली—

"अपना दुख माँ से कहने में हार नहीं होगी बेटा, कहो, कहो, कह दो, पवन।"

कहते-कहते पवनंजय का कन्धा झकझोड़ डाला और भर्रा आये कण्ठ में वाणी डूब गयी। एक बार पवनंजय के जी में एक वेग-सा आया कि कह दे, पर फिर दबा गया। ज़रा स्वस्थ होकर बोला—

"इसे प्रबल भोगान्तराय का उदय ही मानो, माँ, मन का रहस्य तो केवली जानते हैं। अपने इस अभागे मन को मैं ही कब ठीक तरह समझ पाया हूँ? यह जीवन ही अन्तराय की एक दीर्घ रात्रि है, और क्या कहूँ। और अपने बेटे के वीर्य और पुरुषार्थ पर भरोसा कर सको तो यह मान लो कि उसके लिए भोग्य लावण्य इस संसार में नहीं जन्मा है और नहीं जन्मेगा। अपने से बाहर के किसी

पदार्थ का यदि उपकार मैं नहीं कर सकता हूँ, तो उससे खिलवाड़ करने का मुझे क्या हक़ है।....अपने उस चरम भोग्य की खोज में जाना चाहता हूँ, माँ। आशीर्वाद दो कि उसे पा सकूँ और तुम्हारे चरणों में लौट आऊँ।"

कहकर पवनंजय ने माथा माँ के चरणों में रख दिया। माँ की आँखों से चौंसठ-धार आँसू बह रहे हैं। बेटे के माथे पर हाथ रख, उन अलकों को सहलाती हुई बोलीं—

"त्रिलोकजयी होओ बेटा, पर मुझसे कहते जाओ।"

पवनंजय ने फिर एक बार पैर छू लिये, पर कहा कुछ नहीं। माँ उमड़ती आँखों से आँसू पोंछती ही रह गयी। कुमार ने संकेत से जाने की आज्ञा माँगी, और निःश्वास छोड़कर बिना एक क्षण ठहरे, निर्मम भाव से चल दिये।

घोड़े पर चढ़कर जब अकेले, अपने महल की ओर उड़े जा रहे थे, तब राह के अन्धकार में दो आँसू टपककर बुझ गये। बिजलियाँ पानी हो गयीं।

[११]

आषाढ़ का अपराह्न ढल रहा है। विजयार्द्ध के सुदूर पूर्व शिखरों पर मेघमालाएँ झूम रही हैं। गिरि-वनों में होकर बादलों के यूथ मतवाले हाथियों-से निकल रहे हैं। गुलाबी बिजलियाँ कुमारी-हृदय की पहली मधुर पीर-सी रह-रहकर दमक उठती हैं।

अंजना अपनी छत के पश्चिमीय वातायन में अकेली बैठी है। इन दिनों प्रायः वह अकेले ही रहना पसन्द करती है। इसी से वसन्त भी पास नहीं है। ये युवा बादल उड़ते ही चले जा रहे हैं—चले ही जा रहे हैं। कहाँ जाकर रुकेंगे—कुछ ठीक नहीं है। इसी तरह जीवन के ये दिन, मास, वर्ष बीतते चले जा रहे हैं—विराम कहाँ है—कौन जानता है?

उन्हीं बादलों के आवरण में जीवन के बीते वर्षों की सारी स्मृतियाँ स्वप्न-चित्रों-सी सजल होती गयीं। कहाँ हैं महेन्द्रपुर के वे राज-प्रासाद? कहाँ है माता-पिता की वह वात्सल्यमयी गोदी? अंजना की एक-एक उमंग पर स्वर्गों का ऐश्वर्य निछावर होता था। सुर-कन्याओं-सी सौ-सौ सखियाँ उसके एक-एक

पद-निक्षेप पर हथेलियाँ बिछातीं। और वे बालापन के मुक्त आमोद-प्रमोद और क्रीड़ाएँ! दन्ति-पर्वत की तलहटीवाले 'ऐन्द्रिला' उद्यान में वे बादल-बेलाएँ, वह कोयल की टेरों के पीछे दौड़ना, वह बादलों में प्रीतम का रथ खोजने की सखियों में होड़ें, वह वापिकाओं के पालित हंसों के पंखों पर वाहन, वे वर्षा, वसन्त और शारदोत्सव के विस्तृत आयोजन, वह वसन्त की सन्ध्याओं में दन्ति-पर्वत के किसी शिखर पर अकेले बैठकर मुक्त हवाओं के बीच वीणा-वादन, वह 'मादन-सरोवर' के प्राकृतिक मर्मर-घाटों में स्नान-केलि के आनन्द!........सपनों का एक जुलूस-सा आँखों में तैरता निकल गया। दूर—कितनी दूर चला गया है वह सब; लगता है, विस्मृति के गर्भ में सोये जाने किन विगत भवान्तरों की कथाएँ हैं वे। प्रमाद के रिक्त क्षण की एक छलना-भर है वह। उससे अब कहीं उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पर उस सारे अपनत्व को त्याग कर, जिसके पीछे-पीछे वह इस परिचित अनात्मीय देश में चली आयी है—वह कौन है, और वह कहाँ है? वह उसे ठीक-ठीक पहचानती भी नहीं है, पर सुना है उस प्रीतम ने उसे त्याग दिया है। लेकिन इस क्षण तक भी इस बात की प्रतीति उसे नहीं हो रही है। भीतर की राह वह आ रहा है और अन्तर के वातायन पर उसकी आती हुई छबि कभी ओझल नहीं हुई है........!

कि एकाएक अंजना की दृष्टि अपनी देह पर पड़ गयी। वे सुगोल चम्पक भुजाएँ परस के रस से ऊर्मिल हैं। उस वक्ष के उभार में वे आकाश की गुलाबी बिजलियाँ बन्दिनी होकर कसक उठी हैं। घिरते बादलों की श्यामता में एक विशाल पुरुषाकृति के आविर्भाव ने चारों ओर से उसे छा लिया है। अंग-अंग रभस की एक विकल उत्कण्ठा में टूट रहा है।

और न जाने कब कौन उसे हाथ पकड़कर कक्ष में ले गया। वह उन मर्मर के हंसों की ग्रीवा से गाल सहलाती हुई मुग्ध और बेसुध हो रही है। बिल्लौरी सिंहासन के कास के उपधानों को वक्ष से दाबकर कस-कस लेती है। कक्ष की दीवारों, खम्भों, खिड़कियों के परदों से अंगों को हलके-हलके छुहला-सहलाकर वह सिहर उठती है। और जाने कब वह उस पर्यंक की शय्या पर जा लेटी, जिसे उसने आज तक छुआ नहीं था। वक्ष को दाबकर वह औंधी लेट जाती है। समूचे विश्व का देहपिण्ड एकबारगी ही मानो अपने पूर्ण आकर्षण से

उसे अपने भीतर खींचता है। एक प्रगाढ़ आलिंगन की मोह-मूर्च्छा में वह डूब गयी है। और वल्लभ की भुजाओं के आलोडन का अन्त नहीं है। कि देखते-देखते स्पर्श का वह अतल सुख विछोह की अशेष वेदना में परिणत हो गया। वक्ष की मांसल कारा को तोड़ने के लिए प्राण छटपटा उठे। उसकी शिरा-शिरा, रक्त का बिन्दु-बिन्दु, विद्रोही चेतन की इस चिनगी से अंगार हो उठा और देखते-देखते देह की सम्पूर्ण मांसलता मानो एक पारदर्शी अग्नि-पिण्ड में बदल गयी। पर वह जो खींच रहा है—सो खींचता ही जा रहा है। उसमें पर्यवसित होकर वह शान्त और निस्तरंग हो जाना चाहती है।

निरन्तर बह रहे आँसुओं के गीलेपन से उसे एकाएक चेत आया। वक्ष के नीचे कोमल शय्या का अनुभव किया। पाया कि वह कक्ष में है—वह उस विलास के पर्यंक पर है। कौन लाया है उसे यहाँ? ओह, वंचक माया! वह अपने ही आपसे भयभीत हो उठी। वह उठकर भागी और फिर उसी वातायन पर जाकर बैठ गयी।

कि लो, वे पर्वत-पाटियाँ उन घटाओं में डूब गयी हैं। वन-कानन खो गये हैं। अंजना ने पाया कि वह पृथ्वी के छोर पर अकेली खड़ी है, और चारों ओर मेघों का अपार सिन्धु उमड़ रहा है। उस महा जल-विस्तार में श्वेत पंछियों की एक पाँत उड़ी जा रही है। अंजना की आँखें जहाँ तक जा सकीं—उन पंछियों के पीछे वे उड़ती ही चली गयीं। और देखते-देखते वे दृष्टि-पथ से ओझल हो गये। आँखों में केवल शून्य के बबूले उठ-उठकर तैर रहे हैं। उस अतलान्त शून्य सजलता में वह डूबती ही गयी है कि उन पंछियों को पकड़ लाये। अपनी बाँहों पर बिठाकर वह उनसे देश-देश की बात पूछेगी, जन्मान्तरों की वार्ता जानेगी। अरे वे तो मुक्ति के देव-दूत हैं—इसी से तो इस दुर्निवार बादल-बेला में वे ऐसे हलके पंखों से उड़े जा रहे हैं!

अंजना अपने भीतर जितनी ही गहरी डूब रही है, बाहर वह उतनी ही अधिक फैल रही है।........वह विजयार्द्ध की बादल-भरी उपत्यकाओं में खेलने चली आयी है। वह उसके रत्नमय कूटों की वेदियों में बैठकर गान गा रही है। वह एक शृंग से दूसरे शृंग पर छलांग भरती चल रही है। अनुल्लंघ्य झरनों को वह चुटकी बजाते लाँघ जाती है। अगम्य खाइयों, खन्दकों और घाटियों को

वह लीला मात्र में पार कर रही है। वह विजयार्द्ध की मेखला में अबाध परिक्रमा देती चल रही है। चित्र-व्याघ्र, सिंह, भालू और अष्टापद आकर उसके पैर चाटने लगते हैं—अपनी सुनहरी-रूपहरी अयालों से उसके अंग सहलाते हैं। अनेक जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, उस देह से लिपटकर—उसका दुलार पा चले जाते हैं। पलक डालने और उठाने में कितनी ही विद्याधरों की नगरियाँ दृष्टि-पथ में आती हैं और निकल जाती हैं। और रह-रहकर वे पक्षी उसे याद आते हैं। उसकी आकुलता अन्तहीन हो जाती है। और वह अपनी यात्रा में आगे बढ़ती ही जाती है। कितने पर्वत, पृथ्वियों, सागरों और आकाशों को पार कर वे पंछी जाने किस दिशा के नील नीड़ में जाकर छुप गये हैं ?

…. ….मुक्त केश-राशि कपोलों पर छाती हुई वक्ष पर लोट रही है। अंजना का माथा वातायन के खम्भे पर ढुलका है। मुँदी आँखें बाहर की उस बादल-राशि की ओर उन्मुख हैं। होंठों पर एक मुग्ध स्मित ठहरी है। एक हाथ रेलिंग पर से ऊपर को अंजुली-सा उठा है—और दूसरा हाथ सहज वक्ष पर थमा है।

"अंजन……..!"

अंजना ने चौंककर आँखें खोलीं, और स्वप्नाविष्ट-सी वह सामने वसन्त को देख उठी। एक अलौकिक मुसकराहट उसके होंठों पर फैल गयी—जिसमें गहरी अन्तर्वेदना की छाया थी।

"……..अ…..…हाँ, कब से बैठी हो जीजी, ज़रा आँख लग गयी थी, पर जगा क्यों नहीं लिया ?"

कहते-कहते वह शरमा आयी और उसने एक गहरी अँगड़ाई भरी। उस तन्द्रिल आँखों में उड़ते पंछियों के पंखों का आभास था ! अंजना की दृष्टि अपने कक्ष की ओर उठी। शिलाओं और रत्नों की ये दीवारें, यह ऐश्वर्य का इन्द्रजाल, यह वैभव की संकुलता; उसकी यह मोहकता, यह सुखोष्मा, यह निबिड़ता !…. असह्य हो उठा है यह सब। जीवन का प्रवाह इस गह्वर में बन्दी होकर नहीं रह सकता। और वह उफनाती हुई शून्य शय्या, जिस पर अनन्त अभाव लोट रहा है।……..प्राण की अनिवार पीड़ा से वक्ष अपनी सम्पूर्ण मांसल मृदुलता और माधुर्य में टूट रहा है, टूक-टूक हुआ जा रहा है। एक इन्द्रियातीत संवेदन

बनकर सम्पूर्ण आत्मा मानो दिगन्त के छोरों तक फैल गया है।

कहीं उद्यान की वृक्ष-घटाओं के पार से मयूरों की पुकार सुनाई पड़ी। बादल गुरु मन्द्र स्वर में रह-रहकर गरज रहे हैं। घनीभूत जलान्धकार में रह-रहकर बिजली कौंध उठती है।

"जीजी, यह मयूरों की पुकार कहाँ से आ रही है? देखो न वे हमें बुला रहे हैं। अपने वहाँ चल नहीं सकती हैं, जीजी? चलेंगी, ज़रूर चलेंगी। तुम भी मेरे साथ आओगी न? दूर, बहुत दूर, महल और राजोद्यान के पार—विजयार्द्ध की उपत्यका में! मुझे अभी-अभी सपना आया है जीजी, वे वहीं मुझे मिलेंगे, घन कानन की पर्ण-शय्या पर!—इस कक्ष में नहीं, इस पद्म-राग-मणि के पलंग पर नहीं!"

वसन्त खिलखिलाकर हँस पड़ी और बोली—"अंजन, देखती हूँ अभी भी तेरा बचपन गया नहीं है। जब बहुत छोटी थी तब भी ऐसी ही बातें किया करती थीं। जो भी उम्र में तुझसे एक ही दो बरस बड़ी हूँ, फिर भी तेरी ऐसी अद्भुत बातें सुनकर मुझे हँसी आ जाती है। बीच में तू गम्भीर और समझदार हो गयी थी। पर कई बरस बाद तुझे फिर यह विचित्र पागलपन सूझने लगा है।"

"तो जीजी, बताओ न ये मोरों की पुकारें कहाँ से आ रही हैं?"

"पुण्डरीक सरोवर के पश्चिमी किनारे पर जम्बू-वन में खूब मोर हैं। घटाओं को देखकर वहीं वे शोर मचा रहे हैं।"

"तो जीजी, मुझे ले चलो न उस जम्बू-वन में। मेरा जी अब यहाँ बहुत ऊब गया है। चलो न, उस जम्बू-वन तक ज़रा घूम ही आयें।"

अंजना की इस अनुनय में बड़ी ही अवशता है। इस प्रस्ताव को सुनकर वसन्त के सुख और आश्चर्य की सीमा नहीं थी। कई दिनों से अपने-आप में बन्द और मूक अंजना सरल बालिका-सी खुल-खिल पड़ी है। विषाद का वह घनीभूत कोहरा मानो फट गया है। अंजना निर्मल जलधारा-सी तरल और चंचल हो उठी है। वसन्त ने प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। चलते-चलते कुछ सखियों और दासियों को और भी साथ ले लिया। अब तक अंजना केवल प्रातः-सायं सुमेरु चैत्य में देव-दर्शन के लिए जाती और लौट आती थी। आज पहली

ही बार उसने राजोद्यान की सीमा को पार किया।

वानीर, वेतस और जामुनों की सघन वनानी में होकर एक नल्ला बहता था, जो पुण्डरीक सरोवर में दूर की पार्वत्य नदियों का जल लाता था। इसके किनारे झूम रहे दीर्घकाय वानीर-वनों की छाया में नल्ले का जल सदा पन्ने-सा हरा रहता। दोनों किनारों के मिलनातुर वृक्षों के बीच आकाश का पथ आँख-मिचौनी खेलता। उसमें तैरते प्रवासी बादल नल्ले के हरित-श्याम जल में छाया डालते।

जम्बू-वन की संकुल घटाओं में बादलों की अँधेरी स्तब्ध खड़ी है। मयूर और मयूरियों के झुण्ड चारों ओर बिखरे हैं। उनमें से कुछ किनारे के हरियाले प्रकाश में पंख फैलाकर नाच रहे हैं। और एकाएक वे शीतल स्वरों में पुकार उठते हैं। वन की अँधेरी गूँज उठती है। फिर बादल घुमड़ उठते हैं।

मानवों का पद-संचार और आवाज़ सुनकर वे झुण्ड थोड़े चौकन्ने हो गये। तितर-बितर होकर वे चारों ओर भागने लगे। अंजना बालिका-सी उनसे खेलने को मचल पड़ी। वह उन्हें भयभीत नहीं करना चाहती—पर उसका प्यार जो आज उन्मुक्त हो गया है।

किनारे की एक खजूर नल्ले के जल पर झुक आयी थी। उसपर खड़ा एक मयूर पंख फैलाये, अपनी सम्पूर्ण शोभा की नीलाभा खोलकर नाच रहा है। अंजना उस खजूर के तने पर जा पहुँची। उन पैरों की अछूती कोमलता में वे खजूर के काँटे गड़ नहीं रहे हैं। सब कुछ उस मार्दव में मानो समाया ही जा रहा है।

एक हाथ से, पास ही झुके हुए एक वृक्ष की डाल पकड़कर अंजना बैठ गयी और दूसरी बाँह उसने उस नाचते मयूर की ओर फैला दी। वह डरा नहीं—वह सहमा नहीं। फिर एक बार एक अपूर्व निगूढ़ उल्लास से नवीनतम भंगिमा में नाच उठा। और नाचते-नाचते वह अंजना की बाँह पर उतर आया। उन पंखों में मुँह छुपाकर अंजना ने आँखें मूँद लीं; मयूरों के झुण्ड फिर विह्वलता से पुकार उठे। वसन्त की आँखों में सुख के आँसू आ जाना चाहते हैं। सभी सखियाँ आनन्द, क्रीड़ा और हास्य में मग्न हो गयीं। मयूरों के पीछे दौड़ती हैं—पर वे हाथ नहीं आते हैं।

अंजना तने पर से उस मयूर को अपने बाहु में भरकर नीचे उतार लायी। सखियों के आश्चर्य-कौतूहल की सीमा नहीं है। अंजना शिला पर आ बैठी है। वह मयूर उसके वक्ष पर आश्वस्त है। आस-पास सखियाँ पैर फैलाये बैठी हैं। मयूर-मयूरियों का झुण्ड चारों ओर, प्रफुल्ल नील कमलों के वन-सा, पूर्ण उल्लसित और चंचल होकर नाच उठा।

अंजना के जी में आया, उसने क्यों इस मयूर को बन्दी बना रखा है? ओह, यह उसका मोह है। उसने उसका आनन्द छीन लिया है! अंजना ने तुरन्त उस मयूर को छोड़ दिया। पर वह उड़ा नहीं—अपना नीला मसृण कण्ठ अंजना के गले के चारों ओर डालकर उसके वक्ष पर चंचु गड़ा दी। जाने कितनी देर उस ग्रीवालिंगन में वह पक्षी विस्मृत, विभोर हो रहा। चारों ओर सखियाँ ताली बजा-बजाकर बादल राग के गीत गाने लगीं। केकाओं की पुकारें फिर पागल हो उठीं।

कि एकाएक अंजना की गोद से वह मयूर उतरकर नीचे आ गया और अपने संगियों के बीच अनोखे उन्माद से नाचने लगा। उसके आनन्द-लास्य को देख दूसरे मयूर-मयूरी भी अंजना की ओर दौड़ पड़े। सखियाँ उन्हें पकड़ना चाहती हैं पर वे हाथ नहीं आते हैं। अंजना उन्हें पकड़ना नहीं चाहती—पर वे उसके शरीर पर चढ़ने में ज़रा नहीं हिचक रहे हैं। उसके आस-पास घिरकर अपनी ग्रीवा से उसकी जंघाओं, उसकी भुजाओं, उसके वक्ष से दुलार करते हैं—और फिर नीचे फुदककर नाचने लगते हैं।

कि इतने ही में पुरवैया हवा प्रबल वेग से बहने लगी। स्तब्ध वनाली हिल उठी। झाड़ झाँय-झाँय, साँय-साँय करने लगे। और थोड़ी ही देर में वृष्टि-धाराओं से सारा वन-प्रदेश मर्मरा उठा। मयूरों की पुकारें पागल हो उठीं—वे चारों ओर फैलकर मुक्त लास्य में प्रमत्त हो गये। देखते-देखते मूसल-धार वर्षा आरम्भ हो गयी। हवाएँ तूफ़ान के वेग-से सनसनाने लगीं। झाड़ों की डालियाँ चूँ-चड़ड़ बोलने लगीं, मानो अभी-अभी टूट पड़ेंगी। वेणु-वन की बाँसुरी में सूँ-सूँ करता हुआ मेघ-मल्लार का स्वर बजने लगा। बादल उद्दाम, तुमुल घोष कर गरज रहे हैं,—बिजलियाँ कड़कड़ाकर दूर की उपत्यकाओं में टूट रही हैं। एक अग्नि-लेखा-सी चमककर वन के अँधेरे को और भी भयावना कर जाती है।

वसन्तमाला के होश गुम हो गये। आज उससे यह क्या भूल हो बैठी है। ऐसे दुर्दिन में वह अंजना को कहाँ ले आयी है ? महादेवी को पता लगा तो निश्चय ही अनर्थ घट जायेगा। अंजना अब महेन्द्रपुर की निरंकुश राज-कन्या नहीं है, वह अब आदित्यपुर की युवराज्ञी है। और तिस पर त्यक्ता और पद-च्युता है। उसके लिए ये मुक्त क्रीड़ा-विहार ? और वह भी इस भयानक निर्बन्ध ऋतु में ? राजोपवन की सीमा के बाहर ? क्षण मात्र में ही ये सारी बातें वसन्त के दिमाग़ में दौड़ गयीं।

और अंजना ? वह शिला पर दोनों ओर हाथ टिकाकर और भी खुलकर बैठी है। वह निर्द्वन्द्व है और निरुद्वेग है। इस भयानकता के प्रति वह पूर्ण रूप से खुली है। आत्मा का चिर दिन का रुद्ध वज्र-द्वार मानो खुल गया है। ये झंझाएँ, ये वृष्टि-धाराएँ, यह मेघों का विप्लवी घोष, ये तड़पती बिजलियाँ, सभी उस द्वार में से चले जा रहे हैं। इस महामरण की छाया में हृदय का पद्म अपने सम्पूर्ण प्रेम को मुक्त कर खिल उठा है। प्रलय की बहिया पर मानो कोई हँसता हुआ वन-कुसुम बहा जा रहा है। पानी की बौछारों और हवाओं की चपेटों में वह सुकुमार देह-लता सिकुड़ना नहीं चाहती। वह तो पुलकित होकर खुल-खिल पड़ती है। वह तो सिहरकर अपने को और भी बिखेर देती है। आँखें प्रगाढ़ता से मुँदी हैं—और ऊपर मुख उठाये वह मुसकरा रही है—मौन, मुग्ध, महानन्द से विकल, आवेदन की मुक्त वाणी-सी।

और साथ की सभी अन्य बालाएँ भय से थर्रा उठी हैं। ऋतु के आघातों में वे अपने को सम्हाल नहीं पा रही हैं। और फिर युवराज्ञी की चिन्ता सर्वोपरि हो उठी है। अंजना को पता नहीं कब वे सब आकर उसके आस-पास लिपट-चिपटकर बैठ गयी हैं। भय-चिन्ता और उद्वेग से वे काँप रही हैं। उन्होंने चारों ओर से अपने शरीरों से ढाँपकर अंजना की रक्षा करनी चाही।

अंजना उस अवरोध को अनुभव कर घबड़ा उठी। माथे पर छायी हुई वसन्त की भुजाओं को और चारों ओर घिर आयी सखियों के शरीरों को झकझोरकर वह उठ बैठी—

"अरे यह क्या कर रही हो ? ओ वसन्त जीजी ! ओह, समझ गयी, चारों ओर से ढाँपकर इस ऋतु-प्रकोप से तुम मेरी रक्षा करना चाहती हो ? पर आज

तो वर्षा का उत्सव है—भीगने का दिन-मान है, आज क्यों कोई अपने को बचाये ? देखो न, ये मयूर लास्य के आनन्द में अचेत हो गये हैं। इस वर्षा के अविराम छन्द-नृत्य से भिन्न इनकी गति नहीं। चारों ओर एक विराट् आनन्द का नृत्य चल रहा है। मेघों के मृदंगों पर बिजलियाँ ताल दे रही हैं। ये झाड़ियाँ हवा के तारों पर अश्रान्त थिरक रही हैं। ये झाड़ झूम-झाम रहे हैं—लताएँ, तृण-गुल्म, सभी तो नाच-नाचकर लोट-पोट हो रहे हैं—सभी भीग रहे हैं रस की इस धारा में। कोई अपने को बचाना नहीं चाहता। आओ, इनसे मिलें-जुलें, प्यार का यह दुर्लभ क्षण फिर कब आनेवाला है ?"

अंजना ने दोनों हाथों से अपने केश भार को उछाल दिया। बालिका-सी दुरन्त और चपल होकर वह चारों ओर नाच उठी। सखियाँ उसके पीछे दौड़-दौड़कर उसे पकड़ना चाहती हैं—पर वह हाथ कब आनेवाली है। शरीर पर वस्त्र की मर्यादा नहीं रही है, और वन के तनों में वह बेतहाशा आँख-मिचौनी खेल रही है। वसन्त के प्राण सूख रहे हैं—पर वह क्या करे—यह अंजना उसके बस की नहीं है ! जो भी वह जानती है, यह राजोपवन का ही सीमान्त है और यहाँ कोई आ नहीं सकता है। फिर भी समय-सूचकता आवश्यक है। अंजना के स्वभाव में यह लीलाप्रियता नयी नहीं है। पर बहुत दिनों से गम्भीर हो गयी अंजना तिरस्कृता, परित्यक्ता अंजना को आज यह क्या हो गया है ?

और वह भागती हुई अंजना झाड़ के तनों से लिपट जाती है—उन्हें बाहुओं में कस-कस लेती है। झाड़ की कठोर छाल से गालों को सटाकर हौले-हौले रभस करती है। डालों पर झूम जाती है—और झूमते हुए तरु-पल्लवों को पलकों से दुलराती है। वन-वल्लियों, तृणों और गुल्मों के भीतर घुसकर धप् से उनमें लेट जाती है—गालों से, भुजाओं से, कण्ठ से, लिलार से, उन वनस्पतियों को छुहलाती है—सहलाती है, चूमती है, पुचकारती है—वक्ष में भर-भरकर उन्हें अपने परिरम्भण में लीन कर लेना चाहती है। विराट् स्पर्श के उस सुख में वह विस्मृत, विभोर होकर चारों ओर लोट रही है। और जाने कब तक यह लीला चलती रही—

साँझ हो रही है। वर्षा से धुले उजले आकाश में अंगूरी और दूधिया बादलों के चित्र बने हैं। अंजना ने कक्ष में इष्टदेव के बिम्ब के सम्मुख घी का प्रदीप

जला दिया। धूपायन में थोड़ा धूप छोड़ दिया। वसन्त के साथ जानुओं पर बैठकर उसने विनीत स्वर में अरहत् का स्तवन किया। अन्त में वन्दन में प्रणत हो गयी और बोली—

"हे निष्प्रयोजन सखे! हे अशरण आत्मा के एकमेव आत्मीय! तुम चराचर के प्राण की बात जानते हो, अणु-अणु के संवेदन तुम्हारे भीतर तरंगायित हैं। बोलो, तुम्हीं बताओ, क्या मुझसे यह अपराध हुआ है? किस भव का यह अन्तराय है और किस जन्म में किसको मैंने दारुण विरह दिया है—इसकी कथा तो तुम जानो। मैं अज्ञानिनी तो केवल इतना ही जानती हूँ, कि मेरा प्रेम ही इतना क्षुद्र था कि वह 'उन' तक पहुँच ही न सका; वह उन्हें बाँधकर न ला सका, इसमें उनका और किसी का क्या दोष है?'

"पर अपने इस चराचर के निःसीम साम्राज्य में भी क्या मेरे इस क्षुद्र प्रेम को मुक्ति नहीं दोगे, प्रभु? देखो न, ये छोटी-छोटी वनस्पतियाँ, तृण-गुल्म, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जड़-जंगम सभी अपना प्रेम देने को मुक्त हैं। फिर मैं ही क्यों आत्मघात करूँ, तुम्हीं कहो न? मनुष्य की देह में नारी की योनि पाकर जन्मी हूँ, कोमल हूँ, अवलम्बिता हूँ और देना ही जानती हूँ, क्या यही अपराध हो गया है मेरा? क्या पुरुष नारी के अस्तित्व की शर्त है?—और उससे परे होकर क्या उसका कोई स्वतन्त्र आत्म-परिणमन नहीं? यही धृष्ट जिज्ञासा बार-बार मन-प्राण को बींध रही है। अन्तर्यामिन्, मुझ अज्ञानिनी बाला के इस पागल मन का समाधान कर दो।"

अंजना की अधमुँदी आँखों में से आँसू चू रहे हैं। वसन्त स्तब्ध है, अंजना के साथ वैसी ही ऐकात्म्य होकर, साश्रु-नयन प्रार्थना में अवनत है। तब आह्लादित होकर अचानक अंजना बोल उठी—

"उत्तर मिल गया जीजी! आँखें खोलो, प्रभु ने....मुसकरा दिया है!"

वसन्त ने देखा—दीप के मन्द आलोक में प्रभु के मुख पर वही त्रिलोक-मोहिनी मुसकान खिली है—मानो जीवन का उन्मुक्त प्रवाह आँखों के आगे बह रहा है, निर्मल और अबाधित। उसमें बहने को सभी स्वतन्त्र हैं—वहाँ मर्यादाएँ नहीं हैं, शर्तें नहीं हैं, अन्तराय नहीं है, योनि-भेद नहीं है, विधि-निषेध नहीं है;—है केवल आत्मा के अकलुष प्रेम की स्रोतस्विनी!

[१२]

आँधी-वर्षा की रुद्र, प्रलयंकरी रातों में पवनंजय भयभीत हो उठते। बाहर के सारे भयों पर वे पैर देकर चले हैं, पर यह आत्म-भीति सर्वथा अजेय हो पड़ी है। इन बिजलियों की प्रत्यंचाओं पर चढ़कर जो तीर इन तूफ़ान की रातों को चीरते हुए आ रहे हैं, उनके सम्मुख कुमार का सारा ज्ञान-दर्शन, शौर्य, वीर्य और उनकी आयुध-शाला के सारे शस्त्र कुण्ठित हो गये हैं! सूक्ष्म, अमोघ और अन्तर्गामी हैं ये तीर, जो मर्म में जाकर बिंधते ही जाते हैं।

उनका प्रेत ही छाया की तरह उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा है। उनके रोम-रोम एक निदारुण भय से आकुल हैं। अपने ही सामने होने का साहस उनमें नहीं है। वे अपने से ही विमुख और विरक्त हो गये हैं; पर अपने से भागकर वे जायें तो कहाँ जायें....?

कई अखण्ड दिनों और रातों घोड़े की पीठ पर चलकर वे योजनों पृथ्वी रौंद आये हैं। ऐसे महा-विजनों की वे खाक छान आये हैं, जहाँ मानव-पुत्र शायद ही कभी गया हो। अलंध्य को उन्होंने लाँघा है, और दुर्निवार को हठपूर्वक पार किया है। घोड़ा जब तीर के वेग से हवा में छलांग भरता, तो उड़ान के नशे में उनकी आँखें मुँद जातीं। उन्हें लगता कि उनका घोड़ा आकाश की नीलिमा को चीरता हुआ चल रहा है। पर आँखें खुलते ही पाया है कि वे धरती पर ही हैं! इसी तरह पराभव से कातर और म्लान वे सदा अपने महल को लौट आये हैं।

इस महावकाश में वे कहीं भी अपने लिए स्थान नहीं खोज सके हैं। माना कि वे चिरन्तन गति के विश्वासी हैं, और ठहरना वे नहीं चाहते; स्थिति पर उन्हें विश्वास नहीं है। पर वर्षा की इन दुर्दाम रात्रियों में क्यों वे इतने अरक्षित और अशरण हो पड़ते हैं? ऐसे समय अवस्थिति और प्रश्रय की पुकार ही क्या उनमें तीव्रतम नहीं होती है? वे अपने को पाना चाहते हैं। पर अपने ही आपसे छलकर, वे अपने से ही आँख-मिचौनी जो खेल रहे हैं। अपनी ही पकड़ाई में वे नहीं आया चाहते। अपनी दिन-दिन गहरी होती आत्म-व्यथा को वे अनदेखी

कर रहे हैं। फिर अपने को पायें तो कैसे पायें ?

समय-असमय जब-जब भी ऐसी बेचैनी हो जाती है, वे महल के नवों खण्डों के एक-एक कक्ष में घूम जाते हैं। वहाँ के चुँधिया देनेवाले चित्र-विचित्र सिंगारों, परिग्रहों और वस्तु-पुंजों की मायाविनी विविधता में अपने को उलझाये रखना चाहते हैं। पर चित्त का उद्वेग बढ़ता ही जाता है। दूर से एक मरीचिका पूर्ण अवेग से खींचती है। पास जाते ही वह सब फीका पड़ जाता है—नीरस, निस्पन्द, अगतिशील, जड़!

नौवें खण्ड के कक्षों में अनेक लोकों, पृथ्वियों, समुद्रों और पर्वतों की रचनाएँ हैं। वे मान-चित्रों की परिमाण-सूचकला के साथ तैयार की गयी हैं। उन्हें देखकर फिर वे एक नवीन ताजगी, उत्साह और उत्कण्ठा से भर आते हैं। वे अपनी महा-यात्रा की योजनाएँ बनाने में संलग्न हो जाते हैं। वर्षों के प्रसार में वह योजना बढ़ती जाती है, योजना की संख्या लुप्त होने लगती है। उनका नक़शा बनते-बनते उलझ जाता है; रेखाओं के जाल संकुल हो उठते हैं। यात्रा का पथ अवरुद्ध हो जाता है। विफलता के शून्य काले धब्बों-से उनकी आँखों में तैरने लगते हैं। वे नक़्शों को फाड़कर फेंक देते हैं; जितने बारीक टुकड़े वे कर सकें, करते ही जाते हैं—और फिर उन्हें दृष्टि से परे कर देना चाहते हैं।

फिर एक नया आवेग नस-नस में लहरा जाता है। तब वे महल के गर्भ-देश में बनी अपनी आयुध-शाला में जा पहुँचते हैं। ताँबे के विशाल नीरांजन में एक ऊँची जोत का दीप वहाँ अखण्ड जलता रहता है। कुमार पहुँचकर अलग-अलग आलयों के सभी दीपों को सँजो देते हैं। शस्त्रास्त्रों की चमक से आयुध-शाला जगमगा उठती है। परम्परा से चली आयी आदित्यपुर की अलभ्य और महामूल्य आयुध-सम्पत्ति यहाँ संचित है। फिर कुमार ने भी उसे बढ़ाने में बहुत प्रयत्न और धन खर्च किया है। अचिन्त्य और अकल्पित शस्त्रास्त्र यहाँ संग्रहीत हैं। आयुधों के फल दर्पणों-से चमकते हैं; उनमें अपने सौ-सौ प्रतिबिम्ब एक साथ देखकर कुमार रोष और विरक्ति से तिक्त और क्षुब्ध हो उठते हैं। वहाँ शस्त्रों को धार देने के लिए बड़ी-बड़ी शिलाएँ और चक्र पड़े हुए हैं। अपने अनजान में ही अपने ठीक सामने के शस्त्र की चमक को बुझा देने के लिए, वे उसे सान पर चढ़ा देते हैं। उसमें से चिनगारियाँ फूट निकलती हैं। कुमार के भीतर की

अग्नि दहक उठती है—वह नंगी होकर सामने आया चाहती है। शिलाएँ कसक उठती हैं—देखते-देखते वे हिलने लगती हैं, जैसे भूकम्प के हिलोरे आ रहे हों। सान के सारे चक्र कुमार की आँखों में एक साथ पूर्ण वेग से घूमने लगते हैं—उन सबमें चिनगारियाँ फूटने लगती हैं। वे सान पर से शस्त्र को हटा लेते हैं। उसकी चमक और भी पारदर्शी हो उठती है। उसमें कुमार के प्रतिबिम्ब कई गुने हो उठते हैं। वे झल्लाकर शस्त्र फेंक देते हैं। सारी आयुध-शाला झनझना उठती है। ऊपर प्रतिहारियों के प्राण सूख जाते हैं। आयुध-शाला के शस्त्रागारों पर लगी सिन्दूर विकराल, रुद्र हास्य से मूक अट्टहास कर उठती है!

कुमार झपटकर शंखों के आलय की ओर चले जाते हैं। अद्‌भुत हैं वे शंख! भिन्न-भिन्न दिशाओं के स्वामियों को ललकारने और चुनौती देते की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ उनमें अभिनिहित हैं। वे अभी-अभी शंख फूँक देने को आतुर हो पड़े हैं। वे एक शंख उठा लेते हैं। पर वे किस दिशा के स्वामी को जगायें? उन्हें कुछ भान नहीं हो रहा है, कुछ सूझ नहीं पड़ रहा है। उन्होंने अपने हाथ के शंख को ग़ौर से देखा—उसपर एक ध्वजा में मकर की आकृति चिह्नित है! ओह,—मकर-ध्वज! कुमार ने फूँक देना चाहा वह शंख पूरे ज़ोर से। पर साँस मानो रुद्ध हो गयी है या कि शंख ही मूक हो गया है? कुमार के अंग-अंग में बिजली-सी तड़तड़ा उठी। उन्होंने दूर के एक खम्भ को लक्ष्य कर वह शंख ज़ोर से दे मारा। पर वह खम्भे पर न लगकर काँसे के एक विशाल घण्टे पर जा लगा। अप्रत्याशित ही घण्टे का गुरु-घोष पृथ्वी-गर्भ में गूँजकर लहराने लगा।

बहुत दिनों की प्रपीड़ित और छटपटायी हुई कषाय प्रमत्त हो उठी। अहं की मोहिनी नंगी तलवारों सी चमचमा उठी। जाने कब कुमार ने पानी-सा लहरीला एक खड्ग उतारकर शून्य में वार करना शुरू कर दिया। सूँ...सूँ करती—तलवार की विकलता पृथ्वी की ठण्डी और निबिड़ गन्ध में उत्तेजित होती गयी।...शरीर की स्नायुएँ मस्तिष्क के केन्द्र से जैसे च्युत हो गयी हैं। तलवार खम्भों के पत्थरों से टकराकर उस अकाट्यता से कुण्ठित हो, और भी कटु और भी विषाक्त हो जाती है। वह नहीं मानेगी....जब तक वह उस निरन्तर कसक रहे, दिन-रात पीड़ित करने वाले मर्म को चीर नहीं देगी! वह तलवार

प्रबलतर वेग से बेक़ाबू सनसनाने लगी। शून्य में कहीं भी घाव नहीं हो सका है—मात्र यह निर्जीव खम्भे के पत्थरों का अवरोध टकरा जाता है—ठन्न.. ठन्न....!

और खच्च से वह आ लगी बायें पैर की पिण्डली पर।...कोई मांसल कोमलता बिंध गयी है। कुमार के चेहरे पर एक प्रसन्नता दौड़ गयी। और अगले ही क्षण पसीने में तर-ब-तर हाँफते हुए पवनंजय, चक्कर खाकर धप् से धरती पर बैठ गये। घाव पर निगाह पड़ी—ख़ून की एक पिचकारी-सी छूट गयी है।

ओह, अपनी ही तलवार से अपना ही घात? उफ़्....शस्त्र....हिंसक, बर्बर शस्त्र! कितनी ही बार शस्त्रों में उन्हें अविश्वास हुआ है। ये हिंसा के उपकरण? कितनी ही बार उन्हें इनसे घोर ग्लानि और विरक्ति हुई है। पर कौन-सी मोहिनी है जो खींच लाती है? वे फिर-फिर इनसे खेलने को आतुर हो उठते हैं। हिंसा की विजय, विजय नहीं, वह आत्मघात है! वे निःशस्त्र जय-यात्रा के राही हैं; इसी से न क्या उन्होंने उस दिन उस पर्वत की अतलान्त अँधेरी खाई में, कौतुक मात्र में, अपनी तलवार खड्ग-यष्टि से निकालकर फेंक दी थी?

····खून ज़ख्म से बेतहाशा बहने लगा। कुमार को अपने ऊपर तरस आ गया—दया आ गयी।....छिः दया? और वह भी अपने ऊपर? नहीं, वे नहीं करेंगे कोई उपचार इस ज़ख्म का। दया वे नहीं करेंगे अपने ऊपर। दया कायरता की पुत्री है! पवनंजय और कायर हो, इस ज़रा से आघात पर?

वे सन्नाते हुए आयुध-शाला से ऊपर निकल आये। सिंहासन की सीढ़ी पर मुँह हाथों में ढककर बैठ गये। खून निकलकर पैर को लथपथ करता हुआ चारों ओर फैल रहा है।

आँख उठाकर उन्होंने देखा, एक प्रतिहारी साहस-पूर्वक उस ज़ख्म को एक हाथ से दबाकर उसपर व्रणोपचार किया चाहती है—पट्टी बाँधा चाहती है। कोमलता?....ओह, कायरता की जननी! वह असह्य है उन्हें। न....न....न हरगिज़ नहीं—यह सब वे नहीं होने देंगे।

"हट जाओ प्रतिहारी, इस व्रण का उपचार नहीं होता!" झुँझलाकर कुमार ने पैर हटा लिया।

"देव, तुम्हारे ये अत्याचार अब नहीं सहे जाते !"

काँपती आवाज़ में साहसपूर्वक प्रतिहारी आवेदन कर उठी। उपचारोन्मुख खाली हाथ उसके शून्य में थमे रह गये हैं—और आँखों में उसके, आँसू झलझला रहे हैं। कुमार के हृदय में जहाँ जाकर प्रतिहारी का यह वाक्य लगा है, वहाँ से उसके इस दुःसाहस का प्रतिकार न कर सके ! वे अवाक् उसका मुँह ताकते रह गये।

ओह नारी....कोमलता....आँसू ? फिर वही मोह-जाल....फिर वही माया-मरीचिका ? फिर दोनों हाथों में बड़े ज़ोर से मुख को भींच लिया। सारी इन्द्रियों को मानो उन्होंने अपने भीतर सिकोड़ लिया। नहीं, इस कोमलता के स्पर्श को वे नहीं सह सकते। यह कातरता है....यह दया है।....और कौन है यह प्रतिहारी, तुच्छ....जो पवनंजय पर दया करेगी ? वे अपने आपमें अपने को अस्पृश्य शून्य अनुभव करने लगे। पर उन्हें लगा कि वह कोमलता हार नहीं मान रही है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होकर उनकी सारी स्नायुओं को बींधती हुई, शिरा-शिरा को परिप्लावित करती हुई उनकी समस्त आत्मा में सिंच गयी है—परिव्याप्त हो गयी है। वह अक्षत माधुर्य-धारा है, वह अमोघ अमृत है। नहीं.... उससे वे अपने को बचा नहीं पा रहे हैं !

और जाने कब, जब आँख खुली तो देखा—सामने रक्त की एक भी बूँद नहीं है। है केवल फेन सा रूई का एक पट्टा, जो उस पैर की पिण्डली पर चमक रहा है।

एक गहरी निःश्वास छोड़कर पवनंजय उठ बैठे। अपने ही आपमें उद्वेलित होकर, वे उस विशाल दीवानखाने में बड़े-बड़े डग भरते हुए चक्कर काटने लगे।

[१३]

अंजना ने पाया, अन्तर के क्षितिज पर एक नवीन बोध का प्रभात फूट रहा है। ममत्व के इस नीड़ में अब वह प्रश्रय नहीं खोज सकेगी। इस नीड़ के सुनहले तिनकों में दुख और विषाद के पुंज घनीभूत हो रहे थे। मोह की वह रात्रि अब तिरोहित हो गयी है। नवीन प्रकाश के इस अनन्त में उड़ने को अब

वह स्वतन्त्र है। प्रेम ममत्व नहीं है। दुख और वेदना की यह मोहिनी ममत्व की प्रसूता है।

पर अंजना तो उत्सर्गिता है, अपने को यों बाँधकर वह नहीं रख सकेगी। और अपने को वह रखेगी किस लिए? किस दिन के लिए और किसके लिए? क्या अपने ही लिए? पर वह अपनत्व शेष कहाँ रह गया है? वह तो छाया है, वह भ्रान्ति है। यह दुख और यह विषाद और ये आँसू, यह सब अपने ही को लेकर तो था। अचेतन के खोखलेपन में मिथ्या की प्रेत-छायाएँ खेलने लगी थीं।

और मर्यादा किस लिए? मर्यादा तो वे आप हैं, जहाँ जाकर अपने को लय कर देना है। इस राजमन्दिर और इस लोकालय की मर्यादा उसके दृष्टि-पथ में नहीं आ रही है। इन किनारों में जीवन को थामने का क्या प्रयोजन है? और कौन है जो थाम सकेगा? वह जीवन जो हाथ से निकल चुका है और जिसकी स्वामिनी वह आप नहीं है!

उसे लगा कि अपने अनजाने ही अब तक वह मृत्यु का वरण करने में लगी थी। प्रेम का वह निसर्ग स्रोत रुद्ध हो गया था। प्रेम आप ही अपनी मर्यादा है—उससे ऊपर होकर और कोई शील नहीं है। शील क्या दुराव में है? वहाँ तो शील की ओट में पाप पल रहा है।

सो, न देव-मन्दिर ही और न कक्ष में ही अब उसका सामायिक (आत्म-ध्यान) सम्भव रह गया है। प्रातः-सायं सामायिक की वेला होते ही वह चली जाती है, राजमन्दिर का सीमान्त लाँघकर, दूर के उस मृगवन में।

पुण्डरीक सरोवर के उस पार बड़ी दूर तक चन्दन का एक वन फैला है। और ठीक उसके बाहर निकलते ही एक वन-खण्ड आ गया है, जिसमें मृगों के झुण्ड उन्मुक्त विचरते हैं। काफ़ी दूर तक मैदान समतल है, उसके बाद कुछ पहाड़ियाँ और टीले हैं।

सबसे परे जो पहाड़ी है, उसका नाम अरुणाचल है। उसपर ऊँचे तनेवाले नील-गिरि के झाड़ों की एक क़तार खड़ी है। पहाड़ी के ढालों में कुछ झाड़ी-जंगल हैं, तो कहीं-कहीं चट्टानों और पत्थरों की आड़ में वृक्षों से छाये मृगों के आवास हैं। मैदान के बीच-बीच में जो टीले इधर-उधर बिखरे हैं, वे ही मृगों के क्रीड़ा-पर्वत हैं। मैदान, टीले और पहाड़ियों पर हरियाली का स्निग्ध, शाद्वल

प्रसार फैला है। समतल में इधर-उधर नीलम-खण्डों से जलाशय चमक रहे हैं; किनारे जिनके ऊँची-ऊँची घास और जल-गुल्मों के पुंज हैं। विचरते हुए मृग वहाँ पानी पीते दिखाई पड़ते हैं।

कहीं-कहीं वन-लताओं से छायी स्निग्ध, श्यामल वन्य-झाड़ियाँ फैली हैं, जिनमें खरगोश रहते हैं। उन जलाशयों के किनारे कास के वन-पुंजों में से कभी दुबके से निकलकर सर्र से वे अपनी झाड़ियों में जा छुपते हैं। अरुणाचल पहाड़ी के उस पार से कभी-कभी नीलगाय, साँभर और बारहसिंगे भी नीलगिरि के झाड़ों के अन्तराल से उतरकर इधर आया करते हैं।

दूर-दूर पर टीलों और पहाड़ियों की हरियाली में आकाश के किनारे के मृग चरते दिखाई पड़ते हैं। उनके पीछे के बादल-खण्ड उनके पैरों में आते-से लगते हैं।

लगता है, सौन्दर्य और प्रेम यहाँ गलबाहीं डाले हैं। यहाँ संघर्ष नहीं है, घात नहीं है, कोई स्थूल शोषण नहीं है। अबोध प्रेम का यह दिव्य विहार है। जीवनाचरण में यहाँ वैर नहीं है। समता का विपुल बोध यहाँ दिशान्तों तक प्रसरा है, मानो किसी सिद्ध की यह निर्वाण-भूमि रही हो।

अंजना प्रातः-सायं यहीं सामायिक करने आती है—अचूक। वर्षों पर वर्ष बीतते गये हैं, पर यह साधना उसकी अभंग रही है। आयुष्य के अतीत होते तटों पर उसने पद-चिह्न नहीं छोड़े हैं। अनागत की कोई विकल प्रतीक्षा अनायास किसी बादल की दुपहरी में दूर वनान्त के केका-सी पुकार उठती, किसी वसन्त-सन्ध्या की डाल पर कोयल-सी टेर उठती! वह प्राण को समयातीत कर खींचती ही ले जाती, ऋतुओं के पार—जीवन-समुद्र के छोरों पर। किसी अनादि उद्गम से कामना की एक मुक्त तरंगिणी हहराती चली आ रही है, जो उन छोरों में आकर विसर्जित हो जाती है। वही एक आकर्षण है, जो सतह पर निर्वेद और प्रशान्त है—पर भीतर निखिल के साथ एकतान होने की परम आकुलता है।

कायोत्सर्ग की यह साधना, उसकी हिमाचल-सी अचल है। 'देह से नहीं पा सकी हूँ, तो विदेह होकर पाऊँगी तुम्हें!'—उसके भीतर रह-रहकर गूँज उठता। सामायिक में कभी-कभी वह गम्भीर आवेदन-संवेदन से भर आती। इन्द्रियों के

बन्ध मानो अनायास आँसू बन-बनकर ढलक पड़ते, जैसे शृंखला की कड़ियाँ पिघलकर बिखर पड़ी हों। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, स्वर के भिन्न-भिन्न द्वार टूट-टूटकर खुल जाते, और एक प्रोज्ज्वल, निराकुल, अविकल्प सुखानुभूति का सागर-सा खुल पड़ता। उसमें ज्योति की तरंगें उठ रही हैं, और वह लहरों पर आनेवाला चिर-परिचित आलोक-पुरुष देखते-देखते आकर अंजना में अन्तर्धान हो जाता।

और आँख खोलते ही वह पाती, आस-पास खड़े मृग उसकी देह से अंग सहला रहे हैं, उसके केशों को सूँघ रहे हैं। उस केश-राशि में वे उस गन्ध को पा गये हैं, जिसके लिए उनके प्राण चिर-काल से विकल भटक रहे हैं। अब तक उस गन्ध के लिए कितनी ही बार वे छले गये हैं। प्राणों की बाजी लगाकर भी वे उसे नहीं पा सके हैं। पर इस देह की ऊष्मा, इन केशों की गन्ध में वे अभय तृप्ति पा रहे हैं, आत्म-पर्यवसित हो रहे हैं। यहाँ छल नहीं है, मृत्यु नहीं है। यहाँ परम शरण है।

चाहे कैसी ही दुर्निवार बादल-वेला हो, कैसा ही दुर्धर्ष शीतकाल हो, कैसी ही बेधक हवाएँ चल रही हों, कैसा ही प्रचण्ड ग्रीष्म तप रहा हो, और चाहे फिर वसन्त की कुसुम-बेला हो, इस सीमान्तर पर आत्म-ध्यान के लिए अंजना का आना ध्रुव की तरह अटल था।

वे खरगोश-शिशु अंजना की बाँहों के सहारे, उस सर्व-काम्य वक्ष पर लिपटकर आश्वस्त हो जाते। एक आकर्षण की हिलोर-सी आती। वह चल पड़ती मृगों के उस लीला-कानन में। मृग-शावक उसकी कटि पर झूमते, अन्य मृग-मृगियाँ उसके उड़ते हुए दुकूल को खींचते। अंजना खरगोशों को आँचल में ढाँप लेती। आस-पास झूमते मृग-मृगियों के गलबहियाँ डालकर, उनकी गरदन और पीठ पर अपनी गरदन डाल देती; गालों और आँखों से उनके शरीर के मृदु रोओं का रभस करती। अंग-अंग उनपर निछावर होता। उनकी आँखों में आँखें डालकर देखती—जाने किस चिरकाम्य रूप का दर्शन उनमें हो जाता। निराकुल, विदेह सुख में मूर्च्छित होकर वह मुसकरा देती। निगूढ़ लज्जा से अंग-अंग पुलक-सजल हो उठता। आह, कौन छू गया है......? अननुभूत है यह स्पर्श—चिर दिन से जिसकी चाह प्राणों में घनी होती गयी है!

यों ही उन पशुओं के साथ निर्लक्ष्य भटकती, खेलती वह उस अरुणाचल तक चली जाती। कभी-कभी उस पहाड़ी पर, नीलगिरि की वनानी में पहाड़ी के उस पार के छुटुक-फुटुक बिखरे भिल्ल-ग्रामों की वन-कन्याएँ मिल जातीं। वर्षा की नदियों-सी वे श्यामला हैं। कच्चे रसालों की रस-भार-नम्र स्निग्ध घटाओं-सा उनका यौवन है—अनावृत और अबन्ध्य। गिरि-घाटियों के हिंस्र-जन्तु-संकुल प्रदेशों में वे अभय विचरती हैं। दुर्जेय और दुरन्त है उनका कौमार्य। तीर के फल पर परखे जानेवाले वीर्य का वे वरण करती हैं! कटि पर वे नाम मात्र का वसन बाँध लेती हैं—या फिर वल्कल। ऋतु-पर्वों पर वे पत्तों के वसन पहन आती हैं, कानों में कलियों और कच्चे फलों के झुमके और माथे पर तथा गले में जंगली फूलों की माला। उनकी उद्दण्ड बाँहों में पार्वत्य उपलों के वलय पड़े रहते और पैरों में काँसे की कड़ियाँ।

अनायास वे अंजना की सहेलियाँ बन गयी थीं। कहानी-भर जिसकी वे अपनी दादियों से सुनतीं, और निरन्तर जिस वन-लक्ष्मी की उन्हें खोज थी, उसे ही शायद वे एकाएक पा गयी हैं—ऐसा उन्हें आभास होता। वह 'वन-लक्ष्मी' किस दिशा से कब आ जाती है, वे खोजकर भी पता नहीं पा सकी हैं। आदित्यपुर की युवराज्ञी उनकी कल्पना के बाहर है, फिर उससे उन्हें प्रयोजन ही क्या हो सकता है। राजोपवन की सीमा उनके लिए वर्जित प्रदेश है, सो उस ओर से वे उदासीन हैं। कभी-कभी दूर से ही कौतूहल-भर करके वे रह जाती हैं।

थोड़े ही दिनों में अंजना ने उनकी प्रकृत भाषा को सहज ही अपना लिया। उनकी सारी अन्तःप्रकृति से उसका निसर्ग परिचय होता चला। वे अपनी ही भाषा में अंजना की बातें सुनतीं। जन्मों के अज्ञान की अँधेरी गुहाओं का तम भिदने लगता। उसके भीतर अंजना के शब्द प्रकाश के बिन्दुओं की तरह फूटने लगते। वाणी सिद्ध हो चली। अनादिकाल के जड़ावरणों में, जिनसे आत्मा रुद्ध है, वह वाणी अव्याबाध प्रवेश करती चली।

उन्हें ज्ञान-दान देने का कोई कर्तव्य-भाव बाहर से अंजना में नहीं जागा है। उसकी उन्मुखता में ही सहज उन अज्ञानी मानव-प्राणियों के लिए उसका सहवेदन गहरा होता गया है। उसके भीतर से निरन्तर पुकार आ रही है—वही उसका संकल्प है और वाचा में फूटकर वही कर्ममय होता गया है। अक्षर-बद्ध और

वचन-बद्ध किसी निश्चित ज्ञान की शिक्षा देने की चेष्टा उसमें नहीं है। उस ज्ञान में संघर्ष सम्भव है—वितर्क सम्भव है। पर प्रेम की इस अजस्र वाणी में केवल बोध ही फूटता है—एक सर्वोदयी, साम्य-भावी बोध—जीवन-मात्र का मंगल-कल्याण ही जिसका प्रकाश है। इस ज्ञान-दान में बुद्धि का अहं-गौरव सम्भव नहीं है। 'मैं इन्हें ज्ञान दे रही हूँ!' यह सतर्क प्रभुत्व का भाव नहीं है। यह दान तो अंजना की विवशता है—उसकी आत्म-वेदना का प्रतिफल है, जो देकर ही निस्तार है। सिखाना उसे कुछ नहीं है—वह तो वह स्वयं सीखना चाहती है—स्वयं जानना चाहती है। उसी का नम्र अनुरोध मात्र है यह वाणी—जिसमें से ज्ञान झिरियों की तरह आप ही फूट रहा है।

निपट अकिंचन और उन्हीं-सी निर्बोध होकर अंजना उनसे अपनी बात कहती है। आस-पास की यह विशाल प्रकृति, जिसकी कि वे पुत्रियाँ हैं, उसी की भाषा—उसी के संकेत और उपकरणों के सहारे वह अपने को व्यक्त करती है। पहाड़, नदियाँ, चट्टानें, गुफाएँ, झरने-जंगल, जीव-जन्तुओं को ही लेकर जाने कितनी न कथा-वार्ताएँ कही जाती हैं—कितने न रूपकों का आविष्कार होता है। वे भिल्ल-बालाएँ अपने जंगली जीवनों में परम्परा से चली आयी कई दुःसाहस की दन्त-कथाएँ सुनातीं। नाना पशु-पक्षियों के और मानवों के घात-प्रतिघात और संघर्षों के वृत्त उनमें होते। उनके जीवनों का गहन, प्रकृत परिचय पाकर अंजना की आत्मीयता सर्वस्पर्शी हो फैल जाती। वह उन्हीं कहानियों को उलट-पुलट-कर—उनकी हिंस्र क्रूरताओं के बीच-बीच में बड़ी ही स्वाभाविकता से कोई प्रेम के वृत्त जोड़ देती। वे बालाएँ जिज्ञासा से भर आतीं। उनकी निर्विकार चंचल आँखों में सहवेदन की करुणा छलछला आती। वे अंजना के ही शब्दों में अनायास बोलकर प्रश्न कर उठतीं। क्रीड़ा-कौतुक मात्र में अंजना समाधान कर देती। वे जोर-जोर से खिलखिलाकर हँस पड़तीं। गुंजान हँसी से वनस्थली गूँज उठती। वे बातें उन्हें कभी नहीं भूलतीं। वे तो मानव प्रकृति के पट पर लिखे गये अक्षर हैं, जो सदा ध्वनित होते रहते हैं—इन झरनों में, इन हवाओं में, इन झाड़ियों में।

किसी उत्सव के दिन यदि वे अंजना को पा जातीं तो वन के फूल-पत्तियों से उसका अभिषेक कर देतीं। पैरों में घुँघुरू बाँधकर आतीं और अंजना के

चारों ओर वृत्त में झूमर देकर नाचतीं, हिंडोल-भरे मदमाते रागों में अपने जंगली गीत गातीं। तब अंजना को सुनाई पड़ता—उस जंगल-घाटी में दूर-दूर तक फैले पुरवों से उत्सव की गान-ध्वनियाँ आ रही हैं। बीच-बीच में ढोलक और खंजड़ी अविराम बज रही है। पृथ्वी की परिक्रमा देता हुआ यह स्वर आ रहा है। एक अनिवार आकर्षण अंजना के शरीर के तार-तार में बज उठता।....जीवन.... जीवन....जीवन! उन पुरवों में होकर—उन दूर-सुदूर के अपरिचित मानवों में होकर ही उसका मार्ग गया है। अरे क्यों है यह अपरिचय, क्यों है यह अज्ञान—क्यों है यह अलगाव? असह्य है उसे यह आवरण, यह मर्यादा। इस सबको छिन्न कर उसे आगे बढ़ जाना है, उसे चले ही जाना है, जीवन पुकार रहा है!

और ठीक उसी क्षण उसे अपनी वस्तुस्थिति का भान हो आता। उन परिजनों का क्या होगा? उनके दुखों की बोझिल साँकलें उसके पैरों में बज उठती हैं। मोह है यह, क्यों वे अपने ममत्व से घिरे हैं? इसी कारण क्या नहीं है—यह दुखों की अभेद्य भव-रात्रि—यह मूर्च्छना का अन्धकार? इसी कारण यह अज्ञता और अपरिचय है—इसी कारण यह राग-द्वेष और अपना-पराया है। पर उनके प्रति वह करुणा और सहानुभूति से भर आती है। उनका दुख उसे ही लेकर तो है—वे भी तो पर-दुख-कातर हैं। उनकी वेदना को भी उसे झेलना ही होगा। उनके और अपने दुखों की संकुलता को चीरकर ही राह मिलेगी। नहीं, उन्हें छोड़कर वह नहीं जा सकेगी। वह शायद जीवन से मुँह मोड़ना होगा—पराजित का पलायन होगा। वह स्वार्थ है—अपने ही स्वच्छन्द सुख की खोज में औरों की उपेक्षा है। कर्तव्य और दायित्व उसका समग्र के प्रति है, लोक और लोकालय उससे बाहर नहीं है। वह जायेगी किसी दिन, उपेक्षा करके नहीं, उनके प्रेम की अनुमति लेकर—आशीर्वाद लेकर। तब वह निश्चिन्त होगी, मुक्त होगी और सबके साथ होगी। यों टूटकर और छूटकर वह नहीं जायेगी। एकाकारिता की इस साधना में वह अलगाव का क्षत अपने पीछे नहीं छोड़ेगी। मन में कोई फाँस लेकर वह नहीं जायेगी। कोई दूरी, कोई विरह-वियोग, कोई अभाव का शून्य वह नहीं रहने देगी!

........कि एक सुदीर्घ-विरह-रात्रि का प्रसार उसके हृदय में झाँक उठता ....कौन आया चाहता है........?

यों ही वर्ष पर वर्ष बीतते जाते हैं। मृग-वन की शिला पर जब प्रातः सामायिक निवृत्त हो वह आँख खोलती तो अरुणाचल पर बालसूर्य का उदय होता दीख पड़ता। साँझ का कायोत्सर्ग कर जब वह आँख उठाती, तो नील-गिरि की वनाली में पीताभ चन्द्र उदय होता दिखाई पड़ता। वह जो सतत आ रहा है.......परम पुरुष.......उसी के तो आभावलय हैं ये बिम्ब! और उन बिम्बों में होकर कोई मृग छलांग भरता निकल जाता है.......यों ही वर्ष भाग रहे हैं.... काल भाग रहा है....और उसके ऊपर होकर अबाधित चला आ रहा है वह अतिथि!

[१४]

राजोपवन के दक्षिण छोर पर जो खेतों का विस्तार है, उसके उस किनारे कृषकों और गोपों के छोटे-छोटे गाँव बसे हैं। वहीं थोड़े-थोड़े फ़ासले से राज-परिकर के सेवकों की बस्तियाँ हैं। सबकी अपनी स्वतन्त्र धरती है, गोधन है। राज-सेवा वे स्वेच्छतया करते हैं। राजा और राज के प्रति उनमें सहज कर्तव्य का भाव है। उनका विश्वास है कि राजा प्रजा के माता-पिता हैं; जीवन, धन और धरती के रक्षक हैं; पालक प्रजापति हैं।

कुछ वर्ष पहले एक गोप-बस्ती की सीमा पर, एक शिशिर के सवेरे, कुहरे में से आती हुई एक साध्वी दीखी थी। सालवन के तले पनघट और वापिकाओं पर पानी भरती हुई गोप-वधुएँ उसे कौतूहल की आँखों से देखती रह गयीं। निकट आकर वह साध्वी खेत में बने एक चबूतरे पर बैठ गयी। पहले तो वे वधुएँ मारे अचरज के ठिठकी रहीं, फिर कुछ हँसकर परस्पर काना-फूसी करने लगीं। साध्वियाँ तो आती ही रहती हैं—पर ऐसा रूप? कोई देवांगना न हो!

एक दूसरी से जुड़ी-गुथीं वे वधुएँ पास सरक आयीं। कुछ दूर खड़ी रहकर वे देखती रह गयीं—अवाक् और स्तब्ध। विचित्र है यह साध्वी! बालिका-सी लगती है। गम्भीर है, पर रह-रहकर चंचल हो जाती है। बरफ़-सी उजली देह पर, दूध की धारा-सा दुकूल है; पीठ पर विपुल केश-भार पड़ा है, जो गालों को ढकता हुआ कन्धों और भुजाओं पर भी छाया है। वह बड़ी-बड़ी सरल आँखों

से उनकी ओर देख मुसकरा रही है, जैसे बुला रही हो। पर न हाथ उठाकर संकेत करती है, न पुकारती है।

मुहूर्त-भर में ही वे सब वधुएँ जाने कब पास चली आयीं। भूमि पर सिर छुआकर सबने प्रणाम किया।

"अरे-अरे, छिः छिः—यह क्या करती हो! मुझे लजाओ नहीं। क्या मैं तुमसे बड़ी हूँ? मैं तो तुमसे छोटी हूँ, और तुम्हीं में से एक हूँ—तुम्हारी छोटी बहन, क्या मुझे नहीं पहचानतीं....?"

सब अवाक् आश्चर्य से उस ओर देख उठीं। सचमुच जैसे वर्षों से पहचानती हैं; कहीं देखा है कभी, पर याद नहीं आ रहा है। एक निगूढ़ स्मृति के संवेदन से रोम-रोम सजल हो आया। ये आँखें, यह पारदर्शी मुसकराहट। और सबसे अधिक आत्मीय है इस कण्ठ की वाणी। पर विचित्र है यह साध्वी। अरे इसके हाथ में वलय हैं, और भाल पर तिलक है! साध्वियों के वलय और तिलक तो नहीं होता। पर मन इसे देखकर बरबस श्रद्धा से भर आता है, पता पूछने का जी ही नहीं होता। केवल एक आश्वासन भीतर अनायास जाग उठता है।

"हाँ....हाँ....हाँ मैं समझ गयी हूँ, तुम्हारे मन में क्या है!....पूछ देखो न, तुम्हारे मन की बात जानती हूँ कि नहीं!"

वधुओं को लगा, जैसे इससे कुछ छुपा नहीं है। पहले जिन प्रश्नों और जिज्ञासाओं को किसी से नहीं पूछा था—अपने अभिन्न वल्लभ से भी नहीं--वे सब अन्तिम प्रश्न मन में खुल-खिल उठे। लज्जा मर्यादा से परे हैं वे अन्तर की गोपन पहेलियाँ। एक-एक कर उन्होंने पूछ डाले वे प्रश्न। वह साध्वी सुनकर मुसकरा आती है, उन प्रश्नों के वह सीधे उत्तर नहीं देती है। वह छोटी-छोटी, सुगम और रंजनकारी कहानियाँ कहती हैं। लीला करती है, विनोद करती है, और जाने कब वधुएँ समाधान पा जाती हैं।

हवा बात ले गयी। कुछ ही दिनों में आस-पास की सारी बस्तियों और गाँवों के किनारों पर वह साध्वी दिखाई पड़ने लगी। अनिश्चित कालान्तराल से अतिथि की तरह कभी-कभी वह आती। ग्राम के बाहर की किसी पान्थ-शाला में, किसी मन्दिर के चबूतरे पर, किसी शिलातल पर, या किसी वृक्ष के तले पत्तों पर वह एकाएक बैठी दिखाई पड़ती। देखते-देखते ग्राम-जन, स्त्री-पुरुष,

बालक-वृद्ध सभी जुट जाते। वह कब कहाँ से आती और कहाँ चली जाती, यह जानने का कुतूहल लोगों का अब मिट चला था। वलय और तिलक भी नगण्य हो गये थे। निश्चित वह कोई साध्वी है, जो तत्त्व को पा गयी है। क्योंकि वह उन सबों के हृदयों की स्वामिनी हो चली थी—इन्हीं कुछ वर्षों में। और साध्वी का कौन स्थान, क्या पता और क्या समय? वह उन्हें सुप्राप्त थी। चली जाती और बहुत दिनों में आती, उसका कुछ ठीक नहीं था। पर वह उस लोक-जीवन का हृदय-स्पन्दन बन गयी थी। वह जीवन के केन्द्र में बस गयी थी, सो सदा उनके साथ थी।

ग्राम-जन अपने सुख-दुखों की बात कहते। जीवन के बाह्य आधारों में सभी तुष्ट थे। रोटी का संघर्ष नहीं था—भौतिक जीवन-सामग्री सब स्वाधीन थी और अपार थी। सुख-दुख थे मन के वैकारिक संघर्षों को लेकर ही। जिज्ञासाएँ जन्म-मरण, रोग-शोक, हर्ष-विषाद और मुक्ति को लेकर थीं। प्रतिदिन के मानवीय सम्बन्धों में जो राग और द्वेष की रगड़ है, हार-जीत हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ का जो सूक्ष्म संघर्ष सर्वव्यापी है; जिसे जानते हुए भी उसकी जड़ तक पहुँचकर हम उसे ठीक नहीं कर पाते; उसी को लेकर उनकी समस्याएँ थीं। सबसे अधिक प्रबलता थी मान की, प्रभुत्व की, अधिकार और स्वामित्व की।

साध्वी के उत्तर बहुत सरल और सीधे होते। वे सबकी समझ में आते। वह सूत्र-वाणी बोलती। एक उत्तर में कई प्रश्नों के उत्तर एक साथ मिल जाते। कमल की पंखड़ी में से पंखड़ी खुलती जाती। चेतन के अन्तराल में उजाला छा जाता। व्यक्ति की सीमाएँ मानो लोप होने लगतीं। जन-जन में एक ही प्राण की अविच्छिन्न धारा दौड़ने लगती। समस्त चराचर की विशाल एकता के बोध में मन आप्लावित हो जाते। जन्मों की विच्छेद-वार्ता पुलकों के आँसू बनकर झर जाती।

साध्वी के बोल लोक-कण्ठ में बस चले—

"अपने को बहुत मत मानो, क्योंकि वही सारे रोगों की जड़ है। मानना ही तो मान है। मान सीमा है। आत्मा तो असीम है और सर्वव्यापी है। निखिल लोकालोक उसमें समाया है। वस्तु मात्र तुममें है—तुम्हारे ज्ञान में है। बाहर से

कुछ पाना नहीं है। बाहर से पाने और अपनाने की कोशिश लोभ है। वह, जो अपना है उसी को खो देना है, उसीको पर बना देना है। मान ने हमको छोटा कर दिया है, जानने-देखनेकी शक्तियों को मन्द कर दिया है। हम अपने ही में घिरे रहते हैं। इसी से चोट लगती है—दुख होता है। इसी से राग है, द्वेष है, रगड़ है। सबको अपने में पाओ—भीतर के अनुभव से पाओ। बाहर से पाने की कोशिश माया है, झूठ है, वासना है। उसी को प्रभु ने मिथ्यात्व कहा है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष सब तुम्हीं में है। उनका होना तुम्हारे ज्ञान पर क़ायम है। कहा न कि तुम्हारा जीव सत्ता मात्र के प्रमाण है; वह सिमटकर क्षुद्र हो गया है, तुम्हारे 'मैं' के कारण। 'मैं' को मिटाकर 'सब' बन जाओ। जानने-देखने की तुम्हारी सबसे बड़ी शक्ति का परिचय इसी में है।

"समग्र को जानने की इच्छा का नाम ही प्रेम है—वही धर्म है। जानने की व्यथा को गहरी होने दो। जितनी ही वह गहरी होगी, आपा खिरता जायेगा, सबके प्रति अपनापा बढ़ता जायेगा। यही प्रेम का मार्ग है—धर्म का मार्ग है। मुक्ति चाहने की चीज़ नहीं है। उसका ध्यान भुला दो।

"मुक्ति को लेकर ही हममें कांक्षा और गर्व जागेगा तो क्या मुक्ति मिलेगी? वह तो बन्धन ही होगा। अपने को मिटाओ; मुक्ति आप ही मिल जायेगी। मुक्ति कोई स्थान विशेष नहीं है—वह समग्र की प्राप्ति में है, सब-रूप हो जाने में है...."

ग्राम-जन वात्सल्य-वश फल, दूध-दही, मक्खन की मधुकरी ले आते। साध्वी के पैर पकड़ लेते कि उनका उपहार लेना ही होगा। वह हाथ की अंजुली में लेकर उसे सिर से लगा लेती—और आस-पास के बालकों में बाँट देती। पीछे से स्वल्प प्रसाद ग्रहण कर आप भी कृतार्थ होती। दोनों जुड़े हाथों पर सिर नवाकर ग्राम-जनों को नमस्कार करती और चल देती—खेत के पथ पर, मृग-वन की ओर।

लोक-जनों में एक जिज्ञासा बनी हुई थी—कैसी है यह साध्वी, जो अज्ञानियों को नमन करती है? ऐसी साध्वी तो नहीं सुनी। सचमुच विचित्र है वह!

[१५]

मृग-वन से सन्ध्या का सामायिक कर अंजना अपने महल को लौट रही है। बाहर रात अँधेरी है, शीत बहुत तीव्र है। अंजना अकेली ही चली आ रही है।

ऊपर आकर उसने पाया, उसके कक्ष में महादेवी केतुमती बैठी हैं। पास ही वसन्तमाला और जयमाला बैठी हैं। राजमाता गम्भीर हैं और चुप हैं। कक्ष में एक क्षुब्ध खामोशी है। देखकर अंजना स्तब्ध रह गयी....! आशातीत और अभूतपूर्व है यह घटना। जब से वह इस महल में राज-वधू बनकर आयी है, इतने वर्ष निकल गये हैं, महादेवी यहाँ कभी नहीं आयीं। यहाँ जो ज्वाला निर्मूल जल रही है, उसे देखने की छाती शायद राजमाता की नहीं थी। दूर से इस सौध का रत्न-द्वीप देखकर ही उनका हृदय दुख से फटने लगता था। पर आज....? आज कौन ऐसी असाधारण स्थिति उत्पन्न हुई है कि कलेजे पर पत्थर रखकर वे यहाँ चली आयी हैं। देखकर अंजना भौंचक-सी रह गयी। क्षण-भर कक्ष की देहरी में ठिठक गयी।....सपना जैसे भंग हो गया। वस्तुस्थिति का भान हुआ। अन्तर्लोक लुप्त हो गया। उसने पाया कि वह बाहर के व्यवहार-जगत् में है।

दूसरे ही क्षण वह नम्र, विनत हो आयी। आकर उसने महादेवी के चरण छुए, और पास ही वह ढुलकी-सी बैठ गयी। आँखें उठाने और कुशल-वार्ता पूछने की बात दूर, यहाँ होना ही उसे दूभर हो गया है। अपने आपमें वह मुँदी जाती है। जैसे सिमटकर शून्य हो जाना चाहती है—धरती में समा जाना चाहती है।

गम्भीर स्वर में महादेवी ने स्तब्धता भंग की—

"देखती हूँ बेटी, तुम्हारा चित्त महल में नहीं है। कुल के परिजनों से नाता-स्नेह नहीं रहा ? पर वह तो हमारे ही प्रारब्ध का दोष है। घर का जाया ही जब अपना न हो सका, तो तुम तो पराये घर की लड़की हो, कौन-सा मुँह लेकर तुमसे अपनी होने को कहूँ ? पर राजकुल की मर्यादा लोप हो गयी है ! लोक में अपवाद हो रहा है; तब तुम्हारे निकट प्रार्थिनी होकर आने को बाध्य हुई हूँ। बहुत दिन तुम्हारी राह देखी, सन्देशे भेजे, पर तुम तक वे पहुँच न

सके, तब और क्या चारा था ?

"मृग-वन के सीमान्त पर तुम सामायिक करने जाती थीं, सुना, तो सोचा कोई बात नहीं है, वह अन्तःपुर का ही क्रीड़ा-प्रदेश है। पर वहाँ भी तुम्हारा सामायिक न हो सका! तब अरुणाचल की पहाड़ी तुम्हें लाँघनी पड़ी—भील-कन्याएँ तुम्हारी सहचरियाँ हो गयीं। यहाँ की प्रतिहारियों और सखियों का संग तुम्हें असह्य हो गया। तुम अकेली ही जाने लगीं। फिर तो गोप-बस्तियों, कृषक-ग्रामों और राज-सेवकों की वसतिकाओं में भी तुम्हारा स्वच्छन्द विचरण शुरू हो गया। सुनकर विश्वास नहीं हुआ—सब पीती ही गयी हूँ। पर आज समस्त आदित्यपुर नगर में राज-वधू के स्वैर-विहार पर चर्चाएँ हो रही हैं। और इस वेष में........? तुम्हें कौन पहचानता कि तुम राजकुल की वधू हो ? इसी से तो विचित्र कहानियाँ कही जा रही हैं। अपने लिए न सही, पर इस घर की लाज तुम्हें निभानी थी। कुल के शील और मर्यादा की लीक तुमने तोड़ दी। आदित्यपुर की युवराज्ञी ग्राम-जनों, भीलनियों और सेवकों के बीच भटकती फिरे ? क्या यही है उसका शील और मर्यादा ? क्या यही है उसकी शोभा ? तुम्हारे दुख से मेरा दुख अलग नहीं है, पर कहे बिना रहा नहीं जाता। क्या यह भूल गयी हो अंजना कि तुम परित्यक्ता हो—पदच्युता हो ? किसके गर्व पर तुम्हारे ये स्वच्छन्द क्रीड़ा और विहार ? जो चाहो करो, पर कुल की मर्यादा नहीं लोपी जा सकेगी........!"

दुखित कण्ठ से, परन्तु अकुण्ठित तीव्रता और आवेश में राजमाता ने सब कह डाला, और चुप हो गयीं। अंजना अचल बैठी थी, पर भीतर उसके भूचाल था। उत्तर देने की चेतना उसमें नहीं थी।

जब अंजना को चेत आया तो पाया कि राजमाता, वसन्त, जयमाला और बाहर बैठी हुई प्रतिहारियाँ सब जा चुके हैं। वह अपने कक्ष में अकेली है। वसन्त इन दिनों प्रायः उसके पास होती है—पर आज वह भी नहीं है। अपने तल्प पर जाकर वह औंधी लेट गयी। नहीं है वसन्त तो उसे शिकायत क्यों हो ? उसके पति फिर आ गये हैं, उसके अपने बच्चे हैं, वह अपने घर गयी होगी। और उसने कब किसी की अपेक्षा की है ? जिस दिन पहली ही बार वह राजोपवन की सीमा लाँघकर जम्बू-वन में गयी थी, उसी दिन वहाँ से लौटते हुए उसने

पाया था कि वसन्त अब उसके साथ नहीं है। अंजना की मुक्तता उसे सह्य नहीं है। वह चिर दिन की सखी, जीजी भी बिछुड़ती ही गयी। और उसे ठीक-ठीक याद नहीं कि वह कब पीछे छूट गयी। फिर बीच-बीच में वसन्त महेन्द्रपुर भी चली जाती। उसकी ससुराल वहीं थी—और पीहर भी वहीं था। पर अंजना.......? वह भी तो महेन्द्रपुर जा सकती थी ? पर वह नहीं गयी। पिता और भाई, एक-एक कर सभी उसे कई बार लिवाने आये—यहाँ तक कि माँ भी आयीं, उसके पैर तक पकड़ लिये, रो-रोकर हार गयी। पर अंजना अपने को लौटा न सकी। उसे स्वयं इसके लिए मन में कम सन्ताप और ग्लानि नहीं थी। पर........पर अब उसका पथ बदल चुका था, उसपर वह बहुत दूर निकल गयी थी; वहाँ से लौटना उसका सम्भव नहीं था। यह उसकी विवशता थी। और फिर कौन सा मुँह लेकर वह महेन्द्रपुर जाती ? अपनी जन्मभूमि को बार-बार उसने सजल आँखों से प्रणाम किया है—और तब अपने भाग्य को कोस-कोस डाला है। अपने कौमार्य की वह स्वप्न-भूमि अब उसके लिए दूर से ही वन्दनीय थी। पर तब सामने कितने ही नवीन लोकों के अन्तराल जो खुलते जा रहे थे।

वेदना का कुहासा एक दिन अनायास फट गया था और वह नवीन सवेरे के प्रकाश में बढ़ती ही चली गयी। तब उसे यह ध्यान नहीं रहा कि कौन पीछे छूट गया है ? उसने पाया कि उसकी यात्रा निःसंग है। उस पथ का संगी कोई नहीं होता। प्रतिहारियों, दासियों और सखियों को सहज ही उसने यह जता दिया था कि बिना काम और बिना कारण उसके साथ किसी को रहने की बाध्यता नहीं है। और सामायिक में सेविकाओं और संगिनियों का क्या होता ? और उसके वे भ्रमण ? उसमें बाधा कहाँ थी ? वह कहीं भी तो न अटक सकी। कोई रोक भीतर से नहीं हुई। वसन्त ने एकाध बार कुछ संकेत किया था, पर वह सब उसकी समझ में न आ सका था। वह बहुत कुछ बाहर का स्थूल लोकाचार था—जो आत्मा के मूल्यों पर आधारित नहीं दीखा। वसतिकाओं और ग्रामों में वह क्यों गयी ? इसका कोई उत्तर उसके पास नहीं है। यह सब वह अपने भीतर उपलब्ध करती गयी है। अन्तर की पुकार ने उसे वहाँ पहुँचाया है। 'शिरीष-कानन' के 'अशोक-चैत्य' के दर्शन करके वह लौटती—तब वे वसतिकाएँ उसकी राह में पड़ती थीं। कहाँ थीं वे उसकी राह के बाहर ?

लाज, कुल, शील, मर्यादा, प्रारब्ध, विवाह, परित्यक्ता, पदच्युता, लोकापवाद—एक के बाद एक सफ़ेद प्रेतों की श्रेणी-सी उठ खड़ी हुई, और वे सारे प्रेत आपस में टकराने लगे। देखते-देखते एक भीमाकार अँधेरे की प्राचीर-सी उसके सामने उठने लगी।.......और अगले ही क्षण एक अनिर्वार विप्लव की झंझाएँ जैसे उसके समस्त देह, मन-प्राण में मँडराने लगीं.......। और भीतर के तल-देश से एक करुण प्रश्न की चीत्कार-सी सुनाई पड़ी—"आह वे माता-पिता, वे भाई, ये सास-माता और श्वसुर-पिता, वसन्त और ये सब परिजन—? क्या होगा इन सबका? इन सबका ऋण वह कैसे चुकाये? वे कितने विवश हैं?—अपने सीमा-बन्धनों में वे छटपटा रहे हैं। वह कैसे उन्हें मुक्त करे इन रूढ़ताओं से—इस मिथ्यात्व से? वह कैसे उन्हें समझाये?.......पर, वह कब उन्हें छोड़कर गयी है? उन्हीं का प्रेम और कृतज्ञता क्या बार-बार उसे खींचकर नहीं लौटा लाये हैं?.......एकाएक वे प्रलय के बादल फट गये। आसुओं का एक अकूल पारावार सारे तटों को तोड़कर लहरा उठा।.......नहीं, आज वह नहीं पी सकेगी, ये आँसू! यह अपने लिए रोना नहीं है। सबके प्रति उसका यह आत्म-निवेदन है। कहाँ है इस प्रवाह की सीमा—वह स्वयं नहीं जानती........

".......ओ मेरे मर्यादा-पुरुषोत्तम! तुम हो मेरी मर्यादा, और तुम्हीं उसकी रक्षा करो। मैं तो केवल बहना जानती हूँ, टूट चुकी हूँ लहर-लहर में।.......अब राह में विश्राम कहाँ है.......जबतक उन चरणों में आकर लीन न हो जाऊँ?.......और बाहर का कोई शासन-अनुशासन मुझे मान्य नहीं, इसी से अग्नि-परीक्षाएँ अब सम्मुख हैं। मुसकराता हुआ मेरा सत्य इस ज्वाल-पथ पर चला चले, वह बल मुझे दान करो, देव! कुल की लीक क्या तुमसे भी बड़ी है? कौन-सी मर्यादा है, जो तुम तक आने से मुझे रोक सकेगी? प्रवाह की इन लहरों में वह आप ही टूट जायेगी। उसमें मेरा क्या दोष है? बोलो न, चुप क्यों हो? तुम्हारी शरण में सब सुरक्षित हैं। इहलोक, परलोक, स्वर्ग-नरक, मुक्ति, सब वहीं चढ़ाकर अब निश्चिन्त होकर चल रही हूँ। कोई दुविधा नहीं है। ....वे सतत आ रहे चरण कब आँखों से ओझल हुए हैं........?"

.......और इसी बीच जाने कब उसकी आँख लग गयी।

[१६]

सवेरे जब ब्राह्म-मुहूर्त में अंजना जागी, तो मन उसका शरद् के आकाश-सा स्वच्छ और हलका था। कोई दुविधा नहीं थी, कहीं भी कोई अर्गला नहीं थी। वह निर्द्वन्द्व चली गयी, अटल अपने पथ पर।

मृगवन की शिला पर जब उसने कायोत्सर्ग से आँखें खोलीं, तो अरुणाचल पर बाल-सूर्य का उदय हो रहा था। उसमें दीखा कि एक तरुण-अरुण विद्रोही चला आ रहा है; उसके उठे हुए दायें हाथ की उँगली पर एक आग्नेय चक्र घूम रहा है। अपने पैरों में साँपों-सी लहराती अन्धकार की राशियों को वह भेदता हुआ चल रहा है....!

एक अदम्य आत्म-निष्ठा से अंजना भर उठी। नहीं, वह असत्य को सिर नहीं झुकायेगी—वह मिथ्या को शिरोधार्य नहीं कर सकेगी। वह प्रतिषेध करेगी। वह दुराग्रह नहीं है, वह तो सत्य का पावन अनुरोध है। वह घात नहीं करेगा, वह कल्याण ही करेगा।

चित्त में आज उसके अपूर्व चिन्मयता और प्रसन्नता है। वह मृगवन से सीधी पुण्डरीक-सरोवर के तीर पर चली आयी। महल से चलती बेर प्रतिहारी को आदेश कर आयी थी कि वह देवी वसन्तमाला को जाकर सूचित कर दे कि आज सरोवर के 'गन्ध-कुटी' चैत्य में पूजा का आयोजन करें।

पुण्डरीक सरोवर के बीचोंबीच अमृत-फेन-सा उजला मर्मर का 'गन्ध-कुटी' चैत्य है, जिसमें प्रभु के समवसरण की बड़ी भव्य और दिव्य रचना है। सरोवर के किनारे जो दूर तक मर्मर का देव-रम्य घाट फैला है, उसपर थोड़े-थोड़े अन्तर से जल पर झुके हुए वातायन हैं। तीर से चैत्य तक जाने के लिए एक सुन्दर पच्चीकारी के रेलिंगवाला मर्मर का ही पुल बना है।

वसन्त वेदी पर पूजार्घ्य सँजोये अंजना की राह देख रही थी। अंजना के हृदय में आज सुख नहीं समा रहा था। आयी तो वसन्त को हिये भरकर मिली, जैसे आज कोई नया ही मिलन है। नयी है आज की धूप, आज की छाया, आस-पास का यह हरिताभा से भरा उद्यान, ये कुंज, ये घाट, ये झरोखे, जल, स्थल

और आकाश, सब नया है। अणु-अणु एक अपूर्व, अद्‌भुत नावीन्य से मुग्ध और सुन्दर हो उठा है। दोनों बहनों ने बड़े तल्लीन भक्ति-भाव से पूजा की। शान्ति-धारा और विसर्जन के उपरान्त अंजना ने बड़े ही संवेदनशील कण्ठ से प्रभु के सम्मुख आत्मालोचन किया और अन्त में अपनेआपको निवेदन कर नत हो गयी।

पूजा समाप्त होने पर, दोनों बहनें चैत्य की छत पर आकर, एक झरोखे में बिछी सीतल-पाटियों पर बैठ गयीं। चारों ओर सुनील जल-प्रसार की ऊर्मिलता है। देखते ही अंजना को जैसे चैतन्य के शुद्ध और चिर नवीन परिणमन का आभास हुआ!

अवसर पाकर वसन्त ने धीरे से पूछा—"अंजन, कल रात जो महादेवी ने कहा, उस सम्बन्ध में तूने क्या सोचा है?"

प्रश्न सुनकर क्षणैक अंजना की आँखें मुँद रहीं, भृकुटि में एक वलय-सा पड़ा और तब मर्म से भरी वह वेधक दृष्टि उठी। बड़े ही धीर और गम्भीर स्वर में वह बोली—

"सोचकर भी उस सबका कुछ ठीक-ठीक अर्थ मैं नहीं समझ पायी हूँ। कुल की मर्यादा मैंने लोप दी है? यह कुल की मर्यादा कौन-सी ध्रुव लकीर है और वह कहाँ है, सो मैं ठीक-ठीक नहीं चीन्ह सकी हूँ। प्राणी और प्राणी की प्रकृति एकता के बीच क्या कोई बाधा की लकीर खींची जा सकती है?.... और यह कुलीनता क्या है? माना कि गोत्रकर्म है और उससे ऊँच-नीच कुल या स्थिति में जन्म होता है। पर कर्मों के चक्रव्यूह तो भेदते ही चलना है। क्या कर्म पालने की चीज है? क्या वह संचय करने की चीज है? आत्मा में यह जो पुरातन संस्कार-पुंज जड़ और मृण्मय हो गया है, उसे खिराना होगा। नवीन और उज्ज्वलतर कर्मों के बीच से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना होगा। जो कर्म-परम्परा अपने और पर के लिए अनिष्ट फल दे रही है, जो आत्मा आत्मा के निसर्ग ऐक्य सम्बन्ध का हनन कर रही है, वह मुक्ति-मार्ग में सबसे अधिक घातक है। वह गोत्र-कर्म की बाधा शिरोधार्य करने योग्य नहीं है, वह भोग करने योग्य नहीं है। मिथ्या है वह अभिमान। वह त्याज्य और परिहार्य है। असत्य को ध्रुव मर्यादा मानकर नहीं चल सकूँगी, जीजी! इस अहंकार को पद-पद पर तोड़ते हुए चलना है। वही जीवन की सबसे बड़ी विजय

है। जीवन का नाम है प्रगति। जो है, उसी को अन्तिम मानकर नहीं चला जा सकेगा ? सतह पर जो दीख रहा है वही पदार्थ का यथार्थ सत्य नहीं है—वह व्यभिचरित सत्य है। वह माया है, वह छलना है। उस यथार्थ तत्त्व तक पहुँचने के लिए—माया के इन आवरणों को छिन्न करना होगा। इन क्षुद्र ममत्वों को मेटना होगा। प्रगतिमान् जीवनी-शक्ति पुरातन कर्म-परम्पराओं से टक्कर लेगी—उनका प्रतिषेध करेगी, उन्हें तोड़ेगी। निखिल के स्पन्दन को अपने आत्म-परिणमन में वह एकतान कर लेना चाहेगी। इस प्रगति की राह में जो भी आये, वह प्रतिष्ठा करने योग्य नहीं है; वह तोड़ फेंकने योग्य है....''

बोलते-बोलते अंजना को लगा कि वह आवेग से भर आयी है। उसके स्वर में किंचित् उत्तेजना है। कहीं इस कथन में राग तो नहीं है ? वह चुप हो गयी। अपने आपको फिर तौला और गहरे स्वर में बोली—

''........हाँ यह जो तोड़ फेंकने की बात कह रही हूँ—इसमें एक ख़तरा है। आत्म-नाश नहीं होना चाहिए। कषाय नहीं जागना चाहिए। सर्वहारा होकर हम चल सकते हैं, पर आत्महारा होकर नहीं चला जा सकेगा। मूल को आघात नहीं पहुँचाना है। संघर्ष से तो परे जाना है, उसकी परम्परा को तो छेदना है। विषम को सम पर लाना है, फिर संघर्ष से विषम को विषमतर बनाये कैसे चलेगा ? देश-काल, युग, परिस्थिति सबको हमें प्रतिरोध देना है—पर आत्मा की अव्याबाध कोमलता से, कि जिसमें सब कुछ समा सकता है, सम्पूर्ण लोक को अपने भीतर समा लेने का जिसमें अवकाश और शक्ति है।........ तब आत्मोत्सर्ग की लौ बनकर हमें जलना होगा। सारे संघर्षों के विषम विष को पचाकर हमें सम और प्रेम का अमृत देना है। उसकी मर्यादा है आत्म-संयम। हमें चुप रहना है। दूसरे की वेदना को भी अपनी ही आत्म-वेदना बनाकर उसमें तपना है, सहन करना है। पर अपने सत्य के पथ पर हमें अभय-निर्द्वन्द्व और अटल रहना है, फिर राह में अंगार बिछे हों कि सूलियाँ बिछी हों। हमें विनीत और नम्र भाव से, बिना किसी अनुयोग-अभियोग या झल्लाहट के, अपने उस पथ पर चुपचाप चले चलना है। हमारी आन है विनय, जीवन मात्र के प्रति आदर। हमारा शस्त्र है निखिल के प्रति सद्भाव और समता। आचरण में उसे ही अहिंसा कहेंगे। हमें प्राण के मर्म पर आघात नहीं करना है—जब तोड़ना है

तब जड़ मिथ्यात्व को ही तोड़ना है। तब भीतर की आत्मीयता और प्रेम को और भी सघन करना होगा। अपने व्यक्ति-अस्तित्व की बलि देकर निखिल के कल्याण, आनन्द और मंगल के यज्ञ को ज्वलित रखना होगा। बाहर के परिस्थिति-चक्र और भाग्य-चक्रों को तोड़ने का अनुरोध हममें जितना ही तीव्र है, अपने आत्म-दुर्ग को उतना ही अधिक अजेय बना देना है।........पर हाँ, यह आत्मोत्सर्ग आत्मघात नहीं होना चाहिए। भीतर प्रतिक्रिया नहीं पनपनी चाहिए, सम और आनन्द जागना चाहिए। प्रेम बहना चाहिए......."

बीच में धीरे से वसन्त ने कहा—

"पर लोक में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का जिस रूप में प्रवर्तन है, व्यवहार में क्या लोकाचार के उन नियमों को यों सहज तोड़ा जा सकेगा ?"

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी क्या कोई ध्रुव चीज़ हैं ? और वे जैसे चले आ रहे हैं वैसे ही क्या सदा इष्ट हैं ? हमने निश्चय सत्य से जीवन के आचरण-व्यवहार को *इतना अलग कर लिया है कि हमारे व्यवहार के सारे नियम-विधान के आधार* हो गये हैं हमारे स्वार्थ; और सत्य रह गया केवल तार्किकों और दार्शनिकों की तत्त्व-चिन्ता का विषय। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी तो पदार्थ हैं। पदार्थ सत् है। *और सत् का लक्षण ही है—नित्य परिणमन, गुण-पर्यायों का नित्य परिवर्तन,* प्रत्यावर्तन। उत्पाद, नाश और ध्रुव की सक्रिय समष्टि ही जीवन है, सत् है। एक ही अविभाज्य क्षण में कुछ मिट रहा है, कुछ उठ रहा है, कुछ अपने स्वभाव में ध्रुव होकर भी अपने आपमें प्रवाही है। फिर लोकाचार और उसकी मर्यादा सदा एक-सी कैसे रह सकती है, जीजी ? वह तो सत् की सत्ता से ही इनकार करना है। वह हमारे स्वार्थों और अभिमानों की पूजा-प्रतिष्ठा है। वह गर्हित है और अनिष्टकारी है।....और तब सोचती हूँ, कुल, शील, मर्यादा के आधार क्या हैं ? यह राजसत्ता, सम्पत्ति, ऐश्वर्य ? यह अपार परिग्रह का हमारा स्वामित्व ?.... पर कौन उसे रख सका है ? कौन उसपर अपने अधिकार की अन्तिम मुद्रा लगा सका है ? वस्तु कोई किसी की नहीं है। सत्ता मात्र स्वतन्त्र है। यह हमारा ममत्व और स्वामित्व का मान ही तो मिथ्यात्व है। आत्मा की सम्यक्-दर्शनमयी प्रकृति का घात यहीं होता है। मोहनी तीव्र होती जाती है, हमारा ज्ञान-दर्शन ममत्व से आच्छन्न हो जाता है। यही ममत्व है हमारी समाज-व्यवस्था और हमारे

नियम-विधान का आधार। इसी पर खड़े हैं हमारे कुल, शील, मर्यादा और प्रतिष्ठा के ये भव्य प्रासाद। कितना कच्चा और भ्रामक है इस लोकाचार के मूल्य का आधार! लोकाचार को मुक्तिमार्ग के अनुकूल करना होगा; प्रगतिशील जीवन की माँगों के अनुरूप लोकाचार के मूल्यों को बदलते जाना होगा। निश्चय के सत्य को, आचरण-व्यवहार के तथ्य में उतारना होगा।"

कुछ देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"....जो सबका है, उसका संचय यदि हमने अपने लिए कर लिया है, तो इसमें गौरव करने योग्य क्या है? परिग्रह तो सबसे बड़ा पाप है! उसमें सारे पाप एक साथ समाये हैं। असत्य और हिंसा उसकी नींव में हैं। माना कि अपने बाहुबल से हमने इस ऐश्वर्य, राज्य, सम्पदा का अर्जन किया है। पर क्या हमारा यह स्वामित्व का अभिमान, आस-पास के जनों में, जिन्हें हमने उससे वंचित कर दिया है, सूक्ष्म हिंसा, ईर्ष्या, संघर्ष नहीं जगाता? और क्या हम भी निरन्तर उसी आत्म-हिंसा के घात से पीड़ित नहीं हैं? आस-पास मान और तृष्णा के संघर्ष सतत चल रहे हैं। क्या इस संघर्ष की परम्परा को अपने क्षुद्र मान-ममत्व से धार देना इष्ट है? क्या वह मनुष्योचित है? क्या इस हिंसा का संचय हम *देखती आँखों करते ही जायेंगे?....नहीं, सत्य मार्ग का पन्थी इस बर्बरता के* सम्मुख चुप नहीं रह सकता। मनुष्य के इस पीड़न और पतन को—इस आत्मघात को—वह खुली आँखों नहीं देख सकेगा। संघर्ष के इन दुश्चक्रों को उलटना होगा—तोड़ना होगा। जीवन को इसके बिना परितोष और समाधान नहीं है। निखिल में ऐक्यानुभव और साम्य-स्थान करने के लिए अपना आत्मोत्सर्ग हम करते जायें—यही प्राण का चिरन्तन अनुरोध है। भीतर वही हमारी अनुभूति हो—और बाहर वही हो हमारा कर्म!"

"पर जो व्यवस्था है, वह तो अपने-अपने पुण्य-पापों और कर्मों के अधीन है, अंजन। क्या हम दूसरों के कर्म को बदल सकते हैं?"

"कर्म की सत्ता को अजेय और अनिवार्य मानकर चलने को कह रही हो, जीजी? तब मान लें कि मनुष्य उस कर्म-सत्ता का खिलौना मात्र है? और यह भी कि, मनुष्य होकर उसका कृतित्व कुछ नहीं है....? फिर जड़ के ऊपर होकर चेतन की महानता का गुणगान क्यों है? फिर तो मुक्ति और ईश्वरत्व का आदर्श

निरी मरीचिका है। हमारे भीतर मुक्ति का अनुरोध निरी क्षणिक छलना है। और असंख्य महामानव जो उस सिद्धि को पा गये हैं, उनकी ये गाथाएँ और ये पूजाएँ मिथ्या हैं ? तब निरर्थक है यह कर्मों के नाश की चर्चा !.... असल में विपर्यय यह हो गया है कि अपने स्वार्थों के वशीभूत हो हमने जड़ सत्ता का प्रभुत्व मान लिया है। परमार्थ और मुक्ति को भी हमने उसी के हाथों सौंप दिया है। उसी की आड़ में मनुष्य के द्वारा मनुष्य के निरन्तर पीड़न का व्यापार अबाध चल रहा है। उस पीड़न को सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त है। पीड़ित बन गया है मात्र उस यन्त्र का एक अचेतन पुरजा। कोटि-कोटि जीवनों को अचेतन बनाने का अपराध हम प्रतिदिन कर रहे हैं। पाप का यह बृहदाकार स्तूप खड़ा कर, उसे ही पुण्य का देवता कहकर हम उसकी पूजा कर रहे हैं। हमारा सारा पुरुषार्थ और प्रतिभा खर्च हो रही है उसी स्वार्थ के पोषण के लिए, जो उस जड़-सत्ता की परम्परा को बलवान् बनाता है।

"....असल में लोक-जीवन में यह जो स्वार्थ का मूल्य राज-मार्ग बनकर प्रतिष्ठित हो गया है, उसी मूल्य का उच्छेद करना होगा। स्वार्थ का अर्थ ही बदल देना होगा। 'स्व' का सच्चा अर्थ है आत्मा, उसका 'अर्थ' यानी 'प्रयोजन', वही सच्चा स्वार्थ है। अर्थात् आत्मार्थ जो कि परमार्थ है, वही सच्चा स्वार्थ है। स्वार्थ और परमार्थ के बीच से यह मिथ्या भेद का परदा उठा देना होगा। यानी 'स्व' और 'पर' के भ्रामक भेद-विज्ञान को मेटकर 'स्व' यानी आत्मा और 'पर' यानी अनात्मा के सच्चे भेद-विज्ञान को स्थापित करना होगा। जीवनमात्र को आत्मवत् अनुभव करने की अविराम साधना ही हो हमारा पुरुषार्थ....।"

क्षणैक चुप रहकर फिर अजस्र उन्मेष की वाणी में अंजना बोलती ही चली गयी—

"हाँ, तब निमित्त से हम दूसरों के कर्मों को भी बदल सकते हैं। हम अपने कर्म को जब बदल सकते हैं, अपनी चेतना में उसके अनिष्ट फल को अस्वीकार कर सकते हैं तो निश्चय ही हमारे आत्म-परिणाम सम की ओर जायेंगे। तब लोक में हमसे सम्बन्धित प्राणियों से जो हमारा जीवन का योग है, उनमें हमारे सम आत्म-परिणामों के संसर्ग से कुछ सत्-प्रक्रिया होगी। और यों आत्म-निर्माण में से लोक-मंगल का उदय होगा। तीर्थंकर के जन्म लेने में उस काल और उस

क्षेत्र के प्राणिमात्र की कर्म-वर्गणाएँ काम करती हैं । निखिल लोक के सामूहिक पुण्योदय और अभ्युदय के योग से वह जन्म लेता है । उस काल के जीवन मात्र के शुभ परिणाम और शुभ कर्म की पुंजीभूत व्यक्तिमत्ता होता है वह तीर्थंकर। वह सर्व का केन्द्रीय अभ्युदय है । पर पुण्य और पाप दोनों ही अन्ततः संचय करने की चीज़ नहीं हैं । पहला यदि स्वर्ण की साँकल है तो दूसरा लोह की; हैं दोनों ही बन्धन । पुण्य कामना से उपार्जित नहीं होना चाहिए, वह आनुषंगिक फल होना चाहिए । हमें अपने पुण्य-फल का अनासक्त भोक्ता होना है, उस पुण्य-फल को सबका बना देना है । तब अभिमान कटेगा और संघर्ष क्षीण होगा । जो सर्व के कल्याण की कांक्षा से शुभ कर्म करता है, उसमें वैयक्तिक फल की कामना नहीं होनी चाहिए । अपने ही लिए तीव्र पुण्य बाँधकर, इस मिथ्या महत्ता और अभिमान का पोषण नहीं करना है । इस अज्ञान के विरुद्ध हमें लड़ना होगा...."

"....'सबके सुख-दुख अपने-अपने पुण्य-पाप के अधीन हैं'—कहकर अपने स्वार्थ में बन्द और लिप्त हो रहने की छुट्टी हमें नहीं है । जिस कर्म में हमारी आसक्ति नहीं होगी—उसका बन्ध हमारी आत्मा में नहीं होगा । तब वह शुभ कर्म हमें बन्धन से मुक्त करेगा—और सर्व के कल्याण और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगा । इसी से कहती हूँ जीजी, कि हमारे पाप-पुण्यों के ये मानाभिमान मानव-मानव, प्राणी-प्राणी के बीच नहीं आने चाहिए । जो व्यक्तियों के उदयागत पाप-पुण्य हैं, उन्हें हम अचल मानकर नहीं चल सकते, उससे समाज का कोई शाश्वत नियम-विधान नहीं बन सकता । हम किसी के पाप-पुण्यों के निर्णायक नहीं हो सकते । जो उदयागत पुण्य हमारी आत्मा के प्रेमगुण का घात कर रहा है, उससे जीवन का सिंगार नहीं किया जा सकता । वह पुण्य-फल फेंक देने योग्य है—और यदि हो सके तो उसे बाँट देना चाहिए, सबका बना देना चाहिए । तब उस बन्धन से मुक्ति मिल जायेगी । पुण्य के दुरभिमान में मत्त होकर मनुष्य प्रायः नवीन दुर्धर्ष पापकर्मों का बन्ध करता है तो वह पुण्य पूजा करने की चीज़ नहीं है—वह हेय है—तिरस्कार्य है । भरत चक्रवर्ती का जड़ पुण्य-फल चक्र ठेलने पर भी बाहुबलि के पास न गया, पर भरत की आत्मा बाहुबलि के चरणों में जा पड़ी ! चक्रवर्ती का प्रेम उसके चक्र-रत्न से बाधित न हो सका । यह है उस पुण्य का मूल्य जीजी, जिस पर हम अपने कुल, शील, मर्यादा, लोकाचार

और सदाचार के मूल्य निर्धारित करते हैं। इस अज्ञान के अमांगलिक पाश को तोड़कर ही चलना होगा, जीजी। उसके प्रति हम निष्क्रिय आत्मार्पण नहीं कर सकते। उसके विरुद्ध अनिरुद्ध खड़े रहकर हमें लड़ना होगा। उस राह में होने-वाले प्रहारों को अचल रहकर, विनयपूर्वक, समभाव से सहन करना होगा।.... और आवश्यकता पड़ने पर निर्मम भी होना पड़ेगा। परिजनों के मिथ्या दुख का मोह भी, हमारी करुणा को उकसाकर, हमें पथच्युत कर सकता है। पर, वह कर्तव्य-पालन नहीं है, वह पराभव है। अहिंसा का अर्थ दुर्बल की दया नहीं है!"

"पर तुम्हारे दुख से महादेवी का दुख अलग नहीं है, बहन। इस घोर आपद-काल में वे तुम्हारा ही मुँह देखकर जीना चाहती हैं—और तुम्हारे दुखी मन के लिए भी उनकी गोद ही एक मात्र आश्रय है।"

"...दुख को बहुत पाल चुकी हूँ, जीजी। रत्नकूट-प्रासाद के उस ऐश्वर्य-कक्ष में, असंख्य रातें अपने अकेलेपन में रो-रोकर बिता दी हैं। पर रुदन के वे दिन अब नहीं रहे, जीजी। उस रुदन से मैं जीवन का सिंगार न कर सकी! लगा कि आत्मा की अवमानना हो रही है—लगा कि मृत्यु का वरण कर रही हूँ। मैं आत्मघात न कर सकी। आत्मघात में से क्या उन्हें पा सकती थी? प्रेम मृत्यु नहीं है—जीवन है। प्रेम निष्क्रिय आत्म-क्षय नहीं है, वह अनासक्त योग है—वह प्रवाह है। शरण उन्हीं चरणों में है, और कहीं नहीं है। कुल-शील, मर्यादा, पाप-पुण्य, जन्म-मरण के स्वामी वे आप हैं। वे आप अपनी मर्यादा की रक्षा करेंगे। निश्चिन्त होकर सर्व के प्रति अपने को देते चलना है।....जाने कब, एक दिन वे निश्चित मिल जायेंगे—इस जन्म में हो, कि पर जन्म में हो...."

"इतना बड़ा विश्वास उस पुरुष के प्रति कर सकोगी, अंजन, जो क्षण की उमंग में तुम्हें त्याग कर चला गया; और जिसके कारण परित्यक्ता और पद-च्युता होने का कलंक सिर पर धरकर तुम्हें जीवन में चलना पड़ रहा है?"

"त्याग करने की स्पर्धा कौन कर सका है, जीजी? कौन किसी को त्याग सका है, जबतक किसी को अपनाने की सामर्थ्य हमारी नहीं है। यह त्याग तो केवल दम्भ है, आत्म-छल है। वह केवल अपने अहं की झूठी तृप्ति है। अपनाया है, इसी से तो त्यागने के अधिकार का उपयोग उन्होंने किया है। कुछ दिन अपने मान को लेकर वे खेलना चाहते हैं तो खेल लें, इसके बाद जब मिलेंगे

तो बीच में कुछ आ नहीं सकेगा ! वे किसी असाधारण रास्ते से मेरे पास आने में महत्ता अनुभव करते हैं तो इसकी उन्हें छुट्टी है। पर जीजी, बाधा पुरुष की नहीं है, बाध्यता तो केवल प्रेम की है। और उसी प्रेम की परीक्षा भी है कि वह अपने प्रेय को प्राप्त कर अपने को सत्य सिद्ध करे। वहाँ पुरुष गौण है, और विशिष्ट पुरुष तो अचिन्तनीय भी हो सकता है। पर यदि प्रेम किसी विशिष्ट पर ही अटका है तो उसमें से अपना द्वार बनाकर ही मुक्ति की राह खुल सकेगी। इसमें लज्जा भी नहीं है और अपमान भी नहीं है। वह दासत्व नहीं है, वह अपनी ही सिद्धि के लिए सहन करना है। पुरुष, पुरुष है और बलवान् है, और नारी कोमला है और सब कुछ सह सकती है, इसीलिए जब चाहे उसे त्यागने का अधिकार पुरुष को है, यह मुझे मान्य नहीं है। नारी की सर्वग्राही कोमलता में एक दिन, दृप्त पुरुष का मिथ्याभिमान, निश्चित आकर गलित हो जायेगा। स्त्री के सर्वहारा प्रेम की इस सामर्थ्य में मेरा अदम्य विश्वास है, जीजी। यदि कापुरुष को परम पुरुष बना सकने का आत्मविश्वास हमारा टूटा नहीं है, तो किस पुरुष का अत्याचार है जो हमें तोड़ सकता है ?....पर यह नहीं कह रही हूँ कि हमें पुरुष की होड़ करनी है। हमें अपने प्रेम की मर्यादा नहीं भूल जानी है। हमारा जो देय है वह हमें देते ही जाना है। पुरुष सदा नारी के निकट बालक है। भटका हुआ बालक अवश्य एक दिन लौट आयेगा। बालक पर तो दया ही की जा सकती है। उसकी हिंसा के विष को पीकर भी नारी ने उसे सदा दूध पिलाया है। नारी होकर अपने इस दायित्व को हमें नहीं भूल जाना है। पर इसीलिए अबला होकर वह असत्य से टक्कर लेगी और उसे चूर्ण कर देगी। उसका आत्मार्पण भी निष्क्रिय और अज्ञ नहीं है, वह ससंज्ञ है ! उसके मुक्तिमार्ग में पुरुष उसकी बाधा बनकर नहीं आ सकता।"

"पर महादेवी ने जो कहा है, उसका क्या होगा, बहन ?"

"....उनका और तुम सब परिजनों का ऋण चुकाने के लिए ही तो इस महल में हूँ, जीजी। और उनकी कृतज्ञ हूँ कि परित्यक्ता वधू को उन्होंने यह रत्नों का महल सौंप रखा है, और उसे वे इतना प्यार करती हैं, इतना आदर देती हैं। पर मेरा ही दुर्भाग्य है कि इस महल को मैं अब रख नहीं सकूँगी। उनकी इस कृपा और प्रेम के योग्य मैं अपने को नहीं पा रही हूँ। मैं तो बहुत

ही अकिंचन हूँ और बहुत ही असमर्थ हूँ यह सब झेलने के लिए....

इस राजमहल में रहकर इसकी और इसके लोकाचार की मर्यादा को मैं नहीं लोपना चाहूँगी। तब देखती हूँ कि इस घर में अब मेरे लिए स्थान नहीं है। यह छोड़कर मुझे चले जाना चाहिए। और कोई रास्ता मेरे लिए चुनने को नहीं है। इस महल में रहना है, तो यहाँ की मर्यादा तोड़ने का अधिकार शायद मुझे नहीं है। पर मेरे निकट वह असत्य है और उसे मैं शिरोधार्य नहीं कर सकूँगी....

"महादेवी के चरणों में मेरे प्रणाम निवेदन करना और उन्हें कह देना कि परित्यक्ता अंजना के इतने वर्षों के गुरुतर अपराध को क्षमा कर दें। परित्यक्ता होना ही अपने आपमें क्या कम अपराध है? फिर मुझसे तो मर्यादा का लोप भी हुआ है! उसके लिए मन में बहुत अनुताप है। अब मेरा यहाँ रहना सर्वथा अनुचित होगा, शायद वह पाप होगा, अपने लिए भी और उनके लिए भी। जितनी जल्दी हो सकेगी, शीघ्र ही मैं यहाँ से चली जाऊँगी, उस राह पर जो मेरे लिए सदा खुली है....।"

आँसू भीतर ही झर रहे हैं—यह कण्ठ-स्वर ऐसा लग रहा है, जैसे किसी गुफा में निर्झर का घोष हो। पर वसन्त की आँखों से तो टप-टप आँसू टपक रहे थे।

"....छिः जीजी, तुम रो रही हो....? अपनी अंजना पर अभिमान नहीं कर सकतीं, तो क्या उसे प्यार भी नहीं कर सकतीं? इतनी अवशता क्यों? अंजना अकिंचन है सही, पर उसे इतनी दयनीय मत मानो जीजी, उसके भाग्य पर और उसके कर्म पर अविश्वास न करो....?"

अंजना चुप हो गयी और मुँह फेरकर सरोवर के जल-प्रसार पर दृष्टि फैला दी। थोड़ी देर बाद चुपचाप दोनों बहनें उठकर वहाँ से साथ-साथ चल पड़ीं। राह में बराबर चल रही हैं, पर एक-दूसरी की ओर देखने का साहस उन्हें नहीं है।

[१७]

पूर्वाह्न में अपने रथ पर, अकेला प्रहस्त, अजितंजय प्रासाद के मार्ग पर अग्रसर है। चारों ओर शरद् की नीलमी श्री फैली है। प्रकृति प्रसन्न है, शीतल

और सजल, तरुणी धूप मुसकरा रही है। इस निर्मलता की आरसी में, प्रहस्त ने पाया कि उसकी सारी अन्तर्भूत व्यथाएँ झलमला उठी हैं।

हाँ, वह जब भी पवनंजय से मिलने आया है, उसका मन सहवेदन से बोझिल रहा है। वह हृदय का द्वार खोलकर पवनंजय के सम्मुख जाता कि अवसर पाये तो उसे अपने भीतर ले ले। पर पवनंजय के सामने पहुँचते ही, उनकी तनी हुई गर्विणी भौंहों पर जाकर सदा उसकी सहवेदना बिखर गयी है। उसके मनसूबे चूर-चूर होकर व्यर्थ हो गये हैं। उसके हृदय के द्वार को जैसे कोई अवहेलना की ठोकर से बन्द कर देता।.......और वह देखता कि देव पवनंजय बोल रहे हैं। ज्ञान की प्रत्यंचा चढ़ी हुई है। हृदय मानो पैरों तले दबा है, और शून्य में सनसनाकर शब्दों के तीर व्यर्थ हो रहे हैं। उनकी वाणी में बुद्धि का गौरव है। वे तत्त्व की भाषा में जीवन का विश्लेषण कर उसे फेंक दे रहे हैं। इनकार उनका जीवन-सूत्र है। पर को इनकार उन्होंने इसीलिए किया है, क्योंकि उन्होंने अपने को ही इनकार कर दिया है। तब उनके निकट जीवन मात्र वस्तु है। व्यक्ति कुछ नहीं है, उसकी आत्म-चेतना कुछ नहीं है, उसकी आत्म-वेदना मिथ्या है।

प्रहस्त ने सदा उनके सम्मुख साधारण मानव होकर अपने को रखना चाहा। अपनी वेदना और करुणा के स्वर को दबाया नहीं। पर उस वेदना और मानवता को सदा कुण्ठित हो जाना पड़ा है। तब उसे अपने दायित्व का भी भान आया है।....उसी ने एक दिन किशोर पवन के सपनों और मन के कवित्व में, एक भव्य तत्त्वज्ञान की प्रतिष्ठा की थी। उसी ने पवन की अपार सौन्दर्य-जिज्ञासा की ऊर्ध्व दृष्टि को, एक प्रबुद्ध दर्शन का तुंग वातायन प्रदान किया था। उसने देखा कि उस वातायन पर चढ़कर पवनंजय अपने अहं-दुर्ग में बन्दी हो गया। वह जीवन के साथ चौसर खेल गया। उसने आत्मा की अवमानना की। तब वह बोला इनकार और तिरस्कार की गर्विणी वाणी।

प्रहस्त सदा वेदना लेकर गया और विषाद लेकर लौटा है। लौटते हुए सदा उसे अपने ऊपर रोष आया है और आत्मग्लानि हुई है। पवन के लिए मानो वह दया से आर्द्र और कातर हो उठता है। क्यों उसने उसे यों जाकर आघात पहुँचाया है? उसकी विषम वेदना पर क्यों उसने व्यंग्य किया है? पर क्या इसमें उसी का दोष है? जहाँ बुद्धि ही के शस्त्रों पर जीवन को परखा जा रहा हो,

वहाँ व्यंग्य के सिवा और क्या निपजेगा? इसी से जब अपने दायित्व से प्रेरित होकर पवन के भटके हुए दर्शन को सही मार्ग-निर्देश करने की चेष्टा उसमें होती है, तब उसके पीछे हृदय का सारा सद्भाव रहते हुए भी, वह व्यंग्य से कठिन और प्रखर हो गयी है। पर पवनंजय तो जैसे चोट को निमन्त्रण देता-सा ही मिलता है; मानो उसे प्रेम भी यदि किया जा सकता है तो चोट देकर ही........! पर प्रहस्त को हार अपनी ही दीख रही है। उसे बार-बार यही बात खाती रही है कि पवन के प्रति अपना देय वह नहीं दे पाया है। यह उसी की असामर्थ्य है कि वह पवन को अपने विश्वास की छाया में न ले सका है।

जो भी पवनंजय ने साफ़ घोषित करके, प्रहस्त से अपने आपको छीन लिया था, फिर भी क्या प्रहस्त रुष्ट हो सका है? क्या उसका हृदय कुण्ठित रह सका है?—पवनंजय के इनकार को झेलकर भी वह उसे अस्वीकार न कर सका है। उसने अपने आप ही समझौता करके राह निकाल ली थी। नियम उसका अचूक है कि दो-चार दिन में बराबर वह यहाँ आ ही जाता है, पवनंजय हों या न हों। यदि मिले तो कैफ़ियत नहीं तलब करता, न अपनी हित-चिन्तना की घोषणा ही किया चाहता है। यदि हो सके तो पवन का सेवक होकर, उसके छोटे-मोटे कामों का सहयोगी हो जाना चाहता है।

प्रासाद के नवम खण्ड के कक्षों में जहाँ लोकों की रचनाएँ हैं, वहीं इन दिनों पवनंजय अपने सपनों को रूप-रंग देने में व्यस्त रहते हैं। वहाँ पहुँचकर प्रहस्त चुपचाप उनके काम की गति-विधि को समझ लेता है। अपने लायक़ कोई काम चुनकर मौन-मौन उसमें जुट जाता है। कभी उसे पता लगता कि आज पवनंजय छत के किसी मेरु-कक्ष में बन्द हैं, तो वह कभी ऊपर जाने की चेष्टा न करता। बाहर से ही लौटकर चुपचाप चला जाता। यदि उसके सामने ही पवनंजय कभी बाहर से लौटते और वह प्रतीक्षा में होता, तो वह यह कभी न पूछता कि 'कहाँ से आ रहे हो?' पवनंजय कोई गम्भीर तत्त्व की बात कहते, तो वह मुसकराकर, उसे सहज स्वीकार कर चुप हो रहता!

उसे बात-बात में एक दिन पवनंजय से यह भी पता लगा था कि विजयार्ध की मेखला में कई विद्याधर नगरियों के राजकुमारों से उसकी मित्रता हो गयी है। उनसे उसे कुछ दुर्लभ विद्याएँ भी प्राप्त हुई हैं। और कभी-कभी एक प्रसन्न

आत्म-तुष्टि का कटाक्ष करके वह आवेश में कहता—''याद है न प्रहस्त, मैंने उस दिन मानसरोवर के तट पर तुमसे कहा था—कि वह दिन दूर नहीं है जब नाग-कन्याओं और गन्धर्व-कन्याओं का लावण्य पवनंजय की चरण-धूलि बनने को तरस जायेगा !....उस दिन के स्वागत के लिए तैयार हो जाओ, प्रहस्त। अब उसी यात्रा के लिए महाप्रस्थान होने वाला है।''

और आज प्रहस्त जब पवनंजय से मिलने जा रहा है तो एक राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है। जम्बूद्वीप के राज-घरानों में यह बात अब छुपी नहीं थी कि आदित्यपुर के युवराज पवनंजय ने, परिणय के ठीक बाद ही नवपरिणीता युवराज्ञी अंजना का त्याग कर दिया था। कुछ दिनों प्रतीक्षा रही, पर देखा कि कुमार का मन फिरा नहीं है। तब अनेक दूर देशों और द्वीपान्तरों से विवाह के सन्देशे और भेंटें लेकर राजदूत आदित्यपुर में आने लगे। आये दिन आतिथ्य-शाला में एक-दो राजदूत इस प्रयोजन के अतिथि अवश्य पाये जाते। लम्बे अन्तरालों से जब कभी पवनंजय माता-पिता के चरण छूने या उनसे मिलने आते, तो राजा और रानी ने अकेले में और मिलकर, पवन के हृदय को पकड़ने के हर प्रयत्न कर देखे हैं। पर वे सफल नहीं हो सके हैं। या तो पवनंजय मौन रहते हैं, या फिर कोई कौतुक करके, अथवा अन्योक्ति-दृष्टान्त देकर बात बदल देते हैं। माँ की बात को तो वे विनोद में ही उड़ाकर हँस भी देते हैं। माँ इस गठीले बेटे को खुलकर हँसते देखकर ही मानो परितोष कर लेती है, और आगे का आग्रह-अनुरोध उसका मानो निर्वाक् हो जाता है।

तब आज प्रहस्त को महाराज और महादेवी की आज्ञा हुई है कि वह इन आये हुए राजकुमारियों के चित्रों को लेकर पवनंजय के पास जाये। उसे दिखा-कर उसके हृदय का भेद पाये। और अपना सारा प्रयत्न लगाकर वह, पवनंजय की अनुमति, दूसरे विवाह के लिए ले आये। वह राज-कर्तव्य लेकर जा रहा है, पर वह अच्छी तरह जानता है कि वह हँसी कराने जा रहा है। पवनंजय की कविता को उसने कौन-सा दर्शन दिया था, वह रहस्य कौन जानता है ? महाराज और महादेवी को भी उस सबका क्या पता है ? उनके निकट तो वह तारुण्य का हठीला अभिमान ही अधिक है, जिसे किसी अनहोने लावण्य की खोज है; और उम्र के बीतते हुए निरर्थक वर्षों में वह आप कहीं ढीला हो जायेगा।

नवम-खण्ड पर कोने के उस अठकोने कक्ष में आज पवनंजय काम में व्यस्त थे। वे कई दिनों से यहाँ अपने ही स्वप्न-कल्पना के अनुरूप ढाई-द्वीप की रचना को सांगोपांग कर रहे हैं। सूचना पाकर पवनंजय ने प्रहस्त को ऊपर ही बुला लिया। प्रहस्त इस कमरे में पहली ही बार आया है। देखा तो, देखकर दंग रह गया। विशाल धातु-स्तबकों में कई प्रकार की गूँधी हुई चिकनी मिट्टियाँ सजी हैं। चित्र-विचित्र पाषाणों, मणियों और उपलों के ढेर चारों ओर फैले हैं। देश-देश की रंग-बिरंगी धूलि और बालुका बिल्लौर के करण्डकों में चमक रही है। शंख और सीपों के बड़े-बड़े चषकों में अनेक रंगों की राशियाँ फैली हैं। जो रचना हुई है उसमें अद्‌भुत रंग-छटा और बारीक रेखाओं में, बड़े ही कौशल और कारु-कार्य के साथ, प्रकृति के विस्तार को, अवकाश और सौन्दर्य को बाँधने का प्रयत्न अविराम चल रहा है। पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और आकाशों की सारी दुर्लंघ्यता कुमार की तूली और उँगलियों के बीच खेल रही है।

मानो कोई बड़ा रहस्य एकबारगी ही खोल दिया हो, ऐसे गौरव की मुसकराहट से पवनंजय ने प्रहस्त का स्वागत किया। प्रहस्त के मन में एकाएक प्रश्न उठा—यह महाशिल्प-व्यापार, यह कलोद्‌भावना किस लिए? अहं-भोग में बन्दिनी होकर यह कला आखिर कहाँ ले जायेगी? ये रंग और रेखाएँ, मानो फैलकर जड़ित हो गयी हैं—उनमें जीवन के प्रवाह की सजीवता नहीं है। लोक का क्षेत्र-विस्तार इसमें बँध भी आये, पर क्या जीवन की इयत्ता का मान इसमें से उपलब्ध हो सकेगा? पर समय-समय पर आकर क्या उसने, इसी रचना के बृहद् आयोजन में मदद नहीं की है?

प्रहस्त बोला कुछ नहीं, सोचा कि रास्ता कौतुक का ही ठीक है। उसने राजकन्याओं के वे चित्र-पट खोल-खोलकर, कमरे में आस-पास आधारों पर टँगे मानचित्रों के ऊपर फैलाकर टाँग दिये। अनायास एक कटाक्ष से पवनंजय ने देख लिया, फिर आँखें तूली की गति में लीन हो गयीं। अपने बावजूद वे मुसकरा आये। प्रहस्त ने मुँह मलकाकर धीरे से कहा—

"लोक की इस विराट् रचना के बीच अब तुम्हें हृदय स्थापित करना है, पवन! इस सबके स्रष्टा और द्रष्टा को केन्द्र में अपना झरोखा बाँधना है। चुनो....! जीवन के इन प्रवाही रूप-रंगों की धारा में अपनी तूलिका डुबा दो,

और उस केन्द्र का अंकन कर दो।"

पवनंजय की वे तल्लीन आँखें उठ न सकीं। उसी तन्मयता में ईषत् भ्रू उचकाकर वे बोले—

"स्रष्टा और द्रष्टा इस रचना में कहाँ नहीं है, जो किसी विशिष्ट बिन्दु पर वह अपने को स्थापित करे? और अपने को उद्घोषित करने का यह आग्रह ही क्या अपनी असामर्थ्य और सीमा का प्रमाण नहीं है? पर अपने सन्तोष के लिए तुम चाहो तो देखो, प्रहस्त, वह दक्षिण विजयार्ध की सर्वोच्च श्रेणी पर है— अजितंजय कूट! वह प्रासाद नहीं है, प्रहस्त, और न वह वातायन है। वह कूट है, चारों ओर से खुला, अरक्षित, प्रकृत! आकाश की अनन्त नीलिमा उसके पादमूल में लहरों-सी आकर टकरा रही है। वही है द्रष्टा के ध्रुवासन का प्रतीक!"

प्रहस्त ने देखा कि फिर विवाद की भूमिका सम्मुख है। नहीं, अपनी बुद्धि पर आज वह धार नहीं आने देगा। वह तर्क नहीं करेगा। और हृदय....? नहीं, उसकी कुंजी उसके पास नहीं है। उसे कर्तव्य का सहारा है और वह उससे बँधा भी है। जो भी इस व्यावहारिकता में वह औचित्य नहीं देखता, फिर भी बात को ठोस भूमि पर लाकर ही निस्तार है। पर कितना ज्वलन्त और बेधक है वह यथार्थ। अपने बावजूद प्रहस्त के हृदय का उभाड़ फूट ही तो पड़ा—

"भैया पवन, अब और हमारे हृदयों को मत कुचलो, अब और अपने आपको यों मत रौंदो।....नहीं, यह बर्बर व्यापार अब मैं नहीं चलने दूँगा। अपने ऊपर और किसी पर तुम्हें करुणा नहीं हुई, पर अपनी माँ के हृदय को अपने इस मूक अत्याचार से अब मत बींधो। वह दृश्य बहुत ही त्रास-दायक और असह्य हो गया है। और भैय्या, जीवन में एकान्त निश्चय-नय की दृष्टि लेकर ही हम नहीं चल सकते। वह निश्चयाभास हो जायेगा। तब तत्त्व के यथार्थ स्वभाव की ओट में अपनी दुर्बलताओं को प्रश्रय देने लगेंगे। वह फिर एक आत्म-घातक छद्म-व्यापार हो जायेगा। जीवन के तात्त्विक यथार्थ को व्यवहार के सापेक्ष अर्थों में देखना होगा; और प्रसंग के अनुसार अपना देय देकर जीवन की धारा को अविच्छिन्न रखना होगा।"

पवनंजय की काम में लगी आँखें और भी विस्फारित हो गयी हैं। उनके होंठों की मुसकराहट और भी फैलकर अपने विस्तार में प्रहस्त के कहे को शून्यवत्

कर देना चाहती है। वे बोले कुछ नहीं, अविचलित अपने काम में संलग्न रहे। प्रहस्त को लगा कि वह फिर अपनी दी हुई राह में जो भटकन आ गयी है, उसे दुरुस्त करने में लग गया है। फिर उसने अपने को रोका और सीधा प्रश्न किया—

"भैया पवन, तुम्हारी हँसी ही मेरे लिए बहुत है। हाँ, सुनो, मेरी तरफ़ देखो—कितने ही राजदूत आ-आकर लौट गये हैं, कितने ही अभी भी अतिथि-शाला में प्रतीक्षमाण हैं। माँ और पिता तुम्हारे हृदय की थाह न पा सके। तब वे क्या उत्तर देते....? इस बार उन्होंने फिर मुझे ही भेजा है। यही विश्वास कर के कि मैं तुम्हारे हृदय के निकटतम हूँ; मैं ही तुम्हें मानसरोवर पर विवाह के लिए राजी कर लौटा लाया था, और इस बार भी दूसरे विवाह के लिए तुम्हारी अनुमति मैं ही ला सकूँगा। जो एक भूल मुझसे हुई है, उसका प्रायश्चित्त यह दूसरी भूल करके ही शायद मुझे करना होगा? उनके विश्वास को मैं क्या कहकर झटका दूँ? वह निर्दयता भी तो मुझसे नहीं हो रही है। अब मेरा दावा तुम्हारे ही सम्मुख है, पवन, अब अपना हृदय मुझसे न छिपाओ। या तो मेरे इस अभागे हृदय को काटकर यहीं दो टूक कर दो, या अपने मर्म की व्यथा मुझसे कह दो।" पवनंजय का अकातर चित्त, इस आवेदन से हिल उठा। उनका सारा अन्तःकरण आर्द्र हो आया। पर इस आर्द्रता का उन्होंने उपयोग कर लिया। खिड़की में से दृष्टि आकाश पर थमी है; अपनी उँगलियों पर तूलिका को नचाते हुए पवनंजय बोले—

"मेरे एकमात्र आत्मीय! क्या तुम भी मेरे मन की व्यथा को इतने दिनों तक अनदेखी ही करते रहे हो? क्या तुम भी, प्रहस्त, उसे कोरा छल और खिलवाड़ ही समझते रहे हो? जो चरम जिज्ञासा की वेदना तुम्हीं ने मेरे किशोर प्राण में एक दिन सँजो दी थी, उसी को आज तुम अस्वीकार करोगे, प्रहस्त? जानता हूँ, तुम्हें कितनी ही बार मैंने चोटें दी हैं, मैंने तुम्हें ठेला है, तिरस्कार और वेदना दी है; उसके पीछे क्या यही दावा और खीज नहीं थी, कि अरे तुम!...अपने ही दिये दुख को देकर भूल गये हो, और अब लोकाचार के रक्षक होकर उसे मिथ्या कहा चाहते हो? तो मुझे चुप हो जाना है, अपनी व्यथा को तुम्हें दिखाने का कोई नाटक मुझसे नहीं हो सकेगा, प्रहस्त!"

"जानता हूँ, पवन, मेरा अपराध अक्षम्य है—पर छोड़ो उसे। उसका प्रायश्चित्त औरों को दुख दिलवाकर तो मुझसे नहीं हो सकेगा। हाँ, तो महादेवी को तुम्हारा क्या मन्तव्य मुझे जाकर कहना है, वही तुमसे सुनना चाहता हूँ।"

"पर तुम्हीं मेरी तकलीफ़ को नहीं समझोगे ? तुम्हीं उसकी उपेक्षा करके मुझसे उत्तर चाहोगे ? खैर, जैसी तुम्हारी इच्छा।...माँ से कहना, प्रहस्त, कि अपनी व्यथा मैं अपनी माँ तक नहीं पहुँचा सका, उसके लिए मुझे पर्याप्त दुख है। पर मुक्ति के मार्ग में निर्मम होकर ही चला जा सकेगा। माता-पिता का मोह भी तब एक दिन त्याज्य ही हो सकता है ! कहना कि अपने अभीष्ट की खोज में जा रहा हूँ। वे दुखी न हों। उनका पुत्र उनके आशीर्वाद को विफल नहीं करेगा, और उनकी कोख को नहीं लजायेगा। वे उसे हर्ष-पूर्वक सिद्धि की खोज में जाने की आज्ञा दें। कल रात मैं उनसे मिलने गया था। जी में आया कि अपनी बात उन्हें कह दूँ, पर कह न सका—उनका वह चेहरा देखकर....!"

"अब कहाँ जाना शेष रह गया है, पवन ?"

"इस प्रश्न का क्या उत्तर दूँ, प्रहस्त ? इसका उत्तर तो चले ही जाना है। और देख रहे हो इस रचना में, वह है मानुषोत्तर पर्वत ! ढाई द्वीपों को पार कर वहाँ तक मनुष्य की गति है। कालोदधि समुद्र की जगती को चारों ओर मण्डलाकार घेरे हुए वह पुष्कर-वर-द्वीप है और उसके बीच पड़ा है वह मानुषोत्तर पर्वत। जाने की बात क्या पूछ रहे हो, पृथ्वी तो उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक घूम आया हूँ, प्रहस्त ! पर क्या अभीष्ट मिल गया है ? और उसके पहले विराम कहाँ ? अब समुद्रों का आमन्त्रण है, उन्हें भी पार करना होगा। इस आकर्षण में ही प्राप्ति छुपी है, प्रहस्त ! दिशाओं में मुक्ति स्वयं बाँहें पसारकर मानो पुकार रही है। अब तीर पर कैसे रुका जा सकेगा ? अब मुहूर्त-क्षण आ पहुँचा है। मुझे जाना ही चाहिए, जाना ही होगा...."

"पहले इधर देखो, पवन, तुम्हारी योजना के मान-चित्रों के ऊपर होकर एक दूसरा ही लोक तुम्हारी राह में आ गया है। उसे पार किये बिना क्या उन समुद्रों तक तुम पहुँच सकोगे ?"

"ओह, इन चित्रों की रूपसियों की कहते हो प्रहस्त ? एक साथ सबको पाकर भी मेरा मन इनसे न भर सकेगा ! मेरी वासना को इस रूप-सीमा में

तृप्ति नहीं है, प्रहस्त ! नहीं, इन तटों में अब और मैं लंगर न डाल सकूँगा। शरीर-शरीर के बीच बाधा है, माया की चकाचौंध है, वंचना है और तृष्णा की आर्तता है; हाथ पड़ता है केवल एक विफल पीड़न। जो इसमें है, वह उसमें नहीं है। हर रूप में कहीं न कहीं 'कुछ' नहीं है। बस वह 'कुछ', जो विच्छिन्न हो गया है, उसी का एकाग्र और समग्र भोग मुझे एक समय में ही चाहिए। मुझे अनन्त सौन्दर्य चाहिए, प्रहस्त, मुझे अक्षय प्रेम चाहिए,—वह कि जिसमें फिर बिछुड़न नहीं है! शरीर की तुच्छ तृप्ति के बाद की विफलता मुझे अपनाने को कहते हो ? जो क्षणिक तृप्ति, अनन्त अतृप्ति को जन्म देती है, वह हेय है। वह मेरी तृप्ति नहीं है, और वह मुझे नहीं चाहिए। इसीलिए जाना है, प्रहस्त, उसी परम तृप्ति की ओर—उसी का यह आकर्षण है। उसकी अवज्ञा कैसे हो सकेगी ?"

"तो क्या वह यों किसी बाहर की यात्रा से पायी जा सकेगी ? और क्या, तुम्हारी कोई निश्चित यात्रा-योजना भी बन चुकी है, पवन ? यदि है, तो क्या वह मैं जान सकूँगा ?"

हँसते हुए पवनंजय उत्साहित हो आये—बोले—"उसी का आयोजन तो है यह रचना, प्रहस्त ! पर, हाँ तुम्हें नहीं पता था। वह देखो हिमवान् पर्वत के मूल में, वृषभाकार मणिकूट के मुख में होकर चन्द्रमा-सी धवल गंगा की धारा गिर रही है। अनेक कूटों और सरोवरों के तोरण पार करती, अनेक भू-प्रदेशों को सौन्दर्य-दान करती, विजयार्ध के रजत-प्रदेश में आकर जरा संकुचित होती हुई, विजयार्ध के गुफा-द्वार में वह भुजंगिनी-सी प्रवेश कर गयी है। रूपाचल की गुफा के वज्र-द्वार में प्रवेश करते समय, वह आठ योजन विस्तार पा जाती है। और देख रहे हो, वे गंगा और सिन्धु नदियाँ जहाँ जाकर लवणोदधि-समुद्र में मिली हैं, उनके वे रत्न-तोरण और वे तट-वेदियाँ दीख रही हैं। भरत-क्षेत्र और जम्बू-द्वीप के सभी भू-प्रदेशों को प्रणाम करते हुए, उन तोरणों तक पहुँच जाना है। और फिर हैं, लवण-समुद्र की वे उत्ताल लहरें। उसमें कौस्तुभ-पर्वत को धारण किये हुए वह सूर्य-द्वीप है, और उससे भी परे चलकर वे मागध, वरतनु और प्रभास द्वीप हैं। देख रहे हो न प्रहस्त ?"

"हाँ, जो वह तो नैसर्गिक है, पर वह है इसीलिए गम्य है और तुम्हारी तृप्ति का मार्ग उसी में होकर है, यही नहीं समझ पाया हूँ !....पर पवन, देख

रहे हो वह उत्तर भरत-क्षेत्र के बहु-मध्य भाग में वृषभ-गिरि पर्वत खड़ा है, जहाँ आकर चक्रवर्ती का मान भी भंग हो जाया करता है। षट् खण्ड-विजय के उप-रान्त, नियोग के अनुसार, जब चक्रवर्ती इस वृषभ-गिरि पर्वत की शिला पर अपनी विजय के चिह्न-स्वरूप अपने हस्ताक्षर करने आता है, तो पाता है कि उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है! उससे पहले ऐसे असंख्य चक्रवर्ती इस पृथ्वी पर हो गये हैं और वे सभी उस शिला पर हस्ताक्षर कर गये हैं। तब यह नया चक्री भी अपने से पहले के किसी विजेता का नाम मिटाकर वहाँ अपने हस्ताक्षर कर देता है; और यों अपनी विजय के बजाय अपने मान की पराजय की ही हस्त-लिपि लिखकर वह चुप-चाप वहाँ से लौट आता है।....पर, खैर, वह तो तुम जानो।....लेकिन, तुम्हारा मार्ग मेरी कल्पना की पकड़ में नहीं आ रहा है। हाँ, तो महादेवी को जाकर मुझे क्या यही सब कहना है, पवन?"

'हाँ, प्रहस्त, यदि मेरी वेदना को तुम इनकार नहीं करते हो—और मेरे सखा हो, तो मेरे मन की इस कथा को माँ तक पहुँचा देना, और कहने को कुछ शेष नहीं है..."

कहकर तुरन्त पवनंजय, बिना कुछ कहे चुप-चाप वहाँ से चल दिये। प्रहस्त ने वे चित्रपट समेटे और म्लान-मुख अपने रथ पर आकर बैठ गया! रास्ते में वह सोच-सोचकर हार गया कि हाय, क्या कहकर वह माँ के हृदय को परितोष दे सकेगा?

[१८]

एक वर्ष बाद...

विजयार्ध के पार्वत्य प्रवेश-तोरण पर युद्ध-प्रस्थान के दुन्दुभि-घोष गूँज रहे हैं। आयुधशालाओं से दिशा-भेदी शंखनाद रह-रहकर उठ रहे हैं। तुरही और भेरी के स्वर-सन्धान में योद्धाओं को रण का आमन्त्रण है....

अपराह्न की अलसता एकाएक विदीर्ण हो गयी। अभी-अभी शय्या त्याग-कर पवनंजय उठ बैठे हैं। प्रासाद के चतुर्थ खण्ड में पूर्वीय बरामदे के रेलिंग पर आकर वे खड़े हो गये। दीखा कि विजयार्ध के अरिंजय-कूट पर आदित्यपुर की

राज-पताका वेग-पूर्वक फहरा रही है। प्रस्थानोन्मुख रथों की जो सरणिका दूर तक चली गयी है, उनके मणि-शिखर और ध्वजाएँ म्लान पड़ती धूप में दमक रही हैं। उठते हुए धूल के बगूलों में अश्वारोहियों की ध्वजाएँ दीख-दीखकर विलीन हो जाती हैं। कवच, शिरस्त्राण और शस्त्रों के फलों से एक प्रकाण्ड चकाचौंध पैदा हो रही है। हस्तियों की चिंघाड़ और अश्वों की हिनहिनाहट से पृथ्वी दहल रही है। भूगर्भ में कम्प है, और आकाश आतंकित है।

तुरत एक प्रतिहारी को बुलाकर, कुमार ने इस अप्रत्याशित युद्ध घोषणा का कारण पूछा। मालूम हुआ कि पाताल-द्वीप के राक्षस-वंशीय राजा रावण ने अपने दैवाधिष्ठित रत्नों के गर्व से मत्त होकर वरुण-द्वीप के राजा वरुण पर आक्रमण किया है। शुरू में जब वरुण की सेनाएँ रावण की सेनाओं से पराङ्मुख होने लगीं, तो वरुण स्वयं युद्ध-क्षेत्र में उतर पड़ा। उसने रावण के देवाधिष्ठित रत्नों की अवहेला कर उसके बाहुबल को ललकारा है। रावण स्वयं उसके सम्मुख लड़ रहे हैं। युद्ध बहुत भीषण हो उठा है। आदित्यपुर वर्षों से पातालाधिपति की मैत्री के सूत्र में बँधा है। रावण का राजदूत सन्देश-पत्र लेकर आया है। आदित्यपुर और विजयार्ध के अन्य कई विद्याधर राजा रावण के पक्ष पर लड़ने के लिए आमन्त्रित किये गये हैं। उसी युद्ध पर जाने के लिए आज आदित्यपुर के सीमान्तर पर सैन्य सज रहा है। महाराज प्रह्लाद स्वयं कल सैन्य के साथ संग्राम को प्रस्थान करेंगे आदि-आदि। कुमार सुनकर आतुर हो आये। संकेत पाकर प्रतिहारी चली गयी।

....रण-वाद्यों का घोष चुनौती दे रहा है। शंखनाद और तूर्यनाद से कुमार का वक्ष हिल्लोलित हो उठा। धमनियों का जड़ित रक्त अदम्य वेग से लहराने लगा। त्वरापूर्वक वे लम्बे डग भरते हुए बरामदे में टहलने लगे। शरीर की शिरा-शिरा से गूँज उठा....युद्ध...युद्ध....युद्ध। मांसपेशियाँ कसमसा उठीं। रक्त-ग्रन्थियों में एक खिचाव-सा हो रहा है। हृदय की घुण्डी तन रही है, मानो टूट जायेगी।...ओह, वर्षों के प्रमाद और मोह से विजड़ित और विषाक्त हो गया है यह रक्त। इसे टूटना ही चाहिए, इसे बहना ही चाहिए....

युद्ध का प्रयोजन, उसका पक्ष, उसकी नैतिकता यह सब पवनंजय के लिए गौण है। प्रधान है युद्ध—युद्ध जो जीवन के संसरण की माँग बनकर प्राण के द्वार

पर टकरा रहा है।....नहीं, इस सम्प्रवाह का अवरोध जीवन की अवमानना है, वह पाप है, वह पराभव है। इससे बचकर भागा नहीं जा सकता, इससे मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। प्रगति के शूल-पथ पर वक्ष का रक्त टपकाना होगा, उसी से अभिसिंचित कर उसे पुष्पित करना होगा....

...हाँ, उसने दिग्विजयी भ्रमण किया है। समस्त जम्बू-द्वीप की पृथ्वी उसने लाँघी है। गंगा और सिन्धु के प्रवाहों पर उसने उन्मुक्त सन्तरण किया है। लवणोदधि के प्रचण्ड मगर-मच्छों को वश करते हुए उसकी उत्ताल तरंगों पर उसने आरोहण किया है। सूर्य-द्वीप में कौस्तुभ पर्वत की चूड़ा पर खड़े होकर उसने वलयाकार जम्बू-वृक्षों की श्रेणियों से मण्डित जम्बू-द्वीप को प्रणाम किया है!

पर मन की विकलता बढ़ती ही गयी है, वह और भी सघन और तीव्रतर होती गयी है। मानो मिट जाने की एक अनिवार और दुर्दाम लालसा प्राणों को अहर्निश बींध रही है। कौस्तुभ पर्वत के शिखर पर जब वह खड़ा था, तो एकबारगी ही उसके जी में आया कि एक छलांग भरकर वह कूद पड़े और लवणोदधि की उन फेनोच्छ्वसित, भुजंगाकार लहरों का आलिंगन कर ले!... उद्भ्रान्त, दिङ्मूढ़ सा वह शून्य में हाथ पसार कर जड़ हो रहा। नहीं, उसे चाहिए प्रतिरोध, संघर्ष, विरोध....। पर्वत, नदी, समुद्र, पृथ्वी और यह महाशून्य, कोई भी तो वह प्रतिरोध नहीं दे सका, जिससे टकराकर, संघर्षित होकर, हृदय की यह दुर्दम्य पीड़ा शान्त हो लेती। प्रगति का मार्ग संघर्ष में होकर है, विरोध में होकर है। अवरोध से टकराकर ही प्रक्रिया की वह चिनगारी, मर्म की इस चिर पीड़ा में से फूट निकलेगी।...इस अन्ध पीड़ा को निर्गति देनी होगी; उसी में छिपा है विकास का रहस्य।...उसे चाहिए आज कुछ ठोस, मांसल, जीवित प्रतिरोध-विरोध, जहाँ वह अपने इस उद्वेग को मुक्ति देकर, प्रगति का उल्लास बनायेगा।

...और यह युद्ध सम्मुख है...। आज आया है वह भैरव निमन्त्रण...हाँ-हाँ, पाशव का भैरव निमन्त्रण। उसी को कुचलकर मानवत्व स्थापित और सिद्ध हो सकेगा।....युद्ध...हिंसा....रक्तपात, निष्काम और निर्मम रक्तपात... केवल नग्न शक्तियों का लोह-घर्षण ?...माना कि अहिंसा है, पर क्या वह फूलों का पथ है ? मौत के मुँह में, दुर्दान्त हिंसा की डाढ़ में, असि-धारा के पानी पर

उस अहिंसा को सिद्ध होना पड़ेगा। शस्त्रों की धारों को कुण्ठित कर अहिंसा को अपनी अमोघता का परिचय देना होगा, अपनी सूक्ष्म आत्म-वेधकता को प्रमाणित करना होगा।...तब शस्त्र की सीमा जान लेना जरूरी है। प्राण ले सकने और दे सकने की अपनी सामर्थ्य का स्वामी हमें पहले हो जाना है। तब हमें जीवन के मूल्य की ठीक-ठीक प्रतीति हो सकेगी, और तभी हम उसके चरम-रक्षक भी हो सकेंगे। तब होगी अहिंसा की प्रतिष्ठा, और तब शस्त्रों के फल हमारी देह में से पानी की तरह लहराकर, कतराकर निकल जायेंगे!

...कर्म-चक्र को तोड़ने के पहले बाह्य शक्तियों के विरोधी दुश्चक्र को तोड़ना होगा। क्षत्रिय की बाहु बहुत दिनों से अकर्मण्य पड़ी है, अब और भूलुण्ठित वह नहीं पड़ी रहेगी। हथेलियों से भुजाएँ ठपकारकर कुमार ने फड़कन अनुभव करनी चाही, पर पाया कि शून्य है; स्वाभाविक प्रस्फूर्ति की कम्पन और फड़कन वहाँ नहीं है। एक आत्म-नाश का हिल्लोल है, जो मथ रहा है—कुछ टूटना चाहता है, नष्ट होना चाहता है।....उन्नत वक्ष पर योद्धा का हाथ गया; हृदय में दीप्त, ज्वलन्त उल्लास नहीं है। है एक हूल, एक पके हुए फोड़े की पीड़ा। एक आसुरी उत्साह से, उद्वेग से, कुमार भर आये....ओह, दुःसह है यह, जाना ही होगा ...

"कौन है....?"

पुकारा कुमार ने। द्वारों से दो-चार प्रतिहारियाँ आकर नत हो गयीं।

"तुरंग वैजयन्त को युद्ध-सज्जा से सजाकर तुरत प्रस्तुत करो!"

आज्ञा पाकर प्रतिहारियाँ दौड़ गयीं। आयुध-शाला में जाकर योद्धा ने कवच और शस्त्रों से अपना सिंगार किया।

और सन्ध्या की मन्द पड़ती धूप में दूर पर दीखा—वैजयन्त तुरंग पर शस्त्र-सज्जित कुमार उड़े जा रहे थे। पिंगल-कोमल किरणों से शिरस्त्राण के हीरों में स्फुलिंग उठ रहे थे।

दिन-भर से महाराज अपने मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा-गृह में बन्द थे। युद्ध-संचालन पर गम्भीर और अति गुप्त परामर्श चल रहा था। पवनंजय घोड़े से उतरकर ज्यों ही द्वार की ओर बढ़े, सेवक राजाज्ञा की बाधा उनके सम्मुख न रख सके। द्वार खुल गये।

अगले ही क्षण कुमार महाराज के सम्मुख थे। देखकर राजा और मन्त्रीगण आश्चर्य से स्तब्ध, मुग्ध और निर्वाक् हो रहे। एक पैर सिंहासन की सीढ़ी पर रखकर पवनंजय ने पिता के चरणों में अभिवादन किया, फिर कर-बद्ध आवेदन किया—

"आज्ञा दीजिए देव, रणांगण में जाने को सेवा में उपस्थित हूँ। पवनंजय इस युद्ध में सैन्य का संचालन करेगा। अपने पुत्र के भुजबल का निरादर न हो देव, उसके पुरुपार्थ की लोक में अवमानना न हो, यह ध्यान रहे। उसे अवसर दीजिए कि वह अपने को आपका कुलावतंस सिद्ध कर सके, अपने क्षात्र-तेज पर वह समस्त जम्बूद्वीप के नरेन्द्र-मण्डल का शौर्य परख सके! मेरे होते और आप रणांगण में जायें? वीरत्व के भाल पर कालिख लग जायेगी। वंश का गौरव भू-लुण्ठित हो जायेगा। आज्ञा दीजिए देव, इसमें दुविधा नहीं होगी...."

"साधु, साधु, साधु!" कहकर वृद्ध मन्त्रियों ने गम्भीर सिर हिला दिये। भीतर-भीतर गूँज उठा—'देव पवनंजय का वचन टलता नहीं है।' महाराज की आँखों में हर्ष के आँसू छलक आये। स्नेह के अनुरोध में, रुँधे कण्ठ की अस्फुटित वाणी रुक न सकी—

"तुम्हारा अभी कुमार-काल है बेटा—और फिर तुम...."

बीच ही में पवनंजय बोल उठे—

"यह दुलार का क्षण नहीं है, देव, क्षत्रिय के सम्मुख कठोर कर्तव्य-विचार है, और सब अप्रस्तुत है, आशीर्वाद दीजिए कि पवनंजय का शस्त्र अमोघ हो; वह अजेय हो मौत के सम्मुख भी....!"

और फिर झुककर पवनंजय ने पिता के पाद-स्पर्श किये। पुत्र के सिर पर हाथ रखकर सुख से विह्वल पिता केवल इतना ही कह सके—

"समूचे विश्व की जय-लक्ष्मी का वरण करो, बेटा!"

और बूढ़ी आँखों के पानी में अनुमति साकार हो गयी।

[१९]

वसन्त ऋतु की चाँदनी रात खिल उठी है। अभी-अभी चाँद तमाल की

वनाली पर से उग आया है। पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र नहीं है, होगा शायद सप्तमी का खण्डित और बंकिम चन्द्र !

धूप-गन्ध से भरे अपने कक्ष में, इष्टदेव के सम्मुख जब अंजना प्रार्थना से उठी, तो झरोखे की जाली से वह चाँद उसे अचानक दीखा। नीचे था तमालों का गम्भीर तमसा-वन। अंजना को लगा कि कौन गर्वीली, बंकिम चितवन अन्तर में बिजली-सी कौंध गयी....!

वह उठी और बाहर छत पर आ गयी....। रात्रि के प्राण सुख से ऊर्मिल हैं। रजनीगन्धा, माधवी और मौलश्री के कुंजों से फैलती सौरभ में जन्मान्तर की वार्ता उच्छ्वसित हो रही है।—नारिकेल-वन के अन्तरालों में पुण्डरीक सरोवर की लहरें वैसी ही लीला और लास्य में लोल और चंचल हैं। दुरन्त हैं वे—जल-कन्याएँ। ऐसी कितनी ही वसन्त, शरद् और वर्षा की रात्रियाँ उनमें होकर निकल गयी हैं, पर वे लहरें तो हैं वैसी ही चिर कुमारिकाएँ! कौन छीन सका है उनका वह बालापन ?

अंजना का मन, जो स्मृतियों की एक घनीभूत ऊष्मा से घिरकर आहत हो रहा था, अप्रतिहत भाव से उठकर चला गया उन वयहीन जल-कन्याओं के देश में।....नहीं, वह भव की विगत मोह-रात्रि में नहीं भटकेगी—नहीं ढोयेगी वह स्मृतियों का बोझा। वह नहीं होगी अतीत से अभिभूत और आवृत। अमलिन, शुभ्र—वह तो वैसी ही रहेगी अबन्ध और अनावरण, अपने ही आत्म-रमण में लीलामयी-लास्यमयी।

एकाएक दृष्टि फिर चाँद की ओर खिंच गयी। कि उसी चितवन के मान ने, उसी भंगिमा के गौरव ने अन्तर को बींध दिया। सौरभ की एक अन्तहीन श्वास प्राण में से सरसराती हुई चली गयी........।

........ओह, बाईस वर्ष बीत गये, तुमने सोये या जागते किसी आधी रात में भी द्वार नहीं खटखटाया। कभी खटका सुनकर मन की हठ को न टाल सकी हूँ तो आतुर पैरों से आकर द्वार खोला है और पाया है कि बाहर हवाएँ खिल-खिला रही हैं और झाड़ हँसी कर रहे हैं। पर आज कौन हो तुम, जो इस एकान्त साम्राज्य के द्वार की अर्गला से मनमाना खिलवाड़ कर रहे हो ? पर सम्राज्ञी स्वयं तुम्हारे इस ऐश्वर्य-साम्राज्य से निर्वासित हो गयी है। वह चली

गयी है परे, बहुत दूर, क्योंकि तुम्हारी इस महिमा और प्रताप को झेलने के लिए वह बहुत क्षुद्र थी—बहुत असमर्थ। इसी से उसे चले जाना पड़ा—अब क्यों उसका पीछा कर रहे हो ?

चारों ओर पसरे चाँदनी-स्नात उद्यान में अंजना की दृष्टि दौड़ गयी। वन-घटाओं और कुंजों का पुंजीभूत अन्धकार चाँदनी के उजाले में अनेक रहस्यों की अलकें खोल रहा था। पेड़ों तले बिछे छाया-चाँदनी के रहस्य-लोक में प्रतीक्षा की एक कातर, व्यग्र दृष्टि भटक रही है। कोई आया चाहता है........आनेवाला है......! तभी कोई छायाकृति जाती हुई दीख पड़ती—केलिगृह के झरोखों और द्वारों में होकर, क्रीड़ा-पर्वत के गुल्मों में होकर, कृत्रिम सरोवरों के कमल-वनों में होकर, वह चला ही जा रहा है। श्वेत है उसका घोड़ा; भयानक वेग से वह दौड़ता हुआ झलक पड़ता है। निर्मम पीठ किये, अचल है उसपर योद्धा ! पर उसका शिरस्त्राण निश्चिह्न है........?

एक गहरी चिन्ता से अंजना व्याकुल हो उठी।.......नहीं पकड़ पा रही है वह उसे।........विजयार्ध के कंगूरों पर झपट रहा है वह श्वेत अश्वारोही.......। पर उसका शिरस्त्राण क्यों नहीं सूर्य-सा प्रभामय और दीप्त है ?.... अंजना ने अनजाने ही दोनों हाथों से हृदय को दाब लिया........ओह, क्यों नहीं चल रहा है उसका वश, कि इसे तोड़कर एक चिन्तामणि उस शिरस्त्राण में टाँक दे........!

और जाने कब अंजना भीतर आकर अपने तल्प पर लेट गयी थी। तल्प की पाषाणी शीतलता से वह अपने दुखते हुए वक्ष को दबाये ही जा रही है। मानो इसकी सारी स्वाभाविक शीतलता और कठोरता को या तो वह अपने में आत्मसात् कर लेगी, या आप उस पाषाण में पर्यवसित हो जायेगी !

रूप........? कोई सांगोपांग स्वरूप तुम्हारा नहीं देखा है, न जानती ही हूँ। पर देखी है तुम्हारी अजेय और उन्मुक्त गतिमयता, मानसरोवर की उन विरुद्धगामिनी लहरों पर ! लौटकर जिसने नहीं देखा, वह पुरुषार्थ ! उस सतत प्रवहमान को पाकर मुकर गयी हूँ रूप को—कि उस सौन्दर्य और तेज को काल के हाथों क्षत होते नहीं देखूँगी ! आज भी देख रही हूँ कि तुम गतिमय हो।.... ... आ नहीं रहे हो, तुम तो चले ही जा रहे हो। बाईस वर्ष तक तुम्हारी उपेक्षा

की पीठ को सहन किया है, सो इसी के बल पर। अनेक नव-नवीन मनमाने रूपों और भंगिमाओं में तुम्हें अपने अन्तर में देखा है, पर वह एक और स्थिर कोई विशिष्ट रूप तुम्हारा नहीं जानती हूँ।........आज मन नहीं मान रहा है।...... एक बार तुम्हारी गति की बाधा बनकर, तुम्हारे अश्व की चाप को इस वक्ष पर झेलना चाहती हूँ—और जब अटक जाओगे, तभी उझककर एक बार वह रूप देख लूँगी........! फिर उसकी मिथ्या बाधा मेरे साथ छल नहीं खेल सकेगी।.... और टाँक दूँगी तुम्हारे शिरस्त्राण में यह चिन्तामणि....

दिन-भर युद्ध के ,वाद्यों के घोष गूँजते रहे हैं।........युद्ध-वार्ता जानी और साँझ को सुना कि तुम जा रहे हो सेनानी बनकर . ...? पर इस युद्ध के प्रयोजन में क्या तुम औचित्य देख रहे हो मेरे वीर? निर्विवेक युद्ध क्षत्रिय का कर्तव्य नहीं, वह उसकी लज्जा है; बर्बरता है। तुम असद् के पक्ष में मद के पक्ष में लड़ने चढ़ोगे?......ओह, केवल युद्ध के लिए युद्ध?.......मानो कुछ काम नहीं है तो जीवित मनुष्यों के मुण्डों से ही क्षत्रिय का प्रमत्त शस्त्र खिलवाड़ करेगा!....... तो पहले इस वक्ष को भी रौंदते जाओ, एक प्रहार इसे भी देते जाओ, यदि तुम्हारा प्यासा वीरत्व, अणुमात्र भी तृप्ति पा सके........!

....ओ मेरे गतिमान्, गति का अभिमान भी बन्धन ही है—वह मुक्ति नहीं है; वह पीछे किसी अतीत की ध्रुव-मरीचिका से हमें बाँधे हुए है........।

और अन्तराल में कसक उठा—'तुम्हें रोकनेवाली मैं कौन होती हूँ?' कितनी ही बार तुम्हारी दुर्गम और विकट यात्राओं के वृत्त सुने, और सुनकर चुप हो गयी। कौतुक सूझा और हँसी भी आयी है, पर प्रश्न नहीं किया! पर आज तुम युद्ध में जा रहे हो और तुम्हारी गति की यह वक्रता—यह दुर्दमता मन में भय और सन्देह जगा रही है। भयानक और प्रचण्ड हो तुम! तुम्हें एक बार पहचान लेना चाहती हूँ—ओ स्वरूपमय—कि जाने कितने जन्मों का यह बिछोह है, और कहीं तुम्हें भूल न जाऊँ.......सिर्फ़ एक बार, एक झलक........

फूटती हुई ऊषा के पाद-प्रान्त में दुन्दुभियों के ,घोष और भी प्रमत्त हो उठे हैं। मानो प्रलयकाल की बढ़िया किसी पर्वत में धँसने के लिए पछाड़े खा रही है। दूर-दूर चले जाते प्रस्थान के वाद्यों में दुर्निवार है गति का आवाहन। शंख-

नादों में चण्डी की रुद्र हुंकृति, त्रिशूल-सी उठ-उठकर हृदय को हूल रही है।

और उदय होते हुए सूर्य के सम्मुख स्वर्ण-रत्नों से अलंकृत धवल वैजयन्त तुरंग पर चले आ रहे हैं, कुमार पवनंजय। माँ ने अभी-अभी तिलक कर उनकी कटि पर कृपाण बाँधी है, तथा श्रीफल और आशीर्वाद देकर उन्हें युद्ध के लिए बिदा किया है। वीर-सज्जा में कसे हुए योद्धा के अंग जहाँ से जरा भी खुले हैं, वहाँ से रक्ताभा फूट रही है। कवच पर वे केशरिया उत्तरीय धारण किये हैं; रत्न-हारों की कान्ति को ढाँकती हुई शुभ्र फूलों की अनेक पुष्ट मालाएँ देह पर झूल रही हैं। कलशाकार शिरस्त्राण और मकराकृति कुण्डलों के हीरों में प्रभा की एक मरीचिका खेल रही है।

युद्धारूढ़ कुमार अन्तःपुर का प्रासाद-प्रांगण पार कर रहे हैं। झरोखों से फूलों की राशियाँ बरस रही हैं। प्रांगण में दोनों ओर क़तार बाँधे हुए प्रतिहारियाँ चँवर ढोल रही हैं। सौ-सौ स्वर्ण-कलश और आरतियाँ लेकर कुल-कन्याएँ कुमार के वारने (बलैयाँ) ले रही हैं। गमन की दिशा में एक श्रेणी में उद्ग्रीव होकर कुमारिकाएँ मंगल के शंख बजा रही हैं। चारों ओर रमणी-कण्ठों से उठते हुए जय-गीतों की सुरावलियों से वातावरण आकुल-चंचल है।

रत्नकूट-प्रासाद के सामने से निकलते हुए कुमार के भ्रू-भंग अनजाने ही धनुष की तरह तन आये। जितना ही पीछे खिंच सके, खिंचकर तीर ने अपना आखिरी बल साधना चाहा। वह गर्व अपने तनाव में पूर्ण वृत्ताकार होता हुआ, आखिर अपने ध्रुव पर अवश जा ठहरा!

देखा पवनंजय ने, प्रासाद के द्वारपक्ष में एक खम्भे के सहारे टिकी अंजना खड़ी है! दोनों हाथों में थमा है मंगल का पूर्ण कलश, जिसके मुख पर अशोक के अरुण पल्लव बँधे हैं। सुहागिनी की शृंगार-सज्जा उस दूज की विधु-लेखा-सी तरल-तनु देह में लीन हो रही है। अकलंक गल रही हिम की उस शुभ्र सजलता में विषाद की एक गहरी रेखा बह रही है, घुल रही है और फिर ऊपर आ जाती है। अंजना की उस स्थिर सजल दृष्टि में कुमार ने निमिष-भर झाँका........ विश्व की अथाह करुणा का तल उन आँखों में झलक गया........! पर होंठों पर है वही आनन्द की, मंगल की अमन्द मुसकराहट!

....नहीं, वह नहीं रुकेगा....वह नहीं देखेगा....ओह, अशुभ-मुखी! ...कुमार

ने झटके के साथ कुहनी पीछे खींचकर वल्गा खींची; घोड़े को एक सवेग ठोकर से एड़ दी। हाथ का श्रीफल झुँझलाहट में हाथ से गिरते-गिरते बचा।....खड्ग-यष्टि में से खिचकर तलवार उनके हाथों में लपलपा उठी। एक दीर्घ सिसकी के साथ आये हुए उच्छ्वास में तीव्र किन्तु स्फुट स्वर निकला—

"दुरीक्षणे....छिः!"

शब्द की अनुध्वनि अपने लक्ष्य पर जा बिखरी। अंजना की मुसकराहट और भी दीप्त होकर फैल गयी। उसके अन्तर में अनायास स्वरित हो उठा—

"आह, आज आया है प्रथम बार वह क्षण, जब तुमने मेरी ओर देखा....तुम मुझसे बोल गये!....हतभागिनी कृतार्थ हो गयी, जाओ अब चिन्ता नहीं है।....अमरत्व का लाभ करो!....देश और काल की सीमाओं पर हो तुम्हारी विजय! पर मेरे वीर, क्षत्रिय का व्रत है त्राण, उसे न भूल जाना। तुम हो रक्षक, अनाथ के नाथ....जाओ, शत्रुहीना पृथ्वी तुम्हारा वरण करे....!"

और अगले ही क्षण वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। कि नहीं रहेगी, वह शेष! और आँसू अविराम और नीरव, उन बन्द नेत्र-पक्ष्मों में से झर रहे थे।

रास्ते में पवनंजय के हृदय की घृणा तीव्रतम होकर मानो रुद्ध हो गयी और देखते-देखते वह छिन्न-विच्छिन्न हो गयी। युद्ध-सज्जा की सारी कसावटों के बावजूद स्नायु-बन्ध ढीले पड़ गये। अनायास एक असह्य, निगूढ़, अननुभूत, अतल वेदना देह के रोयें-रोयें में बज उठी। आस-पास से उठ रही मंगल-ध्वनियाँ, सैन्य-प्रवाह की जय-जयकारें, वाद्यों के तुमुल घोष, सभी मानो दूर से आते हुए एक अरण्य-रोदन से गूँजकर व्यर्थ हो रहे थे। और उस सबके बीच अकेले कुमार, अपने ही आपसे पराजित, भयभीत, हतबुद्धि, कातर, वितृष्ण चले जा रहे थे।....

[२०]

योगायोग : सैन्य ने मानसरोवर के तट पर जाकर ही पहला विश्राम किया। कटक के कोलाहल से तट की निर्जनता मुखरित हो गयी। दूर-दूर तक सैन्य का शिविर फैल गया।—भोजन-पान से निवृत्त होकर श्रान्त और क्लान्त सैनिक-जन अपने-अपने डेरों में विश्राम लेने लगे। हाथी, घोड़े और बैल बन्धनों से छूटकर,

तलहटी की हरियाली घास में चरने को मुक्त हो गये।

पवनंजय अपने डेरे में विश्राम नहीं पा सके। मार्ग का श्रमक्लेश मानो उन्हें छू भी नहीं सका है। करवट बदल-बदलकर उन्होंने निद्रस्थ हो जाना चाहा है, कि मन और शरीर शान्त और स्वस्थ हो लें। यह निरर्थक उलझनों की उधेड़-बुन मिट जाये, और सवेरे युद्ध ही हो उनका एक मात्र काम्य और उद्दिष्ट। पर अंग अनायास संचालित हैं—सिमट-सिकुड़कर अपने भीतर ही मानो लुप्त हो रहना चाहते हैं। लेकिन इस भीति और त्रास से जैसे रक्षा भीतर नहीं है। एक अवचेतन हिल्लोल के वेग से पैर चालित और चंचल हैं।

अकेले ही वे घूमने निकल पड़े, निष्प्रयोजन और निर्लक्ष्य। वे कितनी दूर और कहाँ निकल आये हैं, इसका उन्हें भान नहीं है।

वसन्त के कोमल आतप में पर्वतों की हिमानी सजल हो उठी है; स्फटिक और नीलम मानो पिघलकर बह रहे हैं। उपत्यकाओं और घाटियों में वन्य-सरिताएँ और सरसियाँ प्रसन्न और स्वच्छ हैं। किनारे उनके मोतिया, कासनी, गुलाबी, आसमानी आदि हलके रंगों के कुसुम-वन सजल आभा में चित्रित हैं। स्निग्ध किसलयों और पल्लवों से अंकुरित पार्वत्य पृथ्वी किशोरी-सी नवीन और मुग्धा लग रही है; मानो आमन्त्रण से भरी है। पर्वत-ढालों पर सरल, साल और सल्लकी के छत्र-मण्डल से तनोंवाले उत्तुंग वृक्षों की मालाएँ फैली हैं। बीच-बीच में पगडण्डियाँ जंगली हाथियों के दाँतों से टूटी हुई मैनसिल की धूल से धूसर हैं। पाषाण-भेद वृक्षों की मंजरियों से शिलातल आच्छादित हैं। पर्वत के पाषाण-स्तरों में अनेक प्रकार के मद, रस और धातु-राग पिघल-पिघलकर दिन-रात बह रहे हैं......

......पवनंजय ने अनुभव किया कि जैसे उनके भीतर की कठिन ग्रन्थियों की घुण्डियाँ अनायास खुल पड़ी हैं। अरे यहाँ तो सभी कुछ द्रवीभूत है, नम्र है, परस्पर समर्पित है; सभी कुछ सरल, सुषम और प्रसन्न है!

अकुण्ठित औत्सुक्य और जिज्ञासा से वे आगे बढ़ते ही गये। पर्वत के अन्तः-प्रदेशों में जहाँ तक मार्ग जाता है, वे चले जाते हैं; और छोर पर जाकर किसी निभृत एकान्त में वे पाते हैं—सुरपुन्नाग के अँधियारे वनतल में झरी हुई पराग बिछी है, स्वर्ण की रज-सी दीप्त। किस विजनवती ने, किस अनागत प्रवासी के

लिए यह पराग की सौरभ-शय्या जाने कब से बिछा रखी है ? क्या वह प्रवासी कभी न आया और कभी न आयेगा ? और क्या यह अभिसार अनन्त काल तक यों ही निरर्थक चलता रहेगा ? वन के अँधियारे विवरों में कुमार धँसते ही चले जा रहे हैं, मानो द्वार के बाद द्वार पार कर रहे हैं। ऐसे अनेक नैसर्गिक पुष्प-कुंजों के तले पराग और कुसुमों की ऊष्म और शीतल शय्याएँ बिछी हैं। इस निभृत की वह चिर प्रतीक्षमाणा बाला किस निगूढ़ पर्वत-गुफा में एकान्त-वास कर रही है ? अनेक वसन्त-रात्रियों के सुरभित उच्छ्वास वहाँ शून्य और विफल हो गये हैं। कहाँ छिपा है इस चिर दिन की विच्छेद-कथा का रहस्य ?

उपत्यका के दोनों आकाश-भेदी पर्वत-प्राचीरें खड़ी हैं। बीच के संकीर्ण पथ में से पवनंजय चले जा रहे हैं, कि अचानक ऊपर के खुले आकाश को देखने के लिए उन्होंने गरदन उठायी। उन्होंने देखा—एक ओर के पर्वत-शृंग की एक चट्टान जरा आगे को झुक आयी है—और उसपर खड़ा है एक श्वेत प्रस्तर का छोटा-सा मन्दिर। आस-पास उसके घास और संकुल झाड़ियाँ उगी हैं। द्वार उसका रुद्ध है, और वहाँ तक जाने के लिए राह कहीं नहीं है। मन्दिर के श्वेत गुम्बद पर सान्ध्य सूर्य की एक रक्तिम किरण ठहरी है। .. अरे, कौन है वह अभागा देवता, जो इस अरण्य की सुनसान और भयानक गुंजानता में कपाट रुद्ध कर समाधिस्थ हो गया है ? क्यों उस उत्कट ऊँचाई पर जाकर वह अपने ही आत्म-संक्लेश में बन्दी हो गया है ? उस अज्ञात देवता की विषम पीड़ा, पवनंजय के वक्ष में जैसे कसमसा उठी। और उसे लगा कि ये दोनों ओर की पर्वत-प्राचीरें अभी-अभी मिल जायेंगी, और यह अभी एक अतलान्त अन्धकार की तह में सदा के लिए विसर्जित हो जायेगा।

पवनंजय द्रुतगति से झपटते हुए बढ़ चले। जल-तरंगों से आर्द्र पवन का स्पर्श पाकर वे आश्वस्त हो गये। थोड़ी ही देर में वे मानसरोवर के एक विजन तट पर आ निकले। उन्हें लगा कि एक पूरी परिक्रमा ही कर आये हैं। झील के सुदूर पूर्व तट पर दीख रहा है वह सैन्य का शिविर। यह तट सर्वथा अपरिचित और एकान्त है। सामने झील के पश्चिमी किनारे पर जो गुफाओं की श्रेणी है, उनमें से विपुल अन्धकार झाँक रहा है। उनके शीर्ष पर की झाड़ियों में अस्तगामी सूर्य की लाल किरणें झर रही हैं। जल-तरंगों के नीलमी कुहासे में दीख रहा है

वह गुफाओं का राशि-राशि अन्धकार। और उसके सम्मुख फैली है यह जल-विस्तार की प्रशान्त विजनता। कौन योगी मौन और आत्म-विस्तृत होकर सहस्रावधि वर्षों से इस अन्धकार की श्रृंखलाओं में बँधा, इन गुफाओं के पाषाणों में जड़ीभूत हो गया है? किस जन्म-जन्म के दुरभिशाप से वह शापित है? किस अविजानित अन्तराय से वह बाधित है? क्या है उसके तरुण मन की चाह? क्या है उसकी चिन्ता और उसका स्वप्न? उस अँधेरे की चिर उन्निद्र अचेतनता में से एक गम्भीर पीड़ा का वाष्प आकर मानो पवन के हृदय में बिंधने लगा। वह मुक्त करेगा उस योगी को, तभी जा सकेगा....वह पार करेगा झील और भेदेगा गुफाओं की उस तमसा को....!

तभी उसकी दृष्टि उन गुफाओं से परे, मानसरोवर के सुदूर पश्चिमी जल-क्षितिज पर गयी। विरल देवदारु वृक्षों के अन्तराल में सूर्य का किरण-शून्य चम्पक बिम्ब डूब रहा है। कोई गहरी नीली लहरी उसपर उझककर ढुलक जाती है। उसपर होते हुए हंसों और सारसों के युगल रह-रह कर आर-पार उड़ जाते हैं। कुमार को लगा कोई तरुण योगी जल-समाधि ले रहा है। समस्त तेज उसका पर्यवसित हो गया है, उन उझकती लहरों में; और उनके तरल शीतल आलिंगन में हो गया है वह निरे शिशु-सा कोमल और निरीह....

....तभी एकाएक पैरों के पास पवनंजय को किसी पक्षी का आर्त स्वर सुनाई पड़ा। ज्यों ही उनकी दृष्टि वहाँ पड़ी तो उन्होंने देखा कि तट के कमल-वन में तरंग-सीकरों से आर्द्र एक कमल-पत्र पर एक अकेली चकवी छटपटा रही है। इस जलमय पत्र की मृदु शीतलता भी मानो उसे शूल हो गयी है! वह त्रस्त नयनों से डूबते हुए सूर्य की ओर देखती है, और आकुल होकर, पंख फैलाकर लोटने लगती है। वह झुककर जल में अपना प्रतिबिम्ब देखती है और उसे लगता है कि वही है....वही है उसका प्रीतम चकवा, इस जल के तल में। वह करुण स्वर में उसे पुकारती है, पर वह प्रीतम नहीं सुनता है, नहीं आता है। वह उन लहरों में चोंच डुबो-डुबोकर उसे खींच लेना चाहती है, पर वह खो जाता है! हारकर वह चकवी श्लथ पंखों से तट के वृक्षों पर जा बैठती है। सूनी आखों को फाड़-फाड़कर वह दसों दिशाओं को ताकती है। दूर कटक से आ रहे कोलाहल के विचित्र स्वर उसे भ्रमित कर देते हैं। वह हारकर, झींककर, वियोग के आक्रन्दन

से विह्वल हो भूमि पर आ गिरती है। पंख हिला-हिलाकर, कमलों की सुरभित-कोमल रज लग गयी है, उसे वह दूर कर देना चाहती है। डूबते हुए सूरज की कोर पर चकवी का प्राण अटका है।....कि लो, वह सूरज डूब गया, और चकवा अब नहीं आयेगा! और विरह की यह रात्रि सम्मुख है आसन्न? निष्प्राण होकर चकवी भूमि पर पड़ गयी।

....और आत्मा के अवशेष अन्तरालों को चीरकर दूर से आती हुई जैसे एक 'आह' कुमार को सुनाई पड़ी। मूक और निस्पन्द पड़ी है यह चकवी, फिर किसकी है यह करुण पुकार?

....काल का अभेद्य अन्तराल जैसे एकाएक विच्छिन्न हो गया।....वर्षों पहले की एक सन्ध्या में, सरोवर के इसी प्रदेश में, लहरों की गोद में लीला का वह मुक्त क्षण!....और वहाँ सामने बना था वह उजला महल....दिगन्त में वह 'आह' गूँज उठी थी, और उसी की उसे खोज थी।....पर हाय, भूल गया था वह अभागा, उसी पुकार को जिसे अनजान में खोजते ही ये सारे वर्ष विफल हो गये हैं। उस दिन पुरुषार्थ के अभिमान ने उसे लौटकर नहीं देखने दिया था। पर आज....? आज वह खड़ा है इस शून्य में आँखें पसारकर....बेबस?....पर नहीं है वह महल....नहीं है वह अटा...नहीं हैं उस मृदु मुख की केश लटें...नहीं है वह उड़ता हुआ नीलाम्बर! केवल एक पुकार दिगन्तों के अन्तराल में बिछुड़ती ही चली जा रही है....!

सामने के उस तट में बनी थी, लहरों से विचुम्बित वह परिणय की वेदी। जल की नीलाभा पर वे होम की सुगन्धित अग्नि-शिखाएँ। धुएँ के नील आवरण में उस प्रवाही लावण्य की ऊर्मिल आभा झलक जाती।...पर मन की उस क्षण की वह प्रतारणा, वह आत्मद्रोह...! वह नहीं देख सका था उसे, वह नहीं सह सका था सौन्दर्य की वह दिव्य श्री। ओ अभागे, किस जन्म की विषम और दीर्घ अन्तराय लेकर जन्मे थे? कैसा दुर्धर्ष था यह अभिशाप? कितने वर्ष बीत गये हैं....गिनती नहीं है...शायद दस-बीस....बाईस वर्ष...मैंने मुड़कर नहीं देखा....

यह तिर्यक् चकवी एक रात के प्रिय के विरह में हतप्राणा हो गयी है। पर उस मानवी ने उस रत्नमहल की वैभव-कारा में बाईस वर्ष बिता दिये....बाईस वर्ष! कोई अभियोग नहीं, कोई अनुयोग नहीं, कोई उपालम्भ नहीं? एक व्याध

की तरह मानसरोवर की उस हंसी को मैंने सोने के पिंजड़े में ले जाकर बन्द कर दिया और फिर लौटकर नहीं देखा कि वह जी रही है या मर गयी है ! देखना दूर, उसकी बात सोचना भी मुझे पाप हो गया था।

अकस्मात् एक सघन विषाद के आवरण को चीरती हुई दीखी वह पूर्ण मंगल-कलश लिये, महल के द्वार-पक्ष में खड़ी अंजना। एक अवश आक्रन्दन से पवनंजय का सारा मन-प्राण विह्वल हो उठा ! अरे तुम्हीं हो....तुम ! विच्छेद की सहस्रों रातों में वेदना की अखण्ड दीप-शिखा-सी तुम बलती रही हो ?....और उस दिन चुप-चाप मुसकराकर, मुझ पापी का पथ उजाल रही थीं ! क्या था तुम्हारा ऐसा अक्षम्य अपराध कि मैंने तुम्हारा मुँह तक नहीं देखा, और डंके की चोट तुम्हें त्याग दिया ? मैंने त्याग दिया था, क्योंकि मैं पुरुष था, पर तुम ? क्या तुम मुझे नहीं त्याग सकती थीं ? तुम भी तो दीक्षा लेकर अपने आत्म-कल्याण के पथ पर जा सकती थीं ?....पर तुम न गयीं !....क्योंकि मेरे युद्ध-प्रस्थान की वेला में, वह मंगल का कलश जो तुम्हें सँजोना था....!

....एक और आत्म-मोह का आवरण मानो सामने से हट गया। उसे दीखी एक मुग्धा किशोरी ! उसकी वह समर्पण से आनत भंगिमा, जो अपने प्रिय की स्तुति सुनकर सुख में विभोर हो गयी है। आँखें उसकी निगूढ़ लाज से मुँद गयी हैं। माथा झुका है, और होंठों पर है एक सुधीर गोपन आनन्द की मुसकराहट। एकरस और अजस्र है वह प्रवाह। स्पर्शन, दर्शन, वचन का विकल्प वहाँ नहीं है। स्वीकार की अपेक्षा नहीं ह, कामना की आतुरता और व्यग्रता भी नहीं है। केवल है अपना ही विवश और विस्मृत निवेदन। वचन वहाँ व्यर्थ है, फिर कौन-सी तिरस्कार, निन्दा या गर्हा की वाणी है, जो आनन्द की उस मुसकराहट को भंग कर सकती है ? और कौन-सा अपराध है जो इस मुग्धा को आज उससे छीन सकेगा....?

तभी अचानक तन्द्रा टूट गयी। पवनंजय ने पाया कि उस विजन तीर पर, वह स्वयं परित्यक्त और अकेला है;....वह स्वयं मूर्तिमान्, नग्न अपराध के प्रेत-सा खड़ा है। झील पर झलमलाती इस चाँदनी में उसकी एक दीर्घ, दानवाकार छाया पड़ रही है। वह अपने आपसे ही भयभीत होकर काँप-काँप उठा। वह बिल-बिला आया और दोनों हाथों से मुँह ढाँपकर धरती पर बैठ गया। राह भूला

हुआ कोई बालक, दिन-भर भटकने के बाद, रात में राह असूझ हो जाने पर कहीं कटे पेड़-सा आ गिरा है ।

एक आर्त कराह के साथ चकवी फिर तड़प उठी । पवनंजय ने चिहुककर देखा । वे व्यथा से व्याकुल हो आये ।" वे क्या कर सकते हैं उसके लिए ? क्या देकर उसे धीरज दे सकते हैं ? परिताप से उफनता हुआ यह अपराधी हृदय ? ओह, वह उसमें झुलस जायेगी । वह कमल-पत्र का गीला स्पर्श भी उसे असह्य हो गया था....! और उनकी आँखों में झिर-झिर-झिर आँसू बह आये—उत्तप्त—मानो पिघलता हुआ लोहा हो; पाषाणों के प्रकृत काठिन्य को बींधकर जैसे निर्झरिणी फूट पड़ी हो !....

डेरे के एकान्त में प्रहस्त और पवनंजय आमने-सामने बैठे हैं । अभी-अभी कुमार मन का सारा रहस्य खोलकर चुप हो गये हैं । सुनकर प्रहस्त आश्चर्य से दिग्मूढ़ हो गया—हाय-हाय री मानव मन की दुर्बलता, मानव भाग्य की पराजय ! अहं की इस जरा-सी फाँस में इतना बड़ा अनर्थ घट गया । गोपन के इस नगण्य-से लगनेवाले पाप में दुख की एक सृष्टि ही बस गयी; अनेकों जीवन निरर्थक हो गये । कितने न ऐसे रहस्य आत्मा के अन्तराल में लेकर यह संसारी मानव जन्म-मरण के चक्रों में आदिकाल से भटक रहा है ? बोले प्रहस्त—

"....तुम उस मुग्धा बाला को न पहचान सके, पवन ? ऐसे घिरे थे आत्म-व्यामोह में ! तुम तो देश-कालाबाधित सौन्दर्य की खोज में गये थे न ?....पर, कब पुरुष ने नारी के अन्तरंग को पहचाना है ? कब उसकी आत्मा के स्वातन्त्र्य का उसने आदर किया है ? अपने स्वमान के मूल्य पर ही सदा बर्बर पुरुष ने उसे परखा है । और एक दिन जब उसका वही मान घायल होता है, तब वही देती है अपने क्रोड़ में उसे शरण ! उस प्रमत्तता में पुरुष अपने-पराये का विवेक भी खो देता है । हृदय के समस्त प्यार की क़ीमत पर भी, तुम यह भेद मुझसे छुपाये रहे । तुमने मुझे भी त्याग दिया । प्यार का द्वार ही तुम्हारे लिए रुद्ध हो गया । अपने ही हाथों अपने हृदय के टुकड़े कर, अपने पैरों के नीचे तुमने उसे कुचल डालना चाहा—उसे मिटा देना चाहा, पर क्या वह मिट सका....?"

अनुताप से विगलित स्वर में पवनंजय बोले—

"नहीं मिटा सका प्रहस्त, स्वयं मौत के हाथों अपने को सौंपकर भी नहीं मिटा सका। अपने उसी अज्ञान का दण्ड पाने के लिए मरकर भी मैं प्रेत की तरह जीवित रहा।....पर प्रहस्त, अब प्राण मुक्ति के लिए छटपटा रहे हैं! साफ़ देख रहा हूँ भैया, रक्षा और कहीं नहीं है। उसी आँचल के तले नव जन्म पा सकूँगा। यह घड़ी अनिवार्य है; मेरे जन्म और मरण का निर्णायक है यह क्षण, प्रहस्त! मुझे मृत्यु से जीवन के लोक में ले चलो। जल्दी करो प्रहस्त, नहीं तो देर हो जायेगी।....युद्ध मुझे नहीं चाहिए प्रहस्त, वह धोखा है, वह आत्म-छलना है। मैं अपने ही आपसे आँख-मिचौनी खेल रहा था। युद्ध मुझसे न लड़ा जायेगा। देखो न प्रहस्त, मेरी भुजाएँ काँप रही हैं, पैर लड़खड़ा रहे हैं, छाती उफना रही है—जीवन चाहिए प्रहस्त, मुझे जिलाओ। पाप की ये ज्वालाएँ मुझे भस्म किये दे रही हैं, मुझे ले चलो उस जल-धारा के नीचे, उस अमृत के लोक में...."

"पर पवन, युद्ध को पीठ देकर क्षत्रिय को लौटना नहीं है। कर्तव्य से पराङ्मुख होकर उसे जीवन की गोद में भी त्राण नहीं मिलेगा। कर्तव्य यदि अकर्तव्य भी है तो उसे सुलटना होगा, पर लौटना सम्भव नहीं है—!"

"पर इस क्षण ये प्राण मेरे हाथ में नहीं हैं, प्रहस्त! तुमसे जीवन-दान माँग रहा हूँ, ओ रे मेरे चिर दिन के आत्मीय, जीवन की मेरी अँधेरी रातों के निस्पृह दीपस्तम्भ! तुम भी, युगों के बाद, बिछुड़कर आज मिले हो। पर अपराध की यह ज्वाला लेकर गति कहाँ है....?"

"तो एक ही रास्ता है, पवन, अभी-अभी आकाश-मार्ग से चलकर चुपचाप रत्नकूट प्रासाद की छत पर जा उतरना होगा। गुप्त रूप से वहाँ रात बिताकर दिन उगने के पहले ही यहाँ लौट आना है। और फिर सवेरे ही सैन्य के साथ युद्ध पर चल देना होगा।"

पवनंजय ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। × × ×

थोड़ी ही देर में, दोनों मित्र विमान पर चढ़े, चाँदनी से फेनाविल दिशाओं के आँचल में खोये जा रहे थे।

[२१]

तारों की अनन्त आँखें खोलकर आकाश टकटकी लगाये है। ग्रह-नक्षत्रों की गतियाँ, इस क्षण की धुरी पर अटक गयी हैं....

रत्नकूट प्रासाद की चाँदनी-धौत छत पर यान उतरा। पवनंजय उतरकर कोने के एक गवाक्ष के रेलिंग पर जा खड़े हुए। दोनों हाथों से खम्भे पकड़कर वे देखते रह गये...। अपूर्व खिली है यह रात, सौरभ और सुषमा में मूर्च्छित। काल का सहस्र-दल कमल विगत, आगत और अनागत के सारे सौन्दर्य-दलों को खोलकर मानो एक साथ खिल आया है। नया ही है यह देश! अपनी महायात्रा में अद्भुत और अगम्य प्रदेशों में वह गया है। सौन्दर्य का विराटतम रूप उसने देखा है। अभेद्य रहस्यों को उसने भेदा है। पर अलौकिक है यह लोक! आस-पास सब कुछ तरल है और तैर रहा है। आलोक की बाँहों में अन्धकार और अन्धकार के हृदय में आलोक। सब कुछ एक दिव्य नवीनता में नहाकर अमर हो उठा है। क्या वह सपना देख रहा है?

प्रहस्त अपने कर्तव्य में संलग्न थे। उन्होंने कक्ष के द्वार पर खड़े रहकर स्थिति का अध्ययन किया। देखा, सब शान्त है; निद्रा के श्वास का ही धीमा रव है। द्वार के पास ही, उन्होंने पहचाना कि वसन्तमाला सोयी है। धीमी परन्तु निश्चित आवाज़ में पुकारा—

"देवी—देवी वसन्तमाला!"

नींद अभी लगी ही थी। चौंककर वसन्त उठी। द्वार में देखा, कुछ दूर पर चाँदनी के उजाले में कोई खड़ा है। उसने प्रहस्त को पहचाना! वह सहमकर खड़ी हो गयी। विस्मित पर आश्वस्त वह बाहर चली आयी। पास आकर बहुत धीमे कण्ठ से पूछा—

"आप?....इस समय यहाँ कैसे?"

"देव पवनंजय आये हैं! इसी क्षण देवी से मिला चाहते हैं। उस ओर के कोण-वातायन पर प्रतीक्षा में खड़े हैं...."

"देव पवनंजय....? क्या कहते हैं आप?....वे....यहाँ....इस समय कैसे....?"

वसन्त के विस्मय का पार न था। मति मूढ़ हो गयी और प्रश्न बौखला गया।

"हाँ, देव पवनंजय! कटक को राह में छोड़ गुप्त यान से आये हैं। अभी-अभी युवराज्ञी से मिला चाहते हैं। विलम्ब और प्रश्न का अवसर नहीं है। देवी को जगाकर सूचित करो और तुरत उनका आदेश मुझे आकर कहो!"

वसन्त की मति गुम थी। यन्त्रवत् जाकर उसने अंजना को जगाया।

"कौन, जीजी—क्यों?"

"उठो अंजन, एक आवश्यक काम है। लो, पहले मुँह धोओ, फिर कहती हूँ।"

कहते हुए उसने पास ही तिपाई पर पड़ी झारी उठाकर सामने की। अंजना सहज 'अर्हन्त' कहकर उठ बैठी और मुँह धोते हुए पूछा—

"ऐसी क्या बात है, जीजी?"

वसन्त क्षण-भर चुप रही। अंजना के मुँह धो लेने पर धीरे से कहा—

"देव पवनंजय आये हैं। वे अभी-अभी तुमसे मिलना चाहते हैं। उस ओर के कोण-वातायन पर प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाहर प्रहस्त खड़े हैं; वे तुरत तुम्हारा आदेश सुनना चाहते हैं!"

अंजना सुनकर नीरव और निस्पन्द खड़ी रह गयी। कुछ क्षण एक गहरी स्तब्धता व्याप गयी।

"वे आये हैं?...जीजी, यह क्या हो गया है तुम्हें...?"

"मुझे कुछ नहीं हो गया अंजन, प्रहस्त स्वयं बाहर खड़े हैं। उन्होंने अभी-अभी आकर मुझे जगाया है। कहा है कि कटक को राह में छोड़ देव पवनंजय गुप्त यान से आये हैं—केवल तुम्हें मिलने! अवसर की गम्भीरता को समझो, बोलो उन्हें क्या कहूँ?"

"वे आये हैं....युद्ध की राह से लौटकर मुझे मिलने...?"

और मानो नियति पर भी उसे दया आ गयी हो ऐसी हँसी हँसकर वह बोली—

"भाग्य देवता को कौतुक सूझा है—कि नींद से जगाकर वे अभागिनी अंजना के वर्षों के सोये दुख का मज़ाक़ किया चाहते हैं....!....समझी...अब समझी; जीजी,....क्या तुम्हें ऐसे ही सपने सताते रहते हैं, मेरे कारण?"

द्वार पर प्रकट होकर सुनाई पड़ी प्रहस्त की विनम्र वाणी—

"स्वप्न नहीं है, देवी, और न यह विनोद है। प्रहस्त का अभिवादन स्वीकृत हो ! देव पवनंजय उस ओर प्रतीक्षा में खड़े हैं। वे देवी से मिलने आये हैं और उनकी आज्ञा चाहते हैं !"

सन्देह की गुंजायश नहीं रही। फिर एक गहरा मौन व्याप गया।

"मुझसे मिलने आये हैं वे ?...और मेरी आज्ञा चाहते हैं ? पर मेरे पास कहाँ है वह, वह तो उन्हीं के पास है। वे आप जानें।...सारी आज्ञाओं के स्वामी हैं वे समर्थ पुरुष !...अकिंचना अंजना का, यदि विनोद करने में ही उन्हें खुशी है, तो वह अपने को धन्य मानती है...!"

और कोई पाँच ही मिनट बाद दीखा, चाँदनी के उजाले में वह पूर्णकाय युवा राजपुरुष ! सिर की अवहेलित अलकों में मणि-बन्ध चमक रहा है। देह पर युद्ध की सज्जा नहीं है; है केवल एक धवल उत्तरीय। द्वार की देहली पर आकर वे ठिठक गये।....फिर सहज माथा झुकाकर भीतर प्रवेश किया। कक्ष में कुछ दूर जाकर वे ठिठक गये। आगे बढ़ने का साहस नहीं है। सामने दृष्टि पड़ी—तल्प के पायताने वह कौन खड़ी है ? सिर से पैर तक पवनंजय काँप-काँप आये। सारे शरीर में एक सनसनी-सी दौड़ गयी—मानो किसी दैवी अस्त्र का फल रोयें-रोयें को बींध गया। अपना ही भार सँभालने का बल पैरों में नहीं रह गया है। घुटने टूट गये हैं, कमर टूट गयी है। दृष्टि जो ढुलक पड़ी है तो ठहरने को स्थान नहीं पा रही है। वीर का अंग-अंग पत्तों-सा थरथरा रहा है। अभी-अभी मानो भागकर लौट जाना चाहते हैं। पर पैर न भाग पाते हैं, न खड़े रह पाते हैं और न आगे ही बढ़ पाते हैं...!

नीची दृष्टि किये ही अपने बावजूद वे गुन रहे हैं। नहीं है यह विलास का कक्ष। नहीं बिछी है यहाँ सुहाग की कुसुम-सज्जा। सामने वह पाषाण का तल्प बिछा है और उसपर बिछी है वह सीतलपाटी। सिरहाने की जगह कोई उपधान नहीं है; तब शायद सोनेवाली का हाथ ही है उसका सिरहाना। पास ही तिपाई पर पानी की दो-तीन छोटी-बड़ी झारियाँ रखी हैं।...और पायताने की ओर जो वह खड़ी है....क्या उसी की है यह शय्या ? कोने में स्फटिक के दीपाधार में एक मन्द दीप जल रहा है। निष्कम्प है उसकी शिखा। आस-पास दीवारों के

सहारे, कोनों में वैभव स्वयं अपने आवरणों में सिमटकर, परित्यक्त हो पड़ा है ! छत के मणि-दीप आवेष्टनों से ढके हैं—निरर्थक और अनावश्यक ।

और जाने कब अंजना ने आकर कुमार के उन काँपते, असहाय पैरों को अपनी भुजाओं में थाम लिया । पुरुष की नसों में जड़ और शीतल हो गया रक्त उस ऊष्मा से फिर चैतन्य हो गया । विच्छिन्न हो गयी जीवन की धारा को आयतन मिल गया; वह फिर से बह उठी । पवनंजय ने चौंककर पैरों की ओर देखा, और परस की उस अगाध और अनिर्वचनीय कोमलता में उतराते ही चले गये । ....गरम-गरम आँसुओं से भीगे पलकों का वह गीलापन, ऊष्म श्वासों की वह सघनता, प्राण की वह सारभूत, चिर-परिचित, संजीवनी गन्ध....। पवनंजय का रोयाँ-रोयाँ अनन्त अनुताप के आँसुओं से भर आया । पैरों में पड़ी उस विपुल केशराशि में अस्तित्व विसर्जित हो गया ।

आँसुओं में टूटते कण्ठ से पवनंजय बोले—

"जन्म-जन्म अपराधी को....और अपराधी न बनाओ !...उसके अपराध को मुक्ति दो....उसके अभिशाप का मोचन करो..."

फिर बोल रुँध गया । क्षणैक ठहरकर कण्ठ का परिष्कार कर फिर बोले—

"कई जन्म धारण करके भी, इस पाप का प्रायश्चित्त शायद ही कर सकूँ ! ऐसा निदारुण पापी, यदि हिम्मत करके शरण आ गया है...तो क्या उसपर दया न कर सकोगी....?"

एकाएक अंजना पैर छोड़कर उठ खड़ी हुई, और बिना सिर उठाये ही एक हाथ की हथेली से पवनंजय के बोलते होंठों को दबा दिया । और अनायास वे मृदुल उँगलियाँ उस चेहरे के आँसू पोंछने लगीं ।

"मत रोको इन्हें....मत पोंछो....बह जाने दो....जन्मों के संचित दुरभिमान के इस कलुष को चुक जाने दो....आह, मुझे मिट जाने दो...."

कहते-कहते पवनंजय फूट पड़े और बेतहाशा वे अंजना के पैरों में आ गिरे ! अंजना धप् से नीचे बैठ गयी और दोनों हाथों से पकड़कर उसने पवनंजय को उठाना चाहा । पर वह सिर उसके दोनों पैरों के बीच मानो गड़ा ही जा रहा है—धँसा ही जा रहा है । और उसके हाथों ने अनुभव किया, पुरुष की बलशालिनी भुजाओं और वक्ष में भीतर ही भीतर घुमड़ रहा वह गम्भीर रुदन !

भर्राये और गम्भीर कण्ठ से अंजना बोली—

"अपने पैरों की रज को यों अपमानित न करो देव ! उसका एक मात्र बल उससे छीनकर, उसे निरी अबला न बना दो !....सब कुछ सह लिया है, पर यह नहीं सह सकूँगी....उठो, देव....!"

और भी प्रगाढ़ता से पुरुष की वे सबल भुजाएँ उन मृदु चरणों को बाँध रही हैं। पर वह कोमलता मानो बन्ध्य नहीं है—वह फैलती ही जाती है। उसमें कुमार की वह विशाल देह मानो सिमटकर एक क्षुद्र धूलिकण हो जाने को विह्वल है। पर वह कोमलता तो अपने अन्दर समाती ही जाती है—अवरोध नहीं देती। वज्र-सी काया टूटे तो कैसे टूटे, बिखरे तो कैसे बिखरे ?

अंजना ने उठाने के सारे प्रयत्न जब निष्फल पाये, तो एक गहरी निःश्वास छोड़, मानो हारकर बैठ गयी। दोनों हाथों की हथेलियों से पवनंजय के दोनों गालों को उसने दबा लिया। उनकी आँखों से अजस्र बह रहे आँसुओं के प्रवाह को जैसे सीमा बन कर बाँध लेना चाहा—थाम लेना चाहा। फिर अन्तर के मृदु-तम स्वर में बोली—

"....मेरी सौगन्ध है....क्या मुझे नहीं रहने दोगे....?....उठो देव,...मेरे जी की सौगन्ध है तुम्हें....उठो....!"

पवनंजय उठे और घुटनों के बल बैठे रह गये। आँसुओं के बहने का भान नहीं है। वे प्रलम्ब बाँहें और सशक्त कलाइयाँ धरती पर सहारा लेती-सी थमी हैं। एक बार झरती आँखों से सामने देखा। खड़े घुटने किये हारी-सी बैठी है अंजना। अरे ऐसी है इस हार की गरिमा ! विश्व की सारी विजयों का गौरव क्षण मात्र में ही जैसे मलिन पड़ गया। अपार वात्सल्य के मुक्त द्वार-सी खुली हैं वे आँखें—अपलक, उज्ज्वल, सजल। उस पारदर्शिनी सरलता में मन के सारे द्वन्द्व, द्वैत, सहज विलय हो गये ! अपने बावजूद पवनंजय, मानो अज्ञात प्रेरणा का बल पाकर अपने को निवेदन कर उठे—

"....जानता हूँ कि धरित्री हो, और चिरकाल से अब तक हमें धारण ही करती आयी हो ! पर ओ मेरी धरणी, दुर्लभ सौभाग्य का यह क्षण पा गया हूँ, कि तुम्हें अपने दुर्बल मस्तक पर धारण करने की स्पर्धा कर बैठा हूँ....! इस दुःसाहस के लिए मुझे क्षमा न कर सकोगी....?"

पूर्वीय झरोखे में, रेलिंग के खम्भों के सहारे वे आमने-सामने बैठ गये। परिमल और पराग से भीनी चाँदनी में उपवन नहा रहा है। आकाशगंगा में जल-क्रीड़ा करती,तारक कन्याएँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। सामने जा रहा पूर्ण युवा चाँद, चलते-चलते रुक गया। चाँद के बिम्ब में आँखें स्थिर कर पवनंजय विस्मृत-से बैठे रह गये। पहली ही बार जैसे पूर्ण सौन्दर्य की झलक पा गये हैं। उसी ओर देखते हुए बोले—

"हाँ, बाईस वर्ष पूर्व, ऐसी ही तो वह रात थी मानसरोवर के तट पर। चाँद भी ऐसा ही था और ऐसी ही थी चाँदनी। और लगता है कि तुम भी वैसी ही तो हो; कहीं भी तो आयु का क्षत नहीं लगा है! पर उस दिन क्या तुम्हें पहचान सका था? उसी दिन तो भूल हो गयी थी। चेतन और ज्ञान पर गहरे अन्तराय का आवरण जो पड़ा था। इसी से तो ऐसा आत्मघात कर बैठा। सम्मुख आये हुए प्यार के स्वर्ग को अपने ही अहं की ठोकर से मिट्टी में मिला दिया। और आज?....आज भी क्या तुम्हें पहचान पा रहा हूँ? फिर-फिर भूल जाता हूँ....नहीं पा रहा हूँ तुम्हें..."

अंजना चाँद में खोयी पवनंजय की स्थिर और पगली दृष्टि पर आँखें थमाये चुप बैठी है। उसे कुछ कहना नहीं है, कुछ पूछना नहीं है। कोई अभियोग नहीं है। कुमार को वह मौन असह्य हो उठा। दृष्टि फिराकर उन्होंने अंजना की ओर देखा—आवेदन की आँखों से। अंजना की दृष्टि झुक गयी। वह वैसी ही चुप थी। पवनंजय भीतर ही सिसकी दबाकर बोले—

"हुँअ..⁄.तो तुम्हें मुझसे कुछ भी पूछना नहीं है?....समझा, तुम्हारा अभियुक्त होने का पात्र भी मैं नहीं हूँ....नहीं, तुम्हारे इस मूक और निरपेक्ष स्वीकार को सहने की शक्ति अब मुझमें नहीं है! उस दिन भी तो मेरी क्षुद्रता, इसी स्थल पर चूक गयी थी। और आज फिर वैसी ही कठोर परीक्षा लोगी?"

फिर एक चुप्पी व्याप गयी। जिसे प्यार किया है उसका न्याय-विचार अंजना के निकट अप्रस्तुत है। और कहीं कोई प्रश्न उस वियोग के निमित्त को लेकर मन में होगा भी, तो इस क्षण वह उसके लिए अकल्पनीय है। वह वैसी ही गरदन झुकाये प्रतिमा-सी बैठी है। पवनंजय व्यथित हो उठे। अधीर होकर तीव्र स्वर से बोले—

"मेरे अपराध को मुक्ति दो, अंजन ? नहीं तो यह ज्वाला मुझे भस्म कर देगी। मेरे इस मर्म को बींध दो—तोड़ दो अपनी इन मृदुल पगतलियों से....। जन्म-जन्म के इस पाप को अपने चरणों में विसर्जित कर लो, रानी...!"

कहते-कहते पवनंजय फिर भर आये और सामने बैठी अंजना के पैरों में फिर सिर डाल दिया।

"...पूछो....एक बार तो मुँह खोलकर पूछो....अपने इस पाषाण के पतिदेव से....कि ऐसा क्या था तुम्हारा अपराध....जिसके लिए ऐसा कड़ा दण्ड उसने तुम्हें दिया है...?

अंजना ने पवनंजय के सिर को एक ओर की गोद पर खींच लिया। आँचल से उनकी आँखें और चेहरा पोंछती हुई बोली—

"ऐसी बातें मन में लाकर अब और दूर न ठेलो, देव। मैं तो अज्ञानिनी हूँ....इतना ही जानती हूँ, कि तुम्हारी हूँ....आदिकाल से तुम्हारी ही हूँ !....इसी से तो उस दिन उन लहरों के बीच भी तुम्हें पहचान लिया था। कितने ही भवों में, कितनी ही बार वियोग और संयोग हुआ है....उसकी कथा तो अन्तर्यामी जानें ! दुख और अन्तराय की रात बीत गयी—उसका सोच कैसा ? खोकर इसी जीवन में फिर तुम्हें पा गयी हूँ, यही क्या कम बात है ? दोष किसी का नहीं है। आत्मा के ज्ञान-दर्शन पर मोहिनी का आवरण जबतक पड़ा है, तबतक तो यह आवागमन और संयोग-वियोग चलना ही है। पर मिलन का यह दुर्लभ क्षण यदि आ ही गया है, तो इसे हम खो न बैठें। विगत दुख-रागों को, क्या इस क्षण भी हम नहीं भूल सकेंगे ?....और कल का किसे पता है...? आज अपने बीच उस आवरण को मत आने दो ! आज जो मुहूर्त आ गया है, उसी में क्यों न ऐसे मिल जायें—ऐसे कि फिर बिछुड़ना न पड़े...."

कहते-कहते अंजना झुककर पवनंजय पर छा गयी—

"पर अपराध तो मेरा ही है न, अंजन ! इसी से तो वह मेरे आड़े आ रहा है। और तुम तक वह मुझे नहीं पहुँचने दे रहा है। तुम चाहे जितना ही मुझे पास क्यों न खींचो, पर मेरे पैरों में जो बेड़ियाँ पड़ी हैं ! पहले उन्हें खोलो रानी, तभी तुम्हारे पास मैं पहुँच सकूँगा। उसके बिना छुटकारा नहीं है...."

"स्वामिनी हूँ, अपनी ही बात कहे जा रही हूँ।....बोलो, अपने जी की

व्यथा मुझसे कहो।"

अंजना के दोनों हाथों को अपनी हथेलियों से अपने हृदय पर दाबकर, एक साँस में पवनंजय उस अभागी रात की कथा सुना गये। आत्म-निवेदन के शेष में वे बोले—

"....मानसरोवर की लहरों पर से, उस महल-अटा पर तुम्हारी पहली झलक देखी, और मैं कालातीत सौन्दर्य का अनुमान पा गया। वही अनुमान अभिमान बन बैठा ! मैं आपे से घिर गया। उस अहंकार में उस सौन्दर्य की सन्देश-वाहिका को भी भूल बैठा। उसे ही मैं न पहचान सका। तुलना में विद्युत्प्रभ था या और कोई पुरुष होता, उसके प्रति कोई रोष मन में नहीं जागा। रोष तो तुमपर था—तुमपर !—इसलिए कि तुम्हें जो अपनी मान बैठा था, सर्वस्व जो हार बैठा था। तुमपर ही जब सन्देह कर बैठा, तो अपना ही विश्वास नहीं रहा। फिर माता-पिता, मित्र-संगी, किसी में भी आश्वासन कैसे खोजता ? केवल अपने पुरुषार्थ का अभिमान मेरे पास था। सामने था केवल अथाह शून्य—मृत्यु—और उसी में भटकते ये सारे वर्ष बिता दिये...."

कहकर पवनंजय ने एक गहरी निःश्वास छोड़ी। अंजना बात सुनते-सुनते तल्लीन होकर वर्षों पार की उस रात में पहुँच गयी थी। वह घटना उसकी स्मृति में पूर्ण सजल हो उठी। सुनकर उसके आश्चर्य की सीमा न थी। मानव-भाग्य की इस बेबसी पर, जीव के इस अज्ञान पर उसका सारा अन्तःकरण एक सर्व-व्यापिनी करुणा से भर आया। गम्भीर स्वर में बोली—

"अपना ही प्यार जब शत्रु बन बैठा, तो वह मेरे ही तो कर्म का दोष था। मैं अपने ही सुख में ऐसी बेसुध हो रही कि अपने ही सामने होनेवाले तुम्हारे ऐसे घोर अपमान का भान तक मुझे नहीं रहा।....वह मेरे ही प्रेम की अपूर्णता तो थी। घटना तो वह निमित्त मात्र थी, पर आवरण तो भीतर जाने किस भव का पड़ा था। आज भाग्य जागा, कि तुम आये, तुमने परदा उठा दिया ! नारी हूँ—इसीलिए सदा की अपूर्ण हूँ न....आओ मेरे पूर्ण पुरुष, मुझे पूर्ण करो ! कल्प-कल्प की बिछुड़ी अपनी इस आत्मा को छोड़कर अब चले मत जाना..."

अंजना ने अपना एक गाल पवनंजय की लिलार पर रख दिया। सुख से विह्वल होकर पवनंजय बोल उठे—

"नारी होकर तुम अपूर्ण हो, तो पुरुष रहकर मैं भी क्या पूर्ण हो सकूँगा ? पुरुष और नारी का योनि-भेद तोड़कर ही तो एक दिन हम पूर्ण और एकाकार हो सकेंगे !"

राज-द्वार पर दूसरे पहर का मंगल-वाद्य बज उठा !

इस बीच जाने कब चतुर वसन्त ने कक्ष में आकर, वहाँ की सारी व्यवस्था को रूपान्तरित कर दिया। वर्षों का ढका वैभव आज फिर निरावरण होकर अपनी पूर्ण दीप्ति से खिल उठा ! मणिदीपों की जगमग ने रंगों का माया-लोक रच दिया। इस क्षुद्र, जड़ वैभव की ऐसी स्पर्धा कि वह इस मिलन का क्रोड़ बनने को उद्यत हो पड़ा है ? सब सरंजाम अपनी जगह पर ठीक है।

पद्मराग-मणि के पर्यंक की वह कुन्दोज्ज्वल, उभारवती शय्या आज सूनी नहीं है। उपधान पर कोहनी के सहारे कुमार पवनंजय अधलेटे हैं। पास ही चौकी पर स्तबकों में रजनीगन्धा, जूही और शिरीष के फूलों के ढेर पड़े हैं। शय्या पर कामिनी कुसुम के जूमखे बिखरे हैं। महक से वातावरण व्याप्त है। पर्यंक के पायताने की ओर, पैर सिकोड़कर अंजना बैठी है। एक हथेली पर मुख उसका ढुलका है। आँखें उसकी झुकी हैं—अन्तर के सहज संकोच से नम्र, वह एक बिन्दु-भर रह गयी है। राग नहीं है, सिंगार नहीं है, आभरण भी नहीं हैं। चारों ओर लहराती घनी और निर्बन्ध केश-घटा के भीतर से झाँकती वह तपक्षीण, कल्प-लता-सी गौर देह निवेदित है। हिमानी-से शुभ्र दुकूल में से तरल होकर, भीतर की जाने किस गंगोत्री से गंगा की पहली धारा फूट पड़ी है। कुमारिका का हिम-वक्ष पिघल उठा है—उफना उठा है। देखते-देखते पवनंजय की आँखें मुँद गयीं। नहीं देख सकेगा वह, नहीं सह सकेगा—इस हिमानी के भीतर छुपी उस अग्नि का तेज। इन कलुषित आँखों की दृष्टि उसे छुआ चाहती है ? ओह, कापुरुष, तस्कर, लुटेरा—अत्याचारी ! तेरा यह साहस ? भस्म हो जायेगा अभागे ? एक मर्मान्तिक आत्म-भर्त्सना से पवनंजय का सारा प्राण त्रस्त हो उठा—

पर वह छबि जो उसके सारे कल्मष को दबाकर उसके ऊपर आ बैठी है—और मुसकरा रही है ! वही है इस क्षण की स्वामिनी, उसी का है निर्णय ! पवनंजय का कर्तृत्व इस क्षण मानो कुछ नहीं है।

मुँदी आँखों के भीतर फिर उसने देखी वही निरंजना तन्वंगी। कलाइयों पर एक-एक मृणाल का वलय है, और सती के प्रशस्त भाल पर शोभित है सौभाग्य का अमर तिलक : जैसे अखण्ड जोत जल रही है। ढुलकी पलकों की लम्बी-लम्बी फैली बरौनियों में भीतर का सरल अन्तस्तल साफ़ लिख आया है। अरे कौन-सा है वह पुरुषार्थ, जो इसका वरण कर सकेगा ? कौन-सा वह सक्षम हाथ है, जो इसे छू सकेगा....? पवनंजय ने मुँह अपना उपधान में डुबा दिया।

पर गंगा की धारा, जो चिर दिन की रुद्धता तोड़कर फूट पड़ी है, उसे तो बहना ही है।

पवनंजय ने अनुभव किया—पगतलियों पर एक विस्मरणकारी, मधुर दबाव ! रक्त में एक सूक्ष्म सिहरन-सी दौड़ गयी। मुँह उठाकर उन्होंने सामने देखा।........मुसकराती हुई अंजना की वह घनश्याम पक्ष्मों में पूर्ण खिली स्नेह की विशाल दृष्टि !—अचंचल वह उनकी ओर देख रही है। पहली ही बार आया है शुभ-दृष्टि का यह क्षण। हाथ उसके चल रहे हैं—एक गोद पर पवनंजय की एक पगतली लेकर वह दाब रही है। पवनंजय सहम आये। शिराओं में एक गहरा संकोच-सा हुआ। पर पैर खींच लें, यह उनके बस का नहीं है। अंजना मंजरियों-सी हँस आयी—धीमे से बोली—

"डरो मत, मैं ही हूँ ! युद्ध की राह से लौटकर आये हो न, और जाने कितनी-कितनी दूर की यात्राएँ कर आये हो ! सोचा थक गये होंगे........तुम नहीं.......बेचारे ये पैर.......।"

एक मार्मिक दृष्टि से पवनंजय की ओर देख अंजना खिलखिलाकर हँस पड़ी। पवनंजय गहरी लज्जा और आत्मोपहास से मर मिटे। पर आघात कहाँ था ? अगले ही क्षण एक अप्रतिहत आनन्द की धारा में वे डूब गये। बाल-सुलभ चंचलता से बोल पड़े—

"हाँ-हाँ—सब समझ गया ! अपनी सारी मूर्खताओं पर अभी भी मैंने परदा ही डाल रखा है। पर तुम्हारे सामने कौन-सी मेरी माया टिक सकेगी ? तुमसे क्या छिपा रह सका है ? यहाँ बैठकर भी अनुक्षण, मेरे पीछे छाया की तरह जो रही हो। मेरे सारे छिद्रों पर स्वयं जो परदा बनकर पड़ी हो। जानती हो, उन यात्राओं में मुझे किसकी खोज थी ?"

"हम अन्तःपुर की वासिनियाँ, तुम्हारी खोज का लक्ष्य क्या जानें ? आप पुरुष हैं—और समर्थ हैं। बड़े लोग हैं न, बड़े हैं आपके मनसूबे, आपके संकल्प और लक्ष्य ! आप लोगों के परे जाकर हमारी गति ही कहाँ है, जो आपके रहस्यों की थाह हम पा सकें। अनुगामिनियाँ जो ठहरीं........"

पवनंजय सुनते-सुनते हँसी न रोक सके। अन्तर में उलझी-दबी सारी पीड़ाओं को, यह सरल लड़की, इन स्नेहल आँखों से, हँस-हँसकर, कैसी सहज सुलझाये दे रही है। अशेष दुलार का ज़ोर पाकर पवनंजय अल्हड़ हो पड़े और बोले—

"हाँ, सच ही तो कह रही हो, तुम्हारी खोज तो अवश्य ही नहीं थी ! यों ना कहकर, सोचती हो कि मुझे ठगकर मेरा लक्ष्य बनने का गौरव ले लोगी, सो नहीं होने दूँगा ! ...हाँ, तो लो सुनो, अच्छी तरह तैयार हो जाओ और कान खोलकर सुनो; बताता हूँ, मुझे किसकी खोज थी।"

फिर एक मार्मिक दृष्टि से, अपनी ही ओर भरपूर खुली अंजना की आँखों में गहरे देखते हुए खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—

"मुझे मुक्ति की खोज थी.......! आदि प्रभु ऋषभदेव की निर्वाण-भूमि पर जाकर भी मन को विराम नहीं था। मुझे चाहिए था निर्वाण ! लहरों के मरण-भँवरों पर मैं बेसुध खेल रहा था। इसी बीच पीछे से तुमने पुकारा। तुमने फेंका वह लावण्य का पाश। मैं देश-कालातीत सौन्दर्य की कल्पना से भर उठा। तुम्हीं ने दिया था वह अभिमान। मैं प्रमत्त हो उठा। तुम्हें जब भूल बैठा, जिसने दी थी वह कामना, तो फिर कहाँ ठिकाना था ? ओ कामनाओं की देवी ! कामना दी है, तो सिद्धि भी दो ! अपने बाँधे बन्धन तुम्हीं खोलो, रानी ! मेरे निर्वाण का पथ प्रकाशित करो !........तुम्हीं ने जो पुकारा था उस दिन........!"

"मुक्ति की राह मैं क्या जानूँ ? मैं तो नारी हूँ, आप ही जो बन्धन हूँ और सदा बन्धन ही तो देती आयी हूँ।—मुक्ति-मार्ग के दावेदार और विधाता हैं पुरुष ! वे आप अपनी जानें........"

अगाध विसर्जन और सुखातिरेक से भर आये पवनंजय इस क्षण अपने स्वामी नहीं थे। एकाएक वे उठ बैठे और उन पैर दाबते दोनों मृदुल हाथों को अपनी ओर खींचते हुए गद्‌गद कण्ठ से बोले—

"नहीं चाहिए मुक्ति—मुझे बन्धन ही दो, रानी ! ओ मेरे बन्धन और मुक्ति की स्वामिनी........!"

भाषा की सीमा अतीत हो गयी। ढलती रात के अलस पवन में वासन्ती फूलों की गन्ध और भी गहरे और मधुर मर्म का सन्देशा दे रही थी। आत्मा के अन्तरतम गोपन-कक्ष आलोकित हो उठे। अनाहत मौन में सब कुछ गतिमय था! ग्रह-नक्षत्र, जल, स्थल, आकाश और हवाएँ, सभी कुछ इस एक ही सत्य की धुरी पर एकतान और एक-सुर होकर नृत्यमय हैं। कहाँ है इस अनन्त आलिंगन के सिंधु का कूल? इन्द्रियों की बाधा निमज्जित हो गयी। देह के सीमान्त पिघल चले। पर आत्माओं को कहाँ है विराम? नग्न और मुक्त, वे जो एक-दूसरे में पर्यवसित हो जाने को विकल हैं।

पुरुष की वे दिग्विजय की अभिमानिनी भुजाएँ नहीं बाँध पा रही हैं उस तनु, सूक्ष्म कल्प-लता को। जितना ही वे हारती हैं, आकुलता उतनी ही बढ़ती जाती है। अखण्ड और अपराजिता है यह लौ, जितना ही वह बाँधना चाहता है वह उतनी ही ऊपर उठ रही है, वह हाथ नहीं आ रही है! अपरिसीम हो उठा है पुरुष का अपराध—और उसका अनुताप। पर वह नारी देने में चूक नहीं रही है। दान-दाक्षिण्य का स्रोत अक्षत धारा से बह रहा है। पुरुष ने हारकर पाया कि व्यर्थ और विफल है इसे बाँधने की उत्कण्ठा; इस प्रवाह के भीतर तो बह जाना है, स्वयं ही विसर्जित हो जाना है। निर्वाण आप ही कहीं राह में मिल जायेगा! अतीत है वह इन सारी कामनाओं से। पुरुष ने छोड़ दिया अपने को, उस बहाव की मरजी पर...

चौथे पहर का मंगल वाद्य राज-द्वार पर बज उठा!

अंजना की नींद खुली। अकल्पनीय तृप्ति की गहरी और मधुर नींद में पवनंजय सो रहे थे। पर अंजना जानती है अपना कर्तव्य। इस क्षण उन्हें रुकना नहीं है। उन्हें लौटाना ही होगा—दिन झाँकने के पहले। हाँ, उन्हें जगाना होगा। वह धीमे-धीमे पगतलियाँ सहलाने लगी। पवन के स्पर्श में जागरण का सन्देश है। अंजना ने पाया कि वह भर उठी है, एक मर्म-मधुर भार से वह दबी जा रही है....। शेष रात्रि की शीर्ण चाँदनी झरोखे की राह कक्ष में आकर पड़ रही है।

पवनंजय की नींद खुल गयी।

"उठो देव!"

पायताने की ओर सुनाई पड़ा वह मृदु स्वर।

अँगड़ाई भरते हुए, सहज इष्ट-देव का नामोच्चार करते पवनंजय उठ बैठे। सामने था वही मुसकराता हुआ सती का अनिन्द्य उज्ज्वल मुख। दोनों एक-दूसरे की आँखों में से एक-दूसरे के पार देख उठे......।

"दिन उगने को है—जाने की तैयारी करो, अब देर नहीं है!"

स्नेह के उन्मेष में अंजना की चिबुक पकड़कर बोले पवनंजय—

"जाने को कहोगी तुम्हीं, और उसकी भी इतनी जल्दी हो पड़ी है तुम्हें....?"

"अपनी विवशता जानती हूँ न। तुम्हें कब-कब रोक सकी हूँ? नहीं रोक सकी हूँ, इसी से तो कह रही हूँ!....पर....हाँ, मेरी एक बात मानोगे....?"

अंजना ने दोनों हथेलियों से बिखरी अलकोंवाले उस चेहरे को दबा लिया। फिर पवनंजय के दोनों कन्धों पर हाथ डालकर भरपूर उनकी ओर देखती हुई बोली—

"मेरी शपथ खाकर जाओ कि अनीति और अन्याय के पक्ष में—मद और मान के पक्ष में तुम्हारा शस्त्र नहीं उठेगा। क्षत्रिय का रक्षा-व्रत, विजय के गौरव और राज-सिंहासन से बड़ी चीज़ है!"

क्षण-भर खामोशी व्याप गयी। युद्ध का नाम सुनकर पवनंजय बौखला आये—

"अ....अंजन, वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम है....कुछ करके मुझे रोक लो न...? मुझे नहीं चाहिए युद्ध, वह थी केवल मरीचिका, मान कषाय की वही मोहनी, जिसके वश मैं इतने वर्षों भटकता रहा। उसी की चरम परिणति है यह युद्ध। इससे मेरी रक्षा करो, अंजन!"

निपट हत-बुद्ध, अज्ञानी बाल की तरह वे विनती कर उठे।

"नहीं, रोक नहीं सकूँगी। लौटकर तुम्हें जाना ही होगा। तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्याय का है तो उसके विरुद्ध भी तुम्हें लड़ना होगा। पर इस क्षण रुकना नहीं है, मेरे वीर!"

पवनंजय की शिरा-शिरा एक तेजस्वी वीर्य से ओत-प्रोत हो उठी। कन्धों

पर पड़े अंजना के दोनों हाथों को हाथ में लेकर चूम लिया और बोले—

"मुझे शपथ है इन हाथों की, और इन हाथों का आशीर्वाद ही सदा मेरी रक्षा भी करेगा....।"

उल्लसित होकर पवनंजय उठ बैठे और प्रयाण की तैयारी करने लगे। इतने ही में बाहर प्रहस्त का उच्च स्वर सुनाई पड़ा।

....अंजना के भीतर एक नामहीन, निराकार-सा सन्देह जाग उठा। भीतर एक धुक-धुकी-सी हो रही है। क्या कहे, कैसे कहे, वह स्वयं जो नहीं जान रही है। पलंग के पायताने सोच और संकोच में डूबी वह खड़ी है।

"देवी, दिन उगने को है, बिदा दो!"

....अंजना को चेत आया...बिना दृष्टि उठाये ही, पवनंजय के पैरों में सिर रखकर वह प्रणत हो गयी। पवनंजय ने झुककर, बाहुएँ पकड़ उसे उठा दिया। दृष्टि उसकी अब भी झुकी ही है। पति के एक हाथ को धीरे से अपने हाथ में लेकर बोली—

"सुनो, मेरी विवशता की कथा भी सुनते जाओ।....दुनिया की आँखों की ओट तुम कब मेरे पास आये और कब चले गये, यह सब तो कोई नहीं जानता और नहीं जानेगा! तब पीछे से किसी दिन कुछ हुआ....तो परित्यक्ता अंजना पर कौन विश्वास करेगा...?"

कहते-कहते अंजना का कण्ठ अन्तर के आँसुओं से काँप आया।

पवनंजय के भीतर असीम उल्लास का वेग था। पुरुष को अपनी तृप्ति और अपना जीतव्य मिल चुका था। अपने सुख के इस चांचल्य और उतावली में नारी की इस विवशता को समझने में वह असमर्थ था। तुरत भुजा पर से वलय, और उँगली से एक मुद्रिका निकालकर अंजना के हाथों में देते हुए पवनंजय बोले—

"पगली हुई है अंजन, मुझे लौटने में क्या देर लगनेवाली है? चुटकी बजाते में सब ठीक करके, तुरत ही लौटूँगा। तेरी दी शपथ जो साथ है। फिर भी अपने मन के विश्वास के लिए चाहे तो यह रख ले!"

वलय और मुद्रिका हाथ में लेकर फिर अंजना ने पैर छू लिये। और उठकर बोली—

"निश्चिन्त होकर जाओ, मन में कोई खटका मत रखना....!"

आँसू भीतर झर गये। होंठों पर मंगल की मुसकराहट थी!

प्रहस्त द्वार पर खड़े थे। दूर से ही उन्होंने झुककर देवी को प्रणाम किया। पवनंजय उनके साथ हो लिये।

पौ फटते-फटते यान दृष्टि से ओझल हो चला। अंजना और वसन्त छत पर खड़ी एकटक देखती रहीं, जबतक वह बिन्दु बनकर शून्य में लय न हो गया।

[२२]

पलक मारते में दिन बीतने लगे। कटक का कोई निश्चित संवाद आदित्यपुर में नहीं आया। अभी कुछ दिनों पहले केवल इतना ही सुना था कि युद्ध बहुत भयंकर हो गया है। जम्बुद्वीप के अनेक मण्डलीक छत्रधारी युद्ध में आ उतरे हैं। पक्षों में ही आपस में विग्रह हो गये हैं। स्थिति जटिल होती जा रही है। सुलझने के अभी कोई चिह्न नहीं दीखते।

रोज के नित्य-कर्मों में अंजना जो भी आश्वस्त भाव से संलग्न है; पर इस सबमें होकर दिन और रात, सोते और जागते उसकी दृष्टि लगी है, विजयार्ध के सुदूर शृंगों पर। नहीं दीख पड़ता है वहाँ आता हुआ वह धवल तुरंग। नहीं दीख पड़ती है चिन्तामणि से चमत्कृत शिरस्त्राण की आभा! किसी जय-पताका का कोई चिह्न भी दूर-दूर तक नहीं है। कभी-कभी स्वप्नाविष्ट-सी, वह दसों दिशाओं को सूनी आँखों से घण्टों ताकती रह जाती है। किसी भी दिशा में नहीं दीख पड़ती है, सैन्य के अश्वों से उड़ती धूल। जयभेरी का स्वर भी नहीं सुनाई पड़ता। दूर की उपत्यकाएँ जयकारों के निनाद से नहीं गूँजतीं। सुनसान क्षितिज के मण्डल पर नियति-सा शून्य और अचल यह आकाश खड़ा है!

इस महल को छोड़ने का संकल्प अंजना उस दिन कर चुकी थी। पर वह जाने को ही थी कि उस रात अचानक पवनंजय आ गये। वे आप मर्यादा की रेखा स्वयं खींच गये हैं। इसे लाँघकर अब अंजना को कहीं जाना नहीं है। पर लोक-मर्यादा के विचार-पति क्या इस मर्यादा-रेखा का आदर करेंगे? प्रच्छन्न रूप से दिन-रात यह प्रश्न उसके अन्तरतम में कसकता रहता है।

दिन सप्ताह और सप्ताह महीने होते चले। उनके आने की सारी आशाएँ

दुराशा हो गयीं। प्रतीक्षा की दृष्टि पागल और अनन्त हो उठी है। कोई सूचना नहीं है, संवाद भी नहीं है। पथिकों और प्रवासियों के मुँह अस्पष्ट और अनिश्चित खबरें आदित्यपुर में आती रहती हैं।

....अंजना के शरीर में गर्भ के चिह्न प्रकट हो चले। नवीन मंजरियों से लदे रसाल-सी अंजना की सारी देह पाण्डुर हो चली है। मुख पर फूटते दिन की स्वर्णाभा दीपित हो उठी है।—दिन-दिन उन्नत और उदार होते स्तनों के भार से वह नम्रीभूत हो चली है। अंगों में विपुलता का एक उभार और निखार है। भीतर के गहन और सघन आनन्द-भार से एक मधुर गाम्भीर्य का प्रकाश बाहर चारों ओर फूट पड़ा है। श्री, कान्ति, रस और समृद्धि से आनत अंजना जब चलती है, तो गजों की भव्य गति विनिन्दित होती है—पैरों तले की धरती गर्व से डोल-डोल उठती है! प्रकाश पर कौन-सा आवरण डालकर उसे छुपाया जा सकता है? वह तो फैलता ही है, क्योंकि वही उसका निसर्ग धर्म है। लोक-दृष्टि ने देखा और अनेक चर्चाएँ अन्दर ही अन्दर चलने लगीं।

भीतर जो भी अंजना का मन दिन-रात चिन्ता और भय से सन्त्रस्त है, पर उस सब पर पड़ा है जाने किस अदृष्ट भावी विश्वास का बलशाली हाथ, कि एक अमन्द आनन्द की धारा में वह अहर्निश आप्लावित रहती है।

इसी से कभी-कभी जब अकेले में चिन्ता में डूबी वह उदास हो जाती तो वसन्त मौन-मौन उसके हृदय की व्यथा को आँखों से पी लेती। उसे छाती से लगाकर मूक सान्त्वना देती। अंजना एकाएक हँस पड़ती। चेहरे की वेदना उस हँसी से और भी मोहक हो उठती। अंजना कहती—

"तुम चुप रहती हो, जीजी, पर मैं क्या नहीं समझ रही हूँ? पर विधाता के कौतुक पर अब तो हँसी ही हँसी आ रही है। देव-दर्शन के लिए तुम मुझे मन्दिर तक नहीं जाने देतीं। ऐसे डरकर कै दिन चल सकूँगी? मुझे भय भी नहीं है और लज्जा भी नहीं है। क्या मुझे इतना हीन होने को कहती हो, जीजी, कि उनकी दी हुई थाती की अवज्ञा करूँ? उनके दिये हुए पुण्य को पाप बनाकर दुराती फिरूँ, यह मुझसे नहीं हो सकेगा....!"

"पर अंजन, लोक-दुनिया तो यह सब नहीं जानती....।"

"हाँ, दुनिया यह नहीं जानती है कि किस रात वे अभागिनी अंजना के महल

में आये और कब चले गये। पर उन्हें मुझ तक आने के लिए, या मुझे उनके पास जाने के लिए क्या हर बार, लोक-जनों की आज्ञा लेनी होगी ?"

पर अंजना, दुनिया तो इतना ही जानती है न, कि कुमार पवनंजय ने अंजना को कभी नहीं अपनाया। उसकी दृष्टि में तुम पहले ही दिन की परित्यक्ता हो। तुम्हारे और उनके बीच की राह सदा के लिए जो बन्द हो गयी थी—इसके परे की बात दुनिया क्या जाने ?"

अंजना के चेहरे पर फिर एक अम्लान हँसी झर पड़ी—

"कैसी भोली बातें करती हो, जीजी ! इस सबका उपाय ही क्या है ? मुझे या तुम्हें घूम-घूम कर क्या इसका विज्ञापन करना होगा ? और करोगी भी तो क्या दुनिया उसे सच मान लेगी ? सच बात तो यह है, जीजी, कि अन्धी लोक-दृष्टि यदि मेरे और उनके बीच की राह को देख पाती, तो दुनिया में इतने अनर्थ ही न होते !—पाप और दुराचारों की सृष्टि ही न होती। विधि का विधान ही कुछ और होता। मैं कहूँ, फिर विधि का विधान होता ही नहीं, मनुष्य का अपना ही मांगलिक विधान होता। पर स्थूल लोक-दृष्टि पर राग-द्वेषों के आवरण जो पड़े हैं। इसी से तो मानव-मन में अशेष दुख-क्लेशों की वार्ताएँ चिरकाल से चल रही हैं। दिन-रात आत्मा-आत्मा के बीच संघर्ष है। यह सब इसीलिए है कि एक दूसरे को ठीक-ठीक समझने-जानने की शक्ति हममें नहीं है।"

"पर अंजन, मनुष्य की जो विवशता है, उसकी अपेक्षा ही तो जगत् का बाह्य व्यवहार चल सकेगा।"

"भीतर और बाहर के बीच तो पहले ही खाई है—इस खाई को और बढ़ाये कैसे चलेगा, जीजी ? भीतर के सत्य पर विश्वास कर, बाहर की दुनिया में उसके लिए सहना भी होगा। उस सत्य की प्रतिष्ठा करने के लिए, अचल रहकर सम-भाव से, लोक में प्रचलित मिथ्या को प्रतिरोध देना होगा, खपना होगा। अपने को चुकाकर भी उस सत्य को प्रकाशित करना होगा !"

"पर उस सत्य का आधार ही यदि छिन जाये, तो उसे प्रकाशित कैसे कर सकोगी ?"

"सत्य का अन्तिम आधार सदा कोई स्थूल, ठोस चीज़ तो नहीं होती जीजी !

प्रेम और आत्मा कोई रंग-रूपवाली मणि तो नहीं होती है कि चट निकालकर दिखा दें। 'उन' पर और अपने ऊपर विश्वास यदि अचल है, तो बाहर का कौन-सा भय और प्रहार है जो मेरा घात कर सकेगा? जो धन वे सौंप गये हैं, उसकी रक्षा करने का बल भी वे आप मुझे दे गये हैं।...केवल एक ही चिन्ता मन को दिन-रात बींध रही है—कि वे किसी दुश्चक्र में न पड़ गये हों। जाते-जाते उनका मन युद्ध से विमुख हो गया था। उनकी इच्छा के विरुद्ध, मैंने ही उन्हें भेजा है। शपथ दी है मैंने कि वे अन्याय के पक्ष में नहीं लड़ेंगे, चाहे वह अपना ही पक्ष क्यों न हो। इसी से रह-रहकर चिन्ता होती है—कि किसी गहरे दुश्चक्र में न पड़ गये हों....? मेरी बात को वे कुछ का कुछ न समझ बैठें...."

कहते-कहते अंजना की आँखें भर आयीं। वसन्त ने उसे फिर पास खींचकर पुचकार लिया और छाती से लगाकर सान्त्वना देने लगी।

....कानोंकान बात सारे अन्तःपुर में फैल गयी—राजपरिकर में भी दबे-छुपे चर्चाएँ होने लगीं। महादेवी ने सुना और सुनकर दोनों कानों में उँगलियाँ दे लीं। आँखें जैसे कपाल से बाहर निकल पड़ती थीं। उनके क्रोध और सन्ताप की सीमा नहीं थी। 'ऐसी आयी है कुलक्षिणी कि पहले तो मुझसे पुत्र छीना, उसके जीवन को नष्ट कर दिया, और उसकी पीठ पीछे कुल की उज्ज्वल कीर्ति में ऐसे भीषण कलंक की कालिख लगा दी!' स्वयं जाकर बहू से मिलने या उसे बुलवाकर पूछ-पाछ करने का धैर्य राजमाता में नहीं था। जाने या बुलाने की तो बात दूर, इस कल्पना से ही शायद वे सिहर उठतीं। अपनी विश्वस्त गुप्तचरियों को भेजकर ही उन्होंने बात का पक्का पता लगा लिया था। दूसरे इधर कुछ दिनों से अंजना भी निःशंक होकर प्रातःसायं, देव-मन्दिर में दर्शन करने जाने लगी थी। तब सभी के सम्मुख वह प्रकट थी। अंजना के इस दुःसाहस पर देखनेवालों को भीतर-भीतर अचरज जरूर था, पर बात की गहराई में जाना किसी ने भी उचित नहीं समझा। स्वयं महादेवी ने भी एक दिन छुपकर उसे देख लिया। सन्देह का कोई कारण नहीं रह गया! पापी यदि निर्लज्ज होकर प्रकट में घूम रहा है तो क्या कुलीन और सज्जन भी अपनी मर्यादा त्यागकर उसका सामना करें? पाप के स्थूल लक्षण जब प्रकट ही हैं तो उसमें जाँचना क्या रह गया है? पतित तो समाज के निकट घृणा, उपेक्षा और दण्ड का ही पात्र है—उसके साथ सहानुभूति कैसी, सम्पर्क कैसा? यही रही

है अब तक कुलीनों परम्परा ! अपनी मर्यादा की लीक लाँघकर, दुराचारी के निकट जाकर उससे बात करना, यह सज्जन और कुलीन की प्रतिष्ठा के योग्य बात नहीं है। पर क्या है इन कुलवानों और सज्जनों के चरित्र और शील की कसौटी, जिस पर इन का न्यायाधिकरण अधिष्ठित है। पाखण्ड, स्वार्थ, शोषण—सबल के द्वारा अबल का निरन्तर पीड़न और दलन। यही पार्थिव सामर्थ्य है उनका सबसे बड़ा चरित्र-बल—जिसकी ओट उनका बड़ा से बड़ा पाप स्वर्ण और रत्नों की शय्या में प्रमत्त और नग्न लोट रहा है—वह लोक में ऐश्वर्य और पुण्य कहकर पूजा जा रहा है !

महादेवी केतुमती ने महाराज को बुलाकर सब वृत्तान्त कहा। पछाड़ खाकर वे धरती पर औंधी गिर पड़ीं और विलाप करने लगीं। महाराज की मति को काठ मार गया। उनकी आँखों के आँसू रुक नहीं सके। एक अवश क्रोध से उनके होंठ फड़फड़ाने लगे। पुत्र विमुख था, फिर भी उसके प्रति अविश्वास उन्हें नहीं था। इधर वह जब से युद्ध पर गया है, उनके मन में एक नयी आशा बलवती हो रही थी। शायद अब उसका मन फिर जाये। पर भाग्य ने यह दूसरा ही खेल रच दिया।....विचित्र है कर्मों की लीला—! उनके सतोगुणी मन में, अस्पष्ट, जड़ नियति पर क्रोध है;—मनुष्य और उसकी दुर्बलता पर क्रोध उनके बस का नहीं है।

रानी रुदन करती-करती उच्च स्वर में राजा की ओर नागिन-सी फूत्कार कर बोली—

"देख ली अपनी गुणियल बहू को ? बड़े गुण गा-गाकर लाये थे ! ....कुलघातिनी...कुलटा, उसके दुष्कृत्यों का अन्त नहीं है !"

राजा पत्थर की तरह अचल हैं, पर भीतर उनके क्रन्दन मचा है। कानों में उनके गूँज रही हैं, लोक-निन्दा की वेधक किलकारियाँ। सत्य उनकी कल्पना से परे था। लाख कुछ हो, पर पुत्र क्या माँ-बाप से छुपा है ? और फिर पवनंजय जो कर बैठा है, वह क्या कभी टला है ? फिर, बाईस वर्ष बीत गये, कभी कोई बात नहीं हुई। आज उसके पीठ फेरते ही यह सब कैसे घट गया ? सत्य की जाँच करने को क्या रह जाता है ?

रानी ने अनेक विलाप-प्रलाप कर राजा की स्वीकृति ले ली : कि पापिन को

महल से निकालकर राज्य की सीमा से बाहर कर दें; उसे अपने बाप के घर महेन्द्रपुर भेज दिया जाये। उसके और उसके पितृकुल के लिए इससे अच्छा दण्ड और क्या होगा? उस पुत्र-घातिनी और कुल-घातिनी को एक क्षण भी अब इस राज-घराने के आँगन में नहीं रखा जा सकेगा। नहीं तो पाप का यह बोझ वंश को रसातल में ही पहुँचा देगा।

अगले दिन सवेरे ही रानी ने रथ लेकर अक्रूर नामा सारथी को बुला भेजा। स्वयं रथ पर चढ़कर फुंकारती हुई रत्नकूट प्रासाद पर जा पहुँचीं।

अंजना और वसन्तमाला तब स्वाध्याय करती हुई, तत्त्व-चर्चा में तल्लीन थीं। भीषण आँधी सी जब राजमाता एकाएक प्रकट हुईं, तो अंजना और वसन्त किंकर्तव्य-विमूढ़ देखती रह गयीं! रानी अंगारों-सी लाल हो रही हैं, और क्रोध से थरथरा रही हैं। पहले तो दोनों बहनें भयभीत हो सकपका आयीं। फिर अंजना साहस कर पैर छूने को आगे बढ़ी...

....कि बिजली की तरह एक प्रचण्ड पदाघात उसकी छाती में आकर लगा। वह तीन हाथ दूर जा पड़ी।

"राक्षसी....कलंकिनी....ओ पापिन, तूने दोनों कुलों के भाल पर कालिख पोत दी! तूने वंश की जड़ों में कुठाराघात किया है....और अब सती बनकर बैठी है शास्त्र पढ़ने!...किससे जाकर किया है यह दुष्कर्म...किससे जाकर फोड़ा है सिर....?"

कहते-कहते रानी फिर झपटीं और कसकर एक-दो लातें अंजना के सिर और पीठ में मार दीं। वसन्त बीच में रोकने को आयी तो उसकी पसली में एक घूँसा देकर, बिना बोले ही उसे दूर ठेल दिया। वसन्त उस मर्मान्तिक आघात से धप् से धरती पर बैठ गयी।

"सच बता डायन, सच बता, छह महीने हुए वह युद्ध पर गया है, और उसके पीठ फेरते ही तुझे सूझा यह खेल...? पर, कब की जान रही हूँ तेरे कृत्य, तभी तो जाती थी मृग-वन, अरुणाचल की पहाड़ी! गाँव-बस्तियों और जंगल में जो भटकती फिरती थी! भाग्य तो तभी फूट गया था, पर किससे कहती? पति तो धर्मात्मा और उदासीन ठहरे और पुत्र अपना ही नहीं रहा।"

अंजना औंधी पड़ी है, अकम्प, मेरु-अचल!

"हतभागिनी पत्थर होकर पड़ी है—कुछ भी नहीं लगता है ! धरती भी तो पाप का भार ढो रही है—जो फटकर इस दुष्टा को नहीं निगल जाती !...हमारे ही भाग्य का तो दोष।"

क्रोध से पागल रानी की छाती फूल रही है—नथुने फड़क रहे हैं। हाँपते-हाँपते जरा दम लेकर फिर बोली—

"अरी ओ भ्रष्टे, चल उठ यहाँ से...जा....अपने बाप के घर जा ! एक क्षण को भी देर हुई तो अनर्थ घट जायेगा। दुनिया कुल के मुख पर लांछन का कीचड़ फेंकेगी। अरे नरक की बहियाँ खुल पड़ेंगी....उठ शंखिनी....उठ, देर हो रही है...!"

कहते हुए राजमाता ने पास जा अंजना को झकझोरकर उठाना चाहा। अंजना ने उनके पैरों में गिरकर उनपर अपना सिर डाल देना चाहा। तब पैर खींचकर, एक और ठोकर से उसे ठेलती हुई महादेवी बोलीं—

"दूर हट....पापिन, दूर हट....अंग छू लेगी तो कोढ़ निकल आयेगी....!"

अंजना के दोनों खाली हाथों के बीच बिखरे केशों में ढका माथा पड़ा है। रुदन छाती तोड़कर फूट ही तो पड़ता था, पर आज उसकी छाती ही जैसे वज्र की हो गयी है। पहले अंजना के मन में आया कि अपनी बात कहे। पर परिस्थिति का ऐसा अन्ध और विषम रूप देखकर, वह स्तब्ध रह गयी। उसका समस्त मन-प्राण विद्रोह से भर आया।....नहीं, वह नहीं देगी कैफ़ियत। सुनने और देखने को जिनके पास आँखें और कान नहीं हैं, क्षण-भर का भी धैर्य जिन्हें नहीं है, सिर से पैर तक जो अपने ही मान-मद में डूबे हैं, और सत्य की जिनमें जिज्ञासा नहीं है, निष्ठा नहीं है, असत्य पर ही खड़ी हैं जिनकी सारी नीतियाँ और मर्यादाएँ।—वे करेंगे 'उनके' और मेरे बीच का न्याय-विचार ? वे किन कानों सुन सकेंगे उस रात की कथा, जिनके हृदय और आत्मा ही मर चुके हैं। नहीं, उसे कुछ भी कहना नहीं है—चाहे उसे यहीं गाड़ दिया जाये। 'उनके और मेरे बीच नहीं है मृत्यु की बाधा !'—और फिर एक अपार बल से वह भर उठी। ध्यान में 'उन' चरणों को ही पकड़ वह आत्मस्थ और चुप पड़ी रह गयी।

वसन्त ने राजमाता के पैर पकड़ लिये। उन्हें शपथें दिला-दिलाकर उसने उस रात की कथा कह सुनायी। प्रमाण-स्वरूप अंजना के हाथ में से वलय और

मुद्रिका निकालकर दिखाये। परिणाम और भी उलटा हुआ। पुत्र माँ से विमुख है, और इस कुलटा के पास वह आया होगा? युद्ध से लौटकर, क्षत्रिय की मर्यादा लोपकर वह आया होगा इसके पास? एक मर्मान्तक ईर्ष्या और क्रोध से रानी फिर पागल हो गयीं। कषाय में प्रमत्त सुलगती आँखें, अन्धी हो रही थीं। वलय और मुद्रिका को पहचानकर भी अनदेखा कर दिया। प्रेम और सद्भाव ही जब हृदय से निर्मूल हो चुका था, मिथ्यात्व का ही जब एक आवरण चारों ओर पड़ा था, मनुष्य को मनुष्य का ही आदर और विश्वास जब नहीं रहा, तो निर्जीव वलय और मुद्रिका की क्या सामर्थ्य कि वे सत्य को प्रमाणित करते। राजमाता ने व्यंग्य का अट्टहास करते हुए वसन्त पर प्रहार किया—

"छिः कुटिनी, तू ही माया न रचेगी तो और कौन रचेगा? ऐसे-दुष्कृत्य कर, अब भी झूठ बोलते और शील बखानते, जबान नहीं कट पड़ती? बड़ी आयी है सतवन्ती, सती बहन के गुण गाने!....दुःशीलाओ, जाने कितने पाप का विष तुमने इस महल में अब तक फैलाया होगा। पूर्वजों की पुण्यभूमि में नरक जगाया है तुम दोनों ने मिलकर! जाओ, इसी क्षण जाओ, निकलो मेरे महल से! हटो आँखों के सामने से, अब तुम्हें देख नहीं सकूँगी..."

कहकर रानी ने द्वार की ओर देखा और साथ आयी हुई विश्वस्त अनुचरियों को पुकारा। उन्हें संक्षिप्त आज्ञा दी—

"इन दोनों को ले जाकर नीचे खड़े रथ में बिठाओ!"

फिर झपटती हुई राजमाता बाहर निकलीं। सारथी को बुलाकर आज्ञा दी—

"सुनो अक्रूर, महेन्द्रपुर की सीमा पर इन दोनों को छोड़कर शीघ्र आओ, और मुझे आकर सूचित करो!"

इधर दासियाँ उठायें, उसके पहले ही वसन्त ने उठाकर अंजना को अपनी गोद पर ले लिया। प्रगाढ़ मुँदी आँखों के आँसुओं से सारा मुख धुल गया है। पर अब सूख गये हैं वे आँसू। देह जैसे विदेह हो गयी है। झकझोरकर एक-दो बार वसन्त ने कहा—

"अंजन—ओ अंजन!"

एक विस्मृत प्रसन्नता की अर्ध-स्मित में अंजना के होंठ खुले। चेहरे की सारी वेदना में एक तेज झलमला उठा। केवल इतना ही निकला उन होंठों से—

"उनकी आज्ञा मिल गयी है, जीजी ! चलो वे बुला रहे हैं, देर मत करो !"

वसन्त अपने हाथों के सहारे अंजना को लेकर सीढ़ियाँ उतर रही थी। तब फिर एक बार महादेवी गरज उठीं—

"जा पापिन, अपने बाप के घर जाकर अपने किये का प्रायश्चित्त कर। तुझे और तेरे पितृ-कुल को यही दण्ड काफ़ी है !"

....देखते-देखते रथ, अन्तःपुर के गुप्त मार्ग से, राज-प्रांगण के बाहर हो गया।

[२३]

हवा से बातें करता हुआ रथ महेन्द्रपुर के मार्ग पर अग्रसर था। प्रभात पवन के शीतल स्पर्श से सचेत होकर अंजना ने वसन्त की गोद में आँखें खोलीं। पथ के दोनों ओर स्निग्ध, श्यामल, घटादार वृक्ष सवेरे की कोमल धूप में दमक रहे हैं। कहीं दूर की अमराइयों से रह-रहकर कोयल की टेर सुनाई पड़ती है। आस-पास खेतों में सरसों फूली है। तिस्सी के नीले फूलों में शोभा की लहरें पड़ रही हैं। दूर-दूर खेतों के किनारे इक्षु के कुंज हैं। कहीं घने पेड़ों के झुरमुट हैं। उनके अन्तराल से गाँव झाँक रहे हैं। आकाश के छोर पर कहीं श्वेत बादलों के शिशु किलक रहे हैं। अंजना कीं स्थिर आँखें उसी ओर लगी हैं।...भीतर के मुकुलित सौन्दर्य का आभास-सा आकर वह सिहर आयी। अधरों पर और कपोल-पाली में स्मित की भँवर-सी पड़ गयी। वेदना आँखों के किनारे अंजन-सी आँजी रह गयी है, और पुतलियाँ भावी के एक उज्ज्वल प्रकाश से भरकर दूर तक देख उठीं—जैसे क्षितिज के पार देख रही हों....

अपने गाल पर फिरती हुई वसन्त की उँगलियों को हथेलियों से दबाती हुई अंजना बोली—

"क्या सोच रही हो, जीजी ?"

"सो क्या पूछने की बात है, बहन ?"

"सो तो समझती हूँ, जीजी, मुझ अभागिनी के कारण तुमको बार-बार अपमान और लांछना झेलनी पड़ रही है। और आज तो पराकाष्ठा ही हो गयी।

इसी की ग्लानि मन में सबसे बड़ी है। मेरी राह में यदि विधि ने काँटे ही बिछाये हैं, तो तुम्हें उनपर क्यों घसीटूँ। नहीं बहन, यह सब अब मैं और नहीं चलने दूँगी। मुझे मेरी राह पर अकेली ही जाने दो। देखती हूँ कि इस राह का अन्त अभी निकट नहीं है। अब तक जिस तरह चली हूँ और आज भी जो हुआ है, उसे देखते अब मेरी यात्रा सुगम नहीं है।....तुम्हें लौट ही जाना चाहिए, जीजी! तुम अपने घर जाओ, तुम्हें मेरी शपथ है! जाकर अपने बच्चों और पति की सुध लो। विश्वास रखना, तुम्हें अन्यथा नहीं समझूँगी। सुख-दुख और जन्म-मरण में तुम्हारा आशीर्वाद सदा मेरे साथ रहेगा!"

"पत्थर की नहीं हूँ अंजन, तेरी वेदना को समझ रही हूँ। जानती हूँ कि तेरी होड़ मैं नहीं कर सकूँगी। तेरी राह की संगिनी हो सकूँ, ऐसी सामर्थ्य मेरी नहीं है। पर मेरी ही तो मति गुम हो गयी थी, और उसी का परिणाम है कि यह संकट की घड़ी आयी है। क्यों मैंने तुझे स्वच्छन्द होने दिया, क्यों जाने दिया मृगवन; क्यों उस दिन कुमार को रोका नहीं—कि वीर को यों गुप्त राह आना और चले जाना शोभा नहीं देता। स्वार्थी पुरुष ने सदा यही तो किया है! और स्वार्थ पूरा होने के बाद कब उसने पीछे फिरकर देखा है? पर मोह के वश ये सारी भूलें मुझी से तो हुई हैं। तेरे साथ रहकर इनका प्रायश्चित्त किये बिना, किस जन्म में इनसे छूट सकूँगी?"

"तुम्हें छोटा नहीं आँक रही हूँ, जीजी! दूर रहकर भी क्या क्षण-भर भी जीवन के पथ में तुम मुझसे विलग रही हो? मेरी काँटों की राह में, अपना हृदय बिछाकर तुमने सदा उसे सुखद बनाया।—तुम्हीं ने दिखाया था उन्हें, मानसरोवर की लहरों पर, पहली बार! रूठकर वे गये, तो तुम्हीं उस रात उन्हें लौटा लायीं, और जगाकर मुझे सौंप दिया।—और आज इस क्षण भी तुम्हारे ही सहारे यहाँ तक चली आयी हूँ। अपने पथ पर निःशंक तुमने मुझे जाने दिया। इसलिए कि तुम्हारे मन में उसके लिए आदर था।—और माना कि वे गुप्त रास्ते आये, वीर की तरह वे नहीं आये।....पर जो वेदना वे लेकर आये थे, वह क्या तुमसे छिपी है, जीजी? वे तो मुझे कृतार्थ करने आये थे! उस क्षण उन्हें मेरी जरूरत थी। और मैं थी ही किस दिन के लिए? तुम्हीं कहो, क्या उस क्षण उन्हें ठुकरा देती?—तुमसे जो हुआ है, वह कल्याण ही हुआ है,

जीजी। पर देखती हूँ कि तुमसे लेती ही आयी हूँ, देने को मुझ कंगालिनी के पास क्या है ?....और आज यदि दिया है तो कलंक ! यही सब अब नहीं सहा जाता है, जीजी। इसी से कहती हूँ कि अब यह भार मुझपर मत डालो—मैं तुच्छ दबी जा रही हूँ इसके नीचे—।"

"तेरी बात कुछ समझ नहीं पा रही हूँ, अंजन ! क्या है तेरा निर्णय, ज़रा सुनूँ !"

अंजना की वे पारदर्शिनी आँखें, फिर किसी दूर अगम्य में जा अटकी थीं। कुछ देर मौन रहा, फिर एक दबी निःश्वास छोड़कर वह धीरे से बोली—

"....मेरा क्या निर्णय है, जीजी, पथ की रेखा तो वे आप ही खींच गये हैं। देख नहीं पाती हूँ, फिर भी अनुभव करती हूँ कि उसी पर चल रही हूँ। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती हूँ, राह खुलती जाती है।—माना कि सामने साँप बिछे हैं और भालू झपट रहे हैं, खन्दक़ और खाइयाँ भी हैं—! पर हँस-हँसकर वे पास बुला रहे हैं, तो रुक कैसे सकूँगी ? उनके इंगित पर। नरक की आग में भी चलना पड़ेगा, तो हँसती हुई चली चलूँगी। क्योंकि जानती हूँ कि वे गिरने नहीं देंगे—हाथ जो झाले हुए हैं।—जाने ही वाली थी कि उस रात वे आकर खड़े हो गये और राह रोक ली ! क्या वह सब झूठ था, जीजी, क्या वह मात्र अभिनय था ? अपनाया तो है ही, पर और भी परीक्षा लिया चाहते हैं, तो क्या मुकर जाऊँगी....?"

वसन्त ने देखा कि कैसी अबोध है यह लड़की ! बाहर की यह ठोस दुनिया इसके सम्मुख है ही नहीं। भीतर का जो रास्ता है, वही इसके लिए एकमेव सत्य है। परिस्थिति इसके लिए सहज उपेक्षणीय है। निःशंक उसे तोड़ती हुई यह चली जा रही है—निर्द्वन्द्व और अकेली।

"अपने बाहर की दुनिया के प्रति, अपने सभी इष्ट-जनों के प्रति, इतनी निर्मम हो जाओगी, बहन ? अपने आत्मीयों पर, अपने जन्म देनेवाले जनक और जनेता पर भी, क्या तुम्हारा विश्वास और प्रेम नहीं रहा ? अपनी सास की दुष्टता के लिए, अपने सभी स्नेहियों को ऐसा कठोर दण्ड मत दो। सारी दुनिया को इतनी निष्ठुर मत समझो, अंजना। अपनी जन्मभूमि महेन्द्रपुर को छोड़कर तुम और मैं कहीं जा नहीं सकेंगे।"

"बाहर की दुनिया की अवज्ञा करूँ, ऐसा भाव रंच मात्र भी नहीं है मन में। और कौन-सी शक्ति है, जो ऐसा कर सकी है ? मिथ्या है वह अभिमान। लोक है, इसी से तो उसका ज्ञाता-द्रष्टा ईश्वर भी है। लोक से क्या वह अलग है ? फिर लोक से द्रोह करके, उससे विमुख होकर, मेरे होने का क्या मूल्य है ? और तब क्या मैं रह भी सकूँगी। लोक और माता-पिता, सबकी कृतज्ञ हूँ कि उन्हीं के कारण तो मैं हूँ। और सास-ससुर का और किसी का भी दोष इसमें नहीं है। दोष तो अपने ही पूर्व संचित कर्मों का है, और उसका फल अकेले ही भोगना होगा। अपने किये पापों का फल बाँटती फिरूँ, यह मुझसे नहीं हो सकेगा। पुण्य फलता तो बाँटकर ही कृतार्थ हो लेती। अपने किये का दण्ड उन्हें नहीं देना चाहती, इसी से तो वहाँ जाने की इच्छा नहीं है। उपेक्षा का भाव किसी के भी प्रति नहीं है। किसी के भी प्रति कोई आक्रोश या आरोप भी मन में ज़रा नहीं है। पर सबको देने को मेरे पास दुख ही दुख है, और वैसा करने का अधिकार मुझे नहीं है। जन्मभूमि के प्रति, आत्मीयों के प्रति, और लोक के प्रति शत-शत बार मेरी दूर से ही वन्दना है !—हो सके तो उन सबसे कहना कि अंजना को वे अन्यथा न समझें।"

"तुम भूलती हो अंजन ! तुम मनुष्य और उसके प्रेम में ही अविश्वास कर रही हो। यदि दुख में ही मनुष्य, मनुष्य का नहीं है, तो फिर आत्मा-आत्मा के बीच का अटूट सम्बन्ध ही मिथ्या है। संकट की इस घड़ी में ही तो उस प्रेम की परीक्षा है।"

"प्रेम कहाँ नहीं है, जीजी ? उसपर अविश्वास किये कैसे बनेगा ? प्रेम है कि हम सब जी रहे हैं। सत्ता का विस्तार ही प्रेम के कारण है। पर मनुष्य मात्र की अपनी विवशताएँ भी तो हैं। वे भी तो अनेक मिथ्यात्वों और कर्म-परम्पराओं से बँधे हैं। इसी से भीतर बह रही प्रेम की सर्वव्यापिनी धारा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच रह-रहकर टूट जाती है; कहें कि लोप हो जाती है। तब जागते हैं, पारस्परिक संघर्ष, कषाय और विग्रह। उस धारा को जोड़ सकने की शक्ति जिस दिन पा जाऊँगी, उसी दिन उनके बीच आऊँगी ! अपनी ही अपूर्णता और विषमता लेकर आऊँगी, तो उनके जीवन-व्यवहार को शायद और भी जटिल बना दूँगी....।"

"ठीक-ठीक तेरा अभिप्राय नहीं समझी हूँ, अंजन ? कैसे तू भागने की तर्क-युक्ति सोच रही है। समझती हूँ कि तुझे पकड़कर रखने की शक्ति मुझमें नहीं है। फिर भी स्पष्ट जानना चाहूँगी, तू क्यों अपने स्वजनों के पास नहीं जाया चाहती ? वे तो तुझे प्राणाधिक प्यार करते हैं। कितनी ही बार वे तुझे लेने आये, तेरे पैर तक पकड़ लिये, पर तू न गयी ! आज भी इस आपद्काल में वे तो तुझपर विश्वास ही करेंगे। उनकी गोद तेरे लिए सदा खुली है। क्या तू सोचती है कि वे भी तुझपर सन्देह करेंगे ?"

अंजना कुछ देर चुप रही, फिर बाहर की ओर देखती हुई ईषत् मुसकराकर बोली—

"....वैसा भी हो जाये तो कोई बड़ी बात नहीं है, जीजी ! विश्वास न भी कर सकें तो क्या इसमें उनका कोई दोष है ?—कर्मावरण तो सब जगह एक-से ही पड़े हैं न ? उनके और मेरे बीच भी तो वे आड़े आ ही सकते हैं। इसके उदाहरण लोक में कम नहीं हैं। उन्हें ही कौन-सा प्रत्यक्ष प्रमाण देने को है मेरे पास ?—सिवा इसके जो छिपाये छिप नहीं सकता ! और लोक-दृष्टि में यही तो है पाप का साक्षात् रूप ! उन स्वजनों की भी अपनी परिस्थिति है। वे भी तो एक लोक-समाज के अंग हैं। उनकी भी तो अपनी कुल-प्रतिष्ठा, लोक-मर्यादा और सदाचार के नीति-नियम हैं। अज्ञात काल से चली आयी उन्हीं परम्पराओं से वे भी तो बँधे हैं। उन संस्कारों को तोड़ देना, उनसे ऊपर उठकर देख सकना उनके लिए भी सहज सम्भव नहीं है। पहले मैं परित्यक्ता थी, फिर मुझसे मर्यादा टूटी; और अब तो गुप्त व्यभिचार के कलंक का टीका भी मेरे भाल पर लगा है ! इस सबको लेकर वहाँ जाऊँगी, तो वहाँ भी उन सबके विक्षोभ और क्लेश का कारण ही बनूँगी। वहाँ के लोक-समाज की मर्यादा को भी धक्का लगेगा। उसे तोड़कर वे मुझे अपनायेंगे तो परिणामहीन हिंसा और कषाय लोक में फैलेगा। वह इष्ट नहीं है, जीजी ! कल्याण उसमें न उनका है न मेरा, और सत्य की राह ऐसे नहीं खुलेगी। उलटे संघर्ष ही बढ़ेगा।"

"लोक-समाज यदि अज्ञान के अँधेरे में पड़ा है, तो उसे यों छोड़कर चले जाने में, निरा स्वार्थ और भीरुता ही नहीं है ? अपना ही बचाव यदि यों सब करने लगेंगे, तो लोकाचार का मांगलिक राज-पथ कौन प्रशस्त करेगा।

"पर लोक को पथ दिखाने की स्पर्धा करूँ, ऐसी सामर्थ्य मेरी नहीं है, जीजी ! आप अपने पथ पर चली चलूँ, अपने सत्य पर अटल और अच्युत रह सकूँ, वही मेरे लिए बहुत होगा। और तब किसी दिन यदि उस सत्य का सम्पूर्ण बल पा गयी, कुछ लोक को अर्पित करने योग्य जुटा सकी, तो उस दिन वापस आऊँगी, और लोक के प्रति अपना देय देकर उसका ऋण चुकाऊँगी। मेरे सत्य को सिद्ध होने में अभी देर है, जीजी। जब वह प्रकट होगा तो अपना काम आप करेगा, फिर चाहे कितनी ही दूर और कहीं भी क्यों न रहूँ। तब किसी के भी मन में मेरे लिए दुराग्रह और कषाय नहीं जाग सकेगा; प्रेम ही जागेगा। तब मेरी सामर्थ्य होगी, और मुझे अधिकार भी होगा कि मैं सबके बीच आकर सबकी हो सकूँ और सबको अपना सकूँ। उसी दिन आऊँगी, जीजी।—आज तो मैं सबकी अपराधिनी ही हूँ, और सबके दुख का कारण ही हो सकूँगी।—देने को है मेरे पास केवल कलंक की कथा....!"

"तुझे पाकर यह जीवन धन्य हुआ है, अंजनी ! तुझे छोड़कर मैं कहीं जा नहीं सकूँगी, यह तू निश्चय जानना।—पर अपनी जीजी की एक बात तुझे माननी ही होगी। तू नगर की सीमा पर ही रहना और मैं एक बार महाराज के पास जाऊँगी। सत्य उनपर प्रकट करूँगी, देखूँ वे क्या कहते हैं। उसके बाद तेरा ही निर्णय मुझे मान्य होगा। तुझे छोड़कर मैं इस लोकालय में रह सकूँ, यह इस जन्म में और जीते जी मुझसे नहीं हो सकेगा। मेरे गले पर हाथ रखकर कह दे, तू मेरी यह अन्तिम विनती अस्वीकार नहीं करेगी।"

कहते-कहते वसन्त ने अंजना का हाथ लेकर अपने गले पर रख लिया। अंजना की आँखों में आँसू छलछला आये। उसने लेटे-लेटे ही एक बार आँखें उठाकर वसन्त के मुख की ओर देखा और बोली—

"तुम्हें अपने ही लिए नहीं भेज रही हूँ, जीजी, पर तुम्हारे पतिदेव ने और उन बालकों ने क्या अपराध किया है, जो उन सबसे बिछुड़ाकर तुम्हें छीने जा रही हूँ। पूर्व भव में जाने किसको बिछोह दिया था, सो तो इस भव में झेल रही हूँ, और अब तुम्हें बिछुड़ाकर कहाँ छूटूँगी, यही देख लेना, जीजी !.... और मैं कुछ न कहूँगी...."

अंजना की आँखों में आँसू उफनते ही आये। वसन्त ने अपने आँचल से

उन्हें पोंछते हुए कहा—

"तेरे दुख से अपने दुख को अलग नहीं देख पा रही हूँ, अंजन ! विवश हो गयी हूँ। जो कर रही हूँ, उसमें दायित्व मेरा ही है। तेरा संकल्प वह नहीं है, जो कर्म तुझे बाँधेगा। घर जाकर सब ठीक कर आऊँगी। निर्णय हो चुका है, अंजन, दुविधा अब नहीं है।"

एक दूसरे के हाथ अपने को सौंपकर दोनों बहनें मानो निश्चिन्त हो गयीं। ऐसा अद्वैत भीतर सध गया है कि जैसे वचन का विकल्प अब दोनों के बीच सम्भव ही नहीं है। चुप और बन्द होकर अपने आपमें वे एकीभूत हो रही हैं। और ऐसे ही जाने कब दोनों की आँख लग गयी। योजनों की दूरी लाँघता हुआ रथ चला जा रहा था, पर वे दोनों लड़कियाँ उस संघर्ष और संकट की अनिश्चित घड़ी में भी बिलकुल अविचल भाव से निद्रा में मग्न थीं। ऐसा लगता था जैसे कुछ हुआ ही नहीं है।

ढलते हुए अपराह्न में दोनों की नींद जाने कब खुल गयी। दूर पर दन्ति-पर्वत की नील शृंग-रेखा दीखने लगी थी। देखा और अंजना का हृदय एक मार्मिक वेदना से हिल उठा। रोयें-रोयें में सौ-सौ जन्म मानो एक साथ जाग उठे हों। दन्ति-पर्वत के शिखर पर बैठकर वीणा बजानेवाली वह मुक्त-कुन्तला, निर्दोष बालिका फिर उसकी आँखों में सजल हो उठी। आह, कितनी दूर, किस कालातीत लोक में चली गयी है वह ! क्या वह उसे कभी न पा सकेगी ? और उसे पाने के लिए एकबारगी ही अंजना का सारा अन्तःकरण विकल और पागल हो उठा। खूब प्रगाढ़ता से आँखें मूँदकर व्यथा से भर आये अपने अन्तर को वह संयत करने लगी।

"अंजन....!"

आँखें खोलकर अंजना ने वसन्त की ओर देखा। दोनों ने एक-दूसरे को देखकर एक वेदना-भरी मुसकराहट बदल ली। साँझ के सूर्य की म्लान किरणों में दूर पर, महेन्द्रपुर की उन्नत प्रासाद-परम्पराएँ और भवन दीख रहे हैं। देव-मन्दिरों के भव्य स्वर्ण गुम्बज, देवत्व की महानताको घोषित कर रहे हैं। शिखरों पर उड़ती हुई ध्वजाएँ मंगल का सन्देश दे रही हैं। आस-पास के उपवनों और उद्यानों में ताल झाँक रहे हैं। खेतों के किनारे ग्राम-रमणियाँ जल की कलसियाँ भरकर

जाती हुई दीख पड़ती हैं। कोई-कोई विरल पुरजन या पुरनारी भी इधर आते दीख पड़ते हैं।

अंजना की आखों के आँसू न थम सके। बाईस वर्ष बाद आज फिर आयी है वह अपनी जन्म-भूमि में—पिता के द्वार पर शरण की भिखारिणी बनकर—कलंकिनी होकर! क्या वे देंगे प्रश्रय? और देगी प्रश्रय यह जन्म-भूमि? पर, प्रश्न को जैसे उसने दबा देना चाहा, और मन ही मन बार-बार केवल प्रणाम ही करती रही।

महेन्द्रपुर के सीमास्तम्भ के पास आकर रथ रुका। राह में उतर पड़ने की बात अंजना की कल्पना में भी नहीं आ सकी थी। क्योंकि सारथी का कर्तव्य वह जानती थी। और सास—माता के दिये दण्ड को जहाँ तक निभा सके निभा देने से भी उसे इनकार नहीं था। अंजना और वसन्त रथ से नीचे उतरीं।—धरती पर पैर जैसे अंजना के ठहर नहीं रहे हैं। थर-थर उसका सारा शरीर काँप रहा है, जैसे अभी गिर जायेगी। सड़क के एक ओर के वृक्ष-तले वसन्तमाला उसे सम्हाल-कर ले गयी। सारथी रथ से उतरकर बिदा माँगने आया।—मूक पशुवत् वह अंजना की ओर देख रहा था। आँखों में उसके आँसुओं की झड़ी लगी थी। दूर ही भूमि पर पड़कर उसने बार-बार प्रणाम किये। अपने कठोर कर्तव्य पालन के लिए क्षमा माँगने को शब्द उसके पास नहीं थे। घोर ग्लानि, अनुताप और करुणा से होंठ उसके खुले रह गये थे—और फटी आँखों के आँसुओं में उसकी मूक बेबसी बिलख रही थी।

अंजना बड़ी कठिनाई से अपने को ही सम्हाल पा रही थी। पर सारथी की उस सहज मानवीय संवेदना को देख वह अपना दुख भूल गयी। अक्रूर के भूमि पर पड़े सिर पर हाथ फेरकर बोली—

"भैया अक्रूर, तुम्हारा कोई दोष नहीं है।—जाओ अपने कर्तव्य का पालन करो! प्रभु तुम्हारे साथ हों—"

तीर के वेग से रथ आदित्यपुर जानेवाले मार्ग पर लौट रहा था।

[२४]

सामने ही पेड़ों की वीथि में होकर एक वन-पथ गया है। उससे कुछ ही दूर जाकर नीलपर्णा नदी मिलती है। उस नदी के एकान्त और शान्त तट पर एक तपोवन है। अभय, निरापद और पावन है वह भूमि। निर्ग्रन्थ, वीतराग तपस्वियों का वह विहारस्थल है। वात्सल्य का ही वहाँ साम्राज्य है। जीव मात्र को वहाँ प्रश्रय है, और सकल चराचर वहाँ निर्भय हैं। किसी से कोई पूछ-ताछ या रोक-टोक नहीं है। विधि-निषेध वहाँ नहीं हैं। प्रकृत जीवन की ओर जाने की साधना ही वहाँ मौन-मौन अनाहत चल रही है। इसी से वहाँ जीव मात्र का अपना शासन है। किसी का गुण-दोष या छिद्र देखने का वहाँ किसी को अवकाश नहीं है। केवल निर्वसन श्रमण, या भिक्षुणियाँ अतिथियों की तरह वहाँ आते-जाते हैं। कभी-कभी कोई विरल जिज्ञासु जन भी इधर आ निकलते हैं। मनुष्य-मनुष्य का वहाँ सहज मिलन है, बीच में सन्देह नहीं है, प्रश्न नहीं है। लोक-जनों का उधर विशेष आवागमन नहीं है।

वसन्त अंजना को उसी तपोवन के एक भिक्षुणी-आवास में ले गयी। आवास सूना पड़ा था, आश्रयार्थिनी वहाँ कोई न थी। बालकों-से नग्न साधुजन नदी के उस पार विचरते दीख पड़े। कोई योगी किसी शिलातल पर समाधि में मग्न है। तो कोई मुनि किसी दूर के टीले पर अचल खड़े कायोत्सर्ग में तल्लीन है। डूबते सूर्य की अन्तिम आभा में उनके मुख की तपःपूत श्री और भी दिव्य हो उठी है। देखकर अंजना भक्ति-भाव से गद्गद हो उठी है। रोयाँ-रोयाँ एक अकारण सुख के आसुओं से भर आया। युग-युग की बिछुड़न के बाद जैसे किसी परम आत्मीय का मिलन हुआ हो। नदी-तट पर जहाँ खड़ी थी, वहीं आँचल पसारकर अंजना साष्टांग प्रणिपात में नत हो गयी। एक गहरी आत्म-निष्ठा से वह भर उठी है—कि यहाँ है वह प्रश्रय जिसे कोई नहीं छीन सकेगा।

आवास के दालान में खूँटी पर एक मोर-पिच्छिका पड़ी है। वही लेकर वसन्त ने थोड़ी-सी जगह बुहार ली। ताक पर पड़े दो-एक डाभ के आसन जोड़कर बिछा दिये। उसपर अंजना को सुखासीन कर दिया। वहीं आले में

पड़ा एक कमण्डलु उठाकर वसन्त नदी-तट पर चली गयी। कमण्डलु में पड़े छन्ने से छानकर जल भर लायी। उसने और अंजना ने मुँह-हाथ धोकर जल पिया। भोजन का प्रश्न इस समय उनके निकट बहुत गौण हो गया है—सो उस ओर ध्यान ही नहीं गया है। अंजना जब स्वस्थ होकर बैठी थी, तभी वसन्त ने कहा—

"जाती हूँ, बहन, छोड़कर जाते जी टूट रहा है। पर और उपाय ही क्या है। लेकिन यहाँ कैसा भय? केवल मन का मोह ही तो है न।....प्रभु से बिनती करना अंजनी कि मनुष्य को वह विवेक दे; और मैं सफल होकर उसका प्रसाद लेकर लौटूँ।"

"प्रभु तुम्हारे साथ हैं, बहन—पर वे कहाँ नहीं हैं? घट-घट में वे बसे हैं। पर हमीं उन्हें पहचानने में चूक जायें तो क्या उनपर अविश्वास कर सकेंगे? मन में फ़िकर मत रखना, मैं यहाँ बहुत सुखी हूँ।....जाओ बहन....।"

और जैसे कुछ कहते-कहते अंजना रुक गयी। वाष्प-से कुछ धुँधली हो आयी, निगूढ़ आँखों से वह वसन्त की ओर देखती रह गयी....

"चुप क्यों रह गयी अंजन....?"

नदी की धारा की ओर देखती हुई अंजना धीरे से बोली—

"....कुछ नहीं, जीजी, यही कह रही थी कि स्नेह के वश होकर अधीर मत हो जाना। तुम मैं होकर, अंजना ही याचना का आँचल पसारकर, पिता के सम्मुख जा रही है—इसे भूल मत जाना, बहन! प्रहार आयें, तो उन्हें भी अपनी भिक्षा ही समझकर इस आँचल में समेट लाना। उनकी अवज्ञा मत होने देना। माँ-बाप की दी हुई वह मधुकरी जीवन के पथ में पाथेय ही बनेगी! रोष करने योग्य वह नहीं है...."

कहते-कहते वह एकाएक चुप रह गयी। फिर जैसे एक आँसू का घूँट-सा उतार गयी और बोली—

"....क्या इतना ही कहना काफ़ी न होगा, जीजी—कि अंजना कलंकिनी होकर श्वसुर-गृह से निकाल दी गयी है—क्या पिता के चरणों में उसे आश्रय है? अपना सतीत्व सिद्ध करने के लिए उस रात की कथा कहती फिरूँ, यह अब नहीं रुचता, जीजी! लगता है कि द्वार-द्वार पर जाकर उनका अपमान

कराती फिर रही हूँ ! उनके लिए मुझे किसकी साक्षी खोजनी होगी ? क्या ऐसे असमर्थ हैं वे कि उन्हें 'मेरे' होने के लिए प्रमाणों से सिद्ध होना पड़ेगा ? वे तो आप ही अपने को एक दिन प्रकट करेंगे।....चाहो तो भले ही इतना कह देना कि—मैं उन्हीं की हूँ—और उनके और मेरे बीच की बात जगत् जो जानता है—वही अन्तिम सच नहीं है....!"

कुछ देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"हाँ, तो जीजी, यही कह रही थी कि प्रश्रय और दया की भीख तो कलंकिनी अंजना को चाहिए। सती को उसकी ज़रूरत नहीं है। रक्षा की जरूरत तो पापिनी को ही है। यदि उसे शरण नहीं मिली, तो फिर उसे वंचित कर, सती बनकर भीख माँगने की बिडम्बना मुझसे नहीं होगी।—इतना ही ध्यान में रखना, जीजी, और कुछ न कहूँगी....।"

एकटक वसन्त अंजना के उस तेजो-दीप्त चेहरे को देखती रह गयी। फिर धीरे से बोली—

"भगवान् देख रहे हैं, तेरी बहन हो सकने योग्य होने का भरसक प्रयास करूँगी। आगे तो मेरी ही मति काम आयेगी। जल्दी ही लौटूँगी बहन।"

कहकर वसन्तमाला धीरे-धीरे चली गयी।

सामने नदी किनारे के झाउओं में अवसन्न सन्ध्या की छायाएँ घनी हो रही थीं। कहीं-कहीं नदी की सतह पर, मलिन स्वर्णाभा में वैभव बुझ रहा था। मानो पार्थिव ऐश्वर्य अपने गलित मान और नश्वरता का सकरुण आत्म-निवेदन कर रहा हो। कोई-कोई जल-पंछी विचित्र स्वर करते हुए जल पर छाया डालते निकल जाते। नहीं छोड़ा है कहीं उन्होंने अपना पद-चिह्न।

नदी के पार, सन्ध्या के शान्त आलोक में, स्थान-स्थान पर मुनि-जन कायोत्सर्ग में लीन हो गये हैं। फिर एक बार झुककर अंजना ने उन्हें प्रणिपात किया और आप भी अपने आसन पर ही सामायिक में मग्न हो गयी।

....आवेदन के वेदन से सारा प्राण गम्भीर हो गया। प्रतिक्रमण आरम्भ हुआ। आत्मालोचन की विनम्र वाणी भीतर नीरव गूँज उठी—

"ज्ञान में और अज्ञान में होनेवाले मेरे पापों का अन्त नहीं है। इसी से तो भव-सागर में ग़ोते खा रही हूँ। कितने ही जन्म यों निर्लक्ष्य भटकते बीत गये हैं।

बार-बार मैं प्रमाद और मोह के आँचल में अचेत हो जाती हूँ—संज्ञा खो बैठती हूँ। अपने सुख-दुख, जन्म-मरण की स्वामिनी मैं आप हूँ—पर मैं कहाँ हूँ, तुम ही तो हो ! तुम्हें नहीं देख पा रही हूँ, नहीं रख पा रही हूँ अपने पास। इसी से तो बार-बार ये सारी भूलें हो जाती हैं।

"...यही बल दो प्रभो कि अपने दुखों से अधीर होकर उनका दायित्व औरों पर न डालूँ। अपना ही कर्म-फल जान अपने ही एकान्त में धैर्यपूर्वक उसे सह लूँ। और सर्व के कल्याण और मंगल की भावना ही निरन्तर निभा सकूँ। वे जो इस दुख के निमित्त बने हैं, चाहे वे सास-माता हों, श्वसुर-पिता हों या और कोई हों, वे भी तो जड़ कर्म के ही वश ऐसा कर रहे हैं। वे उसके वाहक निमित्त मात्र हैं। क्या वे चाहकर ऐसा कर सकते हैं ? और मुझे दुख देकर वे आप भी क्या कम दुखी होंगे ? क्या आप ही कोई अपने जाने, अपने को दुख देना चाहेगा ? पर वे अज्ञान और लाचारी में ही यह सब कर रहे हैं। संसार-चक्र चलानेवाली दुर्धर्ष कर्म-शक्ति उनसे ऐसा करा रही है। इसमें उनका कोई दोष नहीं है। उनके प्रति कोई अभियोग या अनुयोग मन में न हो, क्रोध-रोष न हो, ग्लानि और घृणा भी न हो। कर सकूँ तो उन्हें प्रेम ही करूँ, ऐसा बल दो नाथ !—अंजनी को छोड़ गये हो तो जहाँ हो, वहीं से उसकी बात सोलहों आने रख लेना, इतनी ही विनती है। हर्ष-शोक, सुख-दुख, लाभ-अलाभ, मणि-तृण, महल-श्मशान, सबमें सम-भाव धारण कर सकूँ। भूत मात्र सब अपने बान्धव हैं—चारों ओर सब अपने ही तो हैं ! अरे क्या है पराया ? परायापन इसलिए है कि अपनाने की शक्ति जो अपने ही में नहीं है....!"

अंजना ने जब आँखें खोलीं तो रात पड़ चुकी थी। अँधेरा चारों ओर घना हो गया था। नदी का मन्द कल-कल और शून्य में झिल्लियों की झनकार ही सुनाई पड़ती थी। पेड़ अनेक भयानक आकृतियों में खड़े भविष्य की दुर्दृश्य छाया-लिपि लिख रहे थे।

उधर जब वसन्त महेन्द्रपुर में पहुँची तो सायाह्न निबिड़ हो रहा था। राज-प्रांगण में पिछले गुप्त रास्ते से प्रवेश पाने में उसे बड़ी कठिनाई पड़ी। उसे मालूम हुआ कि महाराज इस समय अपने निज महल के विहार-कानन में वायु-

सेवन को निकले हैं। समस्या और भी कठिन हो गयी। उसने पाया कि यहाँ अब वह निरी परदेशिनी ही हो गयी है। इधर कुछ ही वर्षों में यहाँ बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। सारा राज-परिकर ही अपरिचित-सा लगता है। बड़ी युक्तियों और कठिनाइयों से उसने अनेक राज-द्वार पार किये। तब मिल गया उसे एक बहुत पुरातन, परिचित और विश्वासु भृत्य। किसी तरह विहार-कानन में पहुँच ही तो गयी। मर्मर के पच्चीकारीवाले हंस-नौकाकार सिंहासन पर महाराज महेन्द्र विराजे हैं। एक ओर की ऊँची चौकी पर उनके प्रियतम सामन्त महोत्साह बैठे हैं। दूसरी ओर एक छोटे सिंहासन पर ज्येष्ठ राज-पुत्र प्रसन्नकीर्ति बैठे हैं। काँपते पैरों साहसपूर्वक वसन्त महाराज के सम्मुख जा उपस्थित हुई। देखकर तीनों जन आश्चर्य से स्तब्ध हो गये। असमय और बिना सूचना के, महाराज के सर्वथा निजी इस विहार में यह स्त्री कैसे प्रवेश पा गयी है? बात कुछ असाधारण है।

"आर्य जयघोष की पुत्री वसन्तमाला देव-चरणों में अभिवादन करती है!"

कहती हुई वसन्त सिंहासन के पाद-प्रान्त में प्रणत हो गयी। नाम सुनकर तीनों ने वसन्त को पहचाना। वसन्त माथा झुकाये, गले में आँचल डाले, नमित दृष्टि से खड़ी रह गयी। महाराज ने पूछा—

"कुशल तो है न शुभे! अंजनी का कुशल-संवाद कहो...।

वसन्त ने फिर सारा साहस बटोरकर कहा—

"प्रगल्भता क्षमा हो देव, अकेले में कुछ निवेदन किया चाहती हूँ!"

महाराज का संकेत पाकर कुमार प्रसन्नकीर्ति और सामन्त महोत्साह उठकर कुछ दूर निकल गये।—वसन्त पास जाकर पाद-पीठ के पास घुटनों के बल बैठ गयी। आँचल में गाँठ देते हुए और बार-बार क्षमा का आवेदन करते हुए उसने बात कहना आरम्भ किया—

"देव, समझो कि अंजनी ही आँचल पसारकर पिता के सम्मुख आयी है। चाहो तो अपनी पुत्री को अपने ही पैरों तले कुचल देना।—पर उसे निर्मम दुनिया की ठोकरों में मत फेंक देना—।"

कहकर उसने अधिक से अधिक संयत और अकपट भाव से अंजना का आत्म-विवेदन महाराज के सम्मुख रखा। जहाँ तक उससे बन सका अपने मन

की सारी रुलाई को दबाकर भी उसने अंजना की कठोर मर्यादा की रक्षा की।

महाराज ने सुना तो लगा कि निरभ्र आकाश से वज्र टूटा हो। संज्ञाशून्य होकर उन्होंने दोनों हाथों में मुँह डाल दिया। बड़ी देर तक ऐसे ही जड़वत् वे बैठे रह गये। भीतर-भीतर एक दुःसह ज्वालामुखी दहक रहा था। वे एकाएक भिंचते स्वर में फूट पड़े—

"हाय आकाश, फट पड़ो! पृथ्वी, विदीर्ण हो जाओ!—यह सुनने को एक क्षण भी मैं जी नहीं सकूँगा....नहीं....नहीं....नहीं देख सकूँगा....इन आँखों से.... नहीं सुन सकूँगा इन कानों से...."

कहते-कहते वे सिहर-सिहर आये। दोनों हाथों से कभी आँख मींचने लगे तो कभी कान मींचने लगे। कुछ देर रह कर फिर उत्तेजित रुदन के स्वर में बोले—

"आह, अंजन, दोनों कुलों को डुबा दिया तूने!....धिक्कार है मेरा वीर्य.... धिक्कार है यह मनुष्य-जन्म...मिथ्या है यह विक्रम और प्रताप,...धूल है यह वैभव और अभिमान..."

कहकर कपाल पर उन्होंने हाथ मार लिया। अपने ही आपमें धीरे-धीरे रुदन के स्वर में गुनगुनाये—

"सौ पुत्रों के बीच....एक प्राण-पालिता लाड़िली बेटी....! आह...अपने ही वीर्य ने भयंकर नागिन बन, छाती पर चढ़ कर....डस लिया....!"

कहते-कहते दोनों हाथों में जैसे वे अपने उन्नत वक्ष को मसोसने लगे। फिर बोले—

"....किस भव का वैर लिया है तूने?... बेटी बनकर ऐसा विश्वासघात किया?....इस बुढ़ापे में माँ-बाप को पत्थर की नाव पर फेंक दिया तूने। डूबकर किस नरक में स्थान मिलेगा....।"

....और लोक-निन्दा की तप्त शलाकाएँ जैसे राजा के समस्त शरीर में बिंधने लगीं।

"दूर हट निर्लज्जे, सामने से जा....! तुरत तुम दोनों जाकर कहीं डूब मरो!....मेरी पुत्री यदि है तो उसे कहना कि अपना कलंकित मुँह दुनिया को न दिखाती फिरे।....पर, आह, नहीं है वह मेरे उज्ज्वल कुल का वीर्य!

....अनार्या है वह....कोई प्रेतिनी कौतुक करने के लिए मेरे घर जन्मी है।

"....जा निर्लज्जे....परे हट ...अनर्थ न हो जाये....क्षत्रिय का शस्त्र स्त्रीघात का अपराधी न बन बैठे....नहीं तो तुम दोनों को....ओफ़्...."

कहते-कहते राजा सिंहासन की मसनद पर लुढ़क पड़े। वसन्त ने सत्य को प्रकट करने में कुछ भी उठा न रखा था। उसे लगा कि मनुष्य की वाणी में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। शायद अंजना की इच्छा से परे वह सभी कुछ कह गयी है। उसे स्वयं ही जो भान नहीं रहा था। पर राजा के पास वह सब कुछ सुनने के लिए कान नहीं थे। वसन्त चुपचाप वहाँ से, उठकर चली गयी। रास्ते में एक बार उसके जी में आया कि माँ का हृदय ही पुत्री की इस बेबसी को समझ सकेगा। क्यों न वह राजमाता के पास जाये। पर उसने सोचा कि माँ का हृदय तो अपराधिनी बेटी के लिए भी पसीजेगा ही, पर उसका क्या बस है ? पुरुष-शासन के पाषाणी-कपाट जो उस हृदय पर लगे हैं—राजा का जो रूप उसने देखा है—उसके आगे माँ क्या बोल सकेगी ? साथ ही उसे यह भी लगा कि यह सब करके शायद वह अंजना के साथ विश्वासघात भी कर रही है। शायद परोक्ष में उसका अपमान कराती फिर रही है। रथ में जिस अंजना को बात करते उसने सुना था—उसे ऐसी दयनीय बना देना उसे सह्य नहीं है।

कुछ ही देर में सामन्त महोत्साह और कुमार प्रसन्नकीर्ति ने आकर पाया कि राजा सिंहासन की पीठिका पर अर्ध-मूच्छित-से पड़े हैं। आँखों से उनके आँसू बह रहे हैं। पहले तो दोनों जन विस्मय से स्तब्ध हो रहे। फिर महोत्साह अपने उत्तरीय से हवा कर राजा को चेत में लाये। राजा को इन दोनों से कोई दुराव नहीं था। संक्षेप में उन्होंने वृत्त कहा। साथ ही उसपर अपना कठोर निर्णय सुनाकर वे चुप हो गये।

कुमार प्रसन्नकीर्ति का मन सुनकर हाय-हाय कर उठा। पिता का वज्र-कठोर निर्णय सुनते-सुनते उनके जी में आया कि वे उनका मुँह बन्द कर दें—पर राजा की वह भीषण मूर्ति देखकर उनकी हिम्मत न हुई। भीतर-भीतर उनका जी बहुत टूटा कि वे बहन का पक्ष-प्रतिपादन करें—पर क्या है आधार ? और वस्तु-स्थिति जैसे थी उसमें कौन-सी विषमता सम्भव नहीं थी ? पर महोत्साह से न रहा गया। वे साहस बटोरकर बोले—

"राजन्, आदित्यपुर की रानी केतुमती की दुष्टता तो जगत्-प्रसिद्ध है। वह अधर्मिणी है—और नास्तिक-सूत्र पर चलनेवाली वह लोक में विख्यात है। स्वभाव की वह बहुत ही कर्कशा है। पर अंजना के त्याग और तपस्या के जीवन की कथा तो लोक में प्रसिद्ध है। उसे लोग कहते हैं सती! देवी वसन्तमाला से बात का ठीक-ठीक पता लगाना चाहिए। नहीं तो उतावली में अनर्थ हो जायेगा। आप-से धीर-धुरन्धर वीर का ऐसे मामलों में अधीर होना उचित नहीं—। देव, अन्याय न हो—"

"नहीं महोत्साह, सब खतम हो चुका, सुनने को अब कुछ नहीं रहा है। वसन्तमाला ने कहने में कुछ भी बाक़ी नहीं रखा है। बालपन से वे दोनों अभिन्न रही हैं, फिर वसन्त सत्य को कैसे प्रकट करेगी? कितनी बार अंजना को हम सब लिवा लाने गये—पर अकारण ही वह मुकर गयी—। अवश्य ही कोई खोट उसके मन में थी। और फिर सती का सत् छुपा नहीं रहता है। सती होती तो सास-ससुर को ही न जीत लेती! वे ही क्यों उसे निकालते?—पाप चाहे सन्तान का ही रूप लेकर क्यों न आये, वह त्याज्य ही है, महोत्साह! फिर लोक-मर्यादा को यदि राजा ही तोड़ेगा, तो कौन उसकी रक्षा करेगा? लोक से बड़ा कौन है? रक्षक के चोले में यदि भक्षक बन जाऊँगा, तो जन्म-जन्म नरक पाऊँगा। जाओ मेरे अभागे बेटे, उस पापिन से जाकर कहो कि वह जीवित रहकर दोनों कुलों को लोक में लजाती न फिरे—!"

...कुछ दूर के रास्तों में घूम-फिरकर फिर वसन्त कहीं झाड़ों की आड़ में आ खड़ी हुई थी। उसने यह सारा वार्तालाप सुन लिया। उसे लगा कि पैरों के नीचे की पृथ्वी धँसी जा रही है। सामने का यह सारा अवकाश ही लीलने को चला आ रहा है।—झूठा है संसार, झूठी है उसकी ममता-माया और प्रीति। झूठे हैं माँ-बाप, पुत्र और पति, कुटुम्ब और आत्मीय। सब स्वार्थ के सगे और साथी हैं। दुख के समय नहीं है कोई रखनेवाला। आप ही अपने को नहीं रख पाता है यह जीव, तो फिर दूसरा कौन इसे रख सकेगा? अपने घर जाने की इच्छा भी वसन्त की नहीं हुई। आप वे अपनी रक्षा करेंगे। और कौन जानेगा कि अभागिनी मैं कहाँ गयी हूँ?

चिन्तातुर और क्षुब्ध हृदय से भागती हुई वसन्त सीधी भिक्षुणी-आवास को

लौट आयी। पाया कि अंजना डाभ की शय्या पर चुपचाप सोयी पड़ी है। शायद उसे नींद लग गयी है। चुप-चाप पास बैठकर, किसी तरह दो पहर रात बिता देने का संकल्प वह करने लगी। इतने ही में जैसे कोई तीव्र पीड़ा हो रही है, ऐसी कसमसाहट से अंजना पसली दबाकर तड़प उठी। हलकी-सी आह उसके मुँह से निकल गयी।

"अंजन !—नींद आ रही है ?"

पीड़ित स्वर को दबाती हुई अंजना बोली—

"ओह जीजी, कब आ गयीं—? बोली क्यों नहीं—मैं तो जाग ही रही थी।"

"तकलीफ़ हो रही है, अंजन ?"

जवाब नहीं आया। फिर धीरे से केवल इतना ही कहा—

"कुछ नहीं जीजी,...यों ही...."

कहते-कहते वह आवाज़ फिर आहत हो गयी। उसकी बढ़ती हुई छटपटाहट वसन्त से छुप न सकी।

"अंजनी, मुझसे छिपाकर किससे कहेगी ? क्या समझ नहीं रही हूँ—उस दुष्टा ने गर्भ के अभ्र पर ही आघात जो किया था।"

"जीजी, न याद करो, बिसार दो—जीजी, तुम्हें मेरी सौगन्ध है।"

कहते-कहते अपने हाथ से अंजना ने वसन्त का मुँह बन्द कर देना चाहा। पीड़ा शान्त होने पर, कुछ देर बाद अंजना ने पूछा—

"अपनी अंजनी का भाग्य परख आयी, जीजी ?—चुप क्यों हो—बोल न ?"

मर्म चीर देनेवाली उस कण्ठ की ज्वलन्त वाणी में हँसी की रणकार थी।

वसन्त अपनी रुलाई न रोक सकी। फटती छाती से सिसकियाँ भरती हुई वह आँसू पोंछने लगी। टूटते हुए स्वर में वह बोली—

"....जा आयी बहन,—नहीं मानी तेरी बात !—मेरा भी तो पूर्व भव का वैर तुझपर था, सो वसूल करने गयी थी। तेरा अपमान कराकर ही तुष्ट हो सकी हूँ मैं—! मनुष्य के चोले में धरती पर दानव ही बस रहे हैं, बहन,—मनुष्य पर रहा-सहा जो विश्वास था वह खतम कर आयी।—पिता नहीं हैं वे, राक्षस हैं....असुर....नराधम ! क्षात्र-धर्म का पाखण्ड करके असत्य से लड़ने में वे

मुँह छुपाते हैं। वे करेंगे आसुरी शक्तियों से मानव का त्राण ... ?"

उत्तेजित होकर वसन्त बोलती ही गयी। पहले तो अंजना चुपचाप सब सुनती रही, फिर गम्भीर अनुनय के स्वर में बोली—

"बस....बस...बस करो जीजी, मिथ्या से जूझकर अपनी आत्म-हानि न करो। अज्ञानियों से तो सहानुभूति ही हो सकती है—भव की उसी रात्रि में हम सभी तो भटक रहे हैं।"

पर वसन्त से आवेश में रहा न गया। सब सुनाकर ही तो उसे चैन था। राजा का एक-एक शब्द उसने दुहरा दिया।

सुनते-सुनते अंजना जाने कब मृतवत् हो रही। वसन्त ने देखा, उसे मूर्च्छा आ गयी है। अपने क्रोधावेश और अपनी भूल पर वह अनुताप से विकल हो गयी। आह, वह पहले ही पीड़ित थी, और ऊपर से उसने आकर ये अंगार चढ़ाये दुखिनी के मर्म पर—? पानी छिड़ककर वह अंजना को होश में लाने का प्रयत्न करने लगी। बड़ी देर बाद अंजना को चेत आया—

वसन्त की गोद में मुंह ढक कर केवल इतना ही निकला उसके मुँह से अस्फुट, पर ज्वलन्त—

"....नहीं जीजी...नहीं मर सकूँगी....पिता की आज्ञा लाँघने को विवश हूँ... जीवन और मरण के स्वामी वे आप हैं... वे ही जानें! मैं कुछ नहीं जानती।.... और यह जो आ रहा है...?"

कहते-कहते फिर वह एक मार्मिक पीड़ा से कसमसा उठी। भीतर अनिवार जीवन का महास्रोत जैसे सारी बाधाओं की पर्वत-कारा को तोड़ने के लिए छटपटा रहा था....

[२५]

अंजना के सो जाने पर बड़ी रात तक वसन्त की आँखों में नींद नहीं थी। अनेक चिन्ताओं और विकल्पों से मन उसका अशान्त था। क्षुब्ध और बेचैन वह करवटें बदल रही थी। जो होना था वह तो सब हो लिया, पर अब कहाँ जाना होगा, क्या करना होगा? क्या है अब भाग्य का विधान? गर्भ के भार से

पीड़ित, घायल, चारों ओर से त्यक्ता और अपमानिता सोयी है यह भोली लड़की। दुख को इसने सम्मुख होकर अंगीकार किया है। उसकी क्या सामर्थ्य है जो इसपर दया करे, इसके भाग्य पर आँसू बहाये। फिर भी चिन्ताओं का पार नहीं है, राह असूझ है। अशन भी नहीं है, वसन भी नहीं है। दोनों के शरीर पर केवल एक-एक दुकूल पड़ा है। रत्नों के महल में रहनेवाली युवराज्ञी के शरीर पर रत्न तो दूर, धातु का एक तार भी नहीं है। पानी पीने को पास में पात्र तक नहीं है। कल सवेरे से दोनों के पेट में अन्न का एक दाना भी नहीं पड़ा है। और तिस पर यह गर्भिणी है।—पर रुकना नहीं है, चले ही जाना है अदृष्ट के मार्ग पर। अदय, स्वार्थी मनुष्यों की, जगती से दूर, बहुत दूर।

सवेरे ब्राह्म-मुहूर्त में दोनों बहनें उठीं। नदी-तीर पर जाकर शुचि-स्नान किया। पास ही पेड़ों तले, नित्य-नियमानुसार सामायिक में प्रवृत्त हुईं। अंजना ने देखा कि पथ की रेखा अन्तर में प्रकाशित हो उठी है। दुविधा का कोई कारण नहीं है।

उठने पर बोली वसन्त—

"कहाँ जाना होगा अब ?"

तपाक से उत्तर आया—

"वन की राह पर, जहाँ सबका अपना राज्य है। जीवन वहाँ नग्न और निर्बाध है। सभी कुछ सहज प्रवाही है। प्रभुत्व का मद वहाँ नहीं है। छिपाव-दुराव वहाँ नहीं है, इसी से पाप भी नहीं है। माना कि हिंसा और संघर्ष जीवों में वहाँ भी है। पर वह पाप अकपट और खुला है। आदर्शों के आवरणों में ढकी रोज-रोज की पराधीन मृत्यु से, खुलकर सामने आनेवाली वह अकपट मौत सुन्दर है! सब कुछ सरल, खुला और अपना है जहाँ—वहीं होगा अपना वास, बहन—!"

"पर नारी का चोला पाकर हम इतनी स्वतन्त्र और निरापद कहाँ हैं, बहन ?"

"भूलती हो जीजी, कोमल हैं इसी से इतनी निर्बल हम नहीं हैं। सबल पुरुष-से गर्विष्ठ विधान को हम सदा से झेलती आयी हैं—अपने धर्म का पालन करने के लिए। पर दुर्बल संस्कार बनकर यदि वही कोमलता हमारे आत्म-धर्म

का घात कर रही हैं, तो वह भी त्याज्य ही है। माना कि कोमलता स्त्री का अस्तित्वगत धर्म भी है। पर अन्ततः आत्मा के मार्ग में स्त्रीत्व से भी परे जाना है। योनि तो भेदना ही है। और ठीक वैसे ही क्या पुरुष को भी अपनी पुरुषता से उपरत नहीं होना है? दोनों ही को इष्ट है वही आत्मा की अव्याबाध कोमलता! और देह भी क्या अन्तिम सत्य है? उससे भी तो एक दिन उत्तीर्ण होना ही है। फिर उसकी बाधा कैसी? कोमलता पुरुष को जितनी चाहिए हमसे ले, पर वही हमारी बेड़ी नहीं बन सकती। पुरुष का दिया संस्कार तो क्या, मुक्ति के मार्ग में, स्वयं पुरुष भी यदि हमारी बाधा बनकर आये तो वह त्याज्य ही है—"

"पर अपनी रक्षा करने में हम असमर्थ जो हैं, अंजन!"

"यह वही संस्कार की दुर्बलता तो है, जीजी। यह निसर्ग सत्य नहीं है। इसी विवशता को जीतना है। रक्षा कोई किसी की नहीं कर सकता। हम आप अपने रक्षक हैं। अपने ही सत्य का बल अपना रक्षा-कवच है।—रक्षकों की छत्र-छाया में तो अब तक थीं ही। बड़ा भरोसा था उनका। पर वहाँ से भी तो ठेलकर निकाल दी गयीं। और कहो कि शील की रक्षा, तो शील तो आत्मा का धन है; मृत शरीर का कोई जो चाहे करे! इस आत्म-धन की रक्षा के लिए जो सचमुच चैतन्य है, देह के विसर्जन में उसे संकोच या भय क्यों होगा?—तब शील बचाना है किसके लिए? अपने ही लिए तो। पुरुष की सती-पतिव्रता सिद्ध होने के लिए नहीं! उसके लिए बचाकर रखा, तब भी क्या सदा उसने हम पर विश्वास किया है? उस मिथ्या मरीचिका के पीछे दौड़ने से अब लाभ नहीं है, बहन।—वह सब छूट गया है पीछे—"

"पर हम दोनों अकेली ही तो नहीं हैं, अंजनी, गर्भ में जो जीव आया है, उसकी रक्षा का उपाय भी तो सोचना ही होगा।"

अंजना के उस तेज-तप्त चेहरे में हँसी की एक कोमल रेखा दौड़ गयी। पर उसी प्रखरता से उसने उत्तर दिया—

"अपना विधान वह अपने साथ लाया है, बहन! वह आप अपनी रक्षा करने में समर्थ है।—नहीं है समर्थ तो उसका नष्ट हो जाना ही इष्ट है।—किसी का जिलाया वह नहीं जियेगा और किसी का मारा वह नहीं मरेगा। मेरे दुर्भाग्यों से

वह परे है। जीवन की उस महासत्ता का अनादर मुझसे नहीं होगा जीजी !—चलो देर करना इष्ट नहीं है। दिन उगने से पहले इस नगर की सीमा को छोड़ देना है।"

वसन्त ने सोच लिया कि इस लड़की से निस्तार नहीं है। उसने निश्चय किया कि राह में वह अंजना को राज़ी कर लेगी, और यदि सम्भव हुआ तो वे किसी दूर विदेश के ग्राम में जा बसेंगी। मनुष्य के द्वार पर अब वे भीख नहीं माँगेंगी। अपने ही श्रम से कुछ उपार्जन कर लेंगी। सुखपूर्वक प्रसव हो जाने पर, आगे की बात आगे देखी जायेगी। और सच ही तो कहती है अंजन, जो आया है वह भी अपना भाग्य लेकर आया है, उसके पुण्य पर हम सन्देह क्यों करें?

गर्भ के भार से देह पीड़ित है। राज-भोगों पर पला शरीर निराहार और निरवलम्ब है। राह अनिश्चित है और भविष्य धुँधला है। अंजना को चलने में कष्ट हो रहा है, पर पैर एक निश्चय के साथ आगे बढ़े जा रहे हैं। वसन्त का हाथ उसके कन्धे पर है। दोनों मनों के तार जैसे एक ही सुर में बँधे हैं। एक ही संगीत की लय पर सधी वे चली जा रही हैं। बोल का अन्तर भी इस क्षण उनके बीच नहीं है। रह-रहकर दोनों की दृष्टि सामने के शुक्र-तारे में अटक जाती है।

धीरे-धीरे दिशाएँ उजली होने लगीं, आस-पास का समस्त लोक—चराचर प्रकाशित हो गया। सुदूर पूर्व छोर पर एक ताड़ की वनाली के ऊपर ऊषा की गुलाबी आभा फूट उठी। वसन्त ने देखा कि अंजना के क्लान्त मुख की श्री में एक अद्‌भुत नवीनता का निखार है। उस चेहरे का भाव निर्विकार और अगम्य है। विरक्ति नहीं है, निर्ममता नहीं है। पर ममता और कोमलता भी तो नहीं है। विषाद मानो स्वयं ही मुसकरा उठा है। फिर भी उन होंठों में कहाँ है राग-अनुराग की रेखा?

विशाल स्वर्ण किरीट-सा सूर्य एक पुरातन और घने जटाजालवाले, बृहदाकार वट-वृक्ष के ऊपर से उग रहा था। नीचे उसके हरे-भरे झाड़ों के बीच से, गाँव के उजले, पुते हुए, स्वच्छ घर चमक रहे थे।

पक्की सड़क जाने कहाँ छूट गयी थी। जाने कब वे चलती-चलती कच्चे रास्तों पर आ निकली थीं। आस-पास दूर-दूर तक फैले हरियाले खेत सवेरे की ताज़ी और शीतल वायु में लहक रहे थे। उनकी नोकों के बीच यह अपार

आकाश मानो छोटा-सा कुतूहली बालक बनकर आँख-मिचौनी खेल रहा है। हरियाली की इस चंचल आभा में उसकी अचल नीलिमा जैसे लहरा रही है। दूर-दूर छिटकी स्निग्ध-छाया अमराइयों और विपुल वृक्ष-यूथों में विश्राम का आमन्त्रण है। खेतों के बीच की विशाल वापिकाओं पर बैल चरस खींच रहे हैं। बावड़ी की मेहराब से कोई-कोई रमणियाँ और ग्राम-कन्याएँ पानी की गागर भरकर निकलती हैं, और खेत के किनारे-किनारे ग्राम की ओर बढ़ रही हैं।

धूप काफ़ी चढ़ आयी है। चलते-चलते वसन्त के पैर लड़खड़ाने लगे। साँस उसकी भर आयी है। पर रुक जाने की और विराम की बात उसके होंठों पर नहीं आ पाती है। उसने अंजना की फूलती हुई साँस को अनुभव किया। धूप से चेहरा उसका तमतमा आया है—और सारा शरीर पसीने से लथ-पथ हो गया है। अंजना बेसुध-सी चली ही चल रही है। चलते-चलते एकाएक उसने अपना मुँह वसन्त के कन्धे पर डाल दिया। आँखें उसकी मिच गयीं। साँस उसकी और भी ज़ोर-ज़ोर से उत्तप्त होकर चलने लगी। पैरों में आँटियाँ पड़ने लगीं। वसन्त ने देखा कि उसके सारे अंग ढीले और निश्चेष्ट पड़ गये हैं—उसका समूचा भार उसी के ऊपर आ पड़ा है। वह सावधान हो गयी। एक खेत के किनारे की घास में ले जाकर उसने अंजना को अपनी गोद पर लिटा लिया और आँचल से हवा करने लगी। श्वास के प्रबल वेग से अंजना का वह विपुल वक्ष मानो टूटा पड़ रहा है। और भीतर की किसी अनिवार यन्त्रणा के त्रास से सारा चेहरा देखते-देखते विवर्ण हो उठा। बढ़ती हुई बेचैनी को दबाने के लिए, अपने ही तनते हुए अंगों को अपने भीतर सिकोड़ती हुई वह गाँठ हुई जा रही है। वसन्त के होश-हवास गुम हो गये। ज़बान तालू से चिपक गयी। चारों ओर जन हैं, जीवन है, फिर क्यों हैं वे इतनी जनहीन और असहाय? मनुष्य मात्र से ऐसी विरक्ति क्यों? क्या जीवन से रूठकर जिया जा सकेगा? वसन्त के मन में ऐसे ही प्रश्न चिकोटी काट रहे थे।—पर उसे वहाँ अकेली छोड़कर वह कैसे जाये और कहाँ जाये? इस अपरिचय के देश में किसे पुकारे? अंजना को एक-दो बार हिला-डुलाकर पुकारा, पर कोई उत्तर उसने नहीं दिया। केवल एक बार समाधान का हाथ उठाकर फिर धरती पर डाल दिया।

तब तो वसन्त का धैर्य टूट गया। अंजना के संकेत को वह ठीक-ठीक समझी

नहीं। अशुभ की आशंका से वह थर्रा उठी। रह-रहकर कल का वह महादेवी का पदाघात उसकी छाती में भाले-सा कसक उठता है। उसने सोचा कि कुछ उपाय तुरत ही करना चाहिए, नहीं तो देर हो जायेगी। और कुछ नहीं सूझा, तो अंजना को गोद से सरकाकर धरती पर लिटा दिया, और आप उठकर बेतहाशा दौड़ती हुई खेत के उस मोड़ तक चली गयी। वहाँ से जो पगडण्डी गयी है—उसी पर एक बेलों से छाया झोंपड़ा उसे दीखा। पास ही एक खुली बावड़ी में पानी चमक रहा है। और उसी से लगा एक घनी छायावाला फलों का बाग़ है। वैसी ही झपटती हुई वसन्त वापस आयी। अंजना चुप होकर औंधी पड़ी थी। वसन्त ने बहुत सावधानी से धीरे से उठाकर उसे कन्धे पर लिया और बड़ी कठिनाई से किसी तरह उस बाग़ तक ले आयी। किनारे ही बावड़ी की सीढ़ियों तक छाया हुआ अँगूरों का एक लता-मण्डप था। उसी की छाया में लाकर उसने अंजना को लिटा दिया। श्वेत पत्थर की पक्की बावड़ी, विशद, स्वच्छ और चारों तरफ़ से खुली है। किनारे से कुछ ही नीचे तक निर्मल जल उसमें लहरा रहा है। हाथ डुबाकर ही पानी लिया जा सकता है। चारों ओर स्निग्ध शिलाओं के पक्के किनारे बँधे हैं—और बाग़ की तरफ़ सीढ़ियाँ बनी हैं। एक किनारे केलों का वन-सा झुक आया है और दूसरी ओर इक्षु का खेत आ लगा है। वसन्त ने कुछ केले के पत्ते और अंगूरों की लताएँ बिछाकर उनपर हलका-सा पानी छिड़क दिया, और अंजना को उसपर लिटाकर एक केले के पत्ते से हवा करने लगी।

एकमन से वसन्त इष्टदेव का स्मरण कर रही है। उसके देखते-देखते अंजना के मुख पर उद्विग्नता के बजाय एक गहरी शान्ति फैल गयी। थोड़ी देर वह चुपचाप लेटी रही, जैसे नींद आ गयी है। एकाएक उसने आँखें खोलीं। देखा कि हरियाली का वितान है। चारों ओर एक निगाह उसने देख लिया। फल-भार से नम्र बाग़ की घनी और शीतल छाया में दूर-दूर तक वृक्षों के तनों की सरणियाँ हैं। पत्तों में कहीं-कहीं हरियाला प्रकाश छन रहा है। सन्धों में से आयी हुई धूप के कोमल धब्बे कहीं-कहीं बिखरे हैं। जैसे इस कोमल सोनहली लिपि में कोई आशा का सन्देश लिख रहा है। बाहर की तरफ़, सामने दीखा—शाखाओं और सूखे पत्तों से बना एक सुन्दर झोंपड़ा है। उसपर पीले और जामुनी फूलोंवाली शाक-सब्जियों की बेलें आयी हैं। आस-पास सब्जियों की क्यारियाँ

हैं। उनके किनारे पपीते के झाड़ों की क़तारें खड़ी हैं। झोंपड़े की एक बग़ल में चारों ओर खुली छाजन के तले एक गौशाला है। उसमें दो-एक विशाल डील-डौल की पुष्ट सफ़ेद गायें बैठी जुगाली कर रही हैं। पास ही खड़ा एक नवजात बछड़ा उनींदी आँखों से एकटक अपनी जनेता की ओर देख रहा है। झोंपड़े का आँगन निर्जन है, द्वार बन्द है। जान पड़ता है, वहाँ कोई नहीं है। गौशाले की छाजन और झोंपड़े के बीच की आड़ में एक ग्रामीण रथ की पीठ दीख रही है। ऊपर उसके पीतल का गुम्बद है—और पीठिका में तने हुए रंग-बिरंगे चित्रोंवाले, ऋतुजर्जर पाल की झलक दीख रही है। उसके पास ही छायाबानवाली एक गाड़ी खुली पड़ी है।

अंजना ने पाया कि यह मनुष्य का घर है। आस-पास यहाँ सुरक्षा है, गार्हस्थ्य है। सुख-सुविधा और विश्राम का प्रबन्ध है। यहाँ अन्न है, फल-फूल हैं, दूध है—और स्नेह से स्निग्ध जीवन-रस चारों ओर बिखरा है। पर अतिरिक्त और अनावश्यक यहाँ कुछ नहीं है। अभिमान और दिखावे का आडम्बर नहीं है। प्रकृति के हृदय से सटा हुआ ही जीवन का एक सहज, सुषम और सुखमय विरामस्थल है। पर जिस घर वह अतिथि बनकर अनायास चली आयी है, उसका द्वार बन्द है। अभ्यर्थना करने के लिए कोई गृह-स्वामी वहाँ नहीं है। वह समझ गयी थी कि आपत्ति की घड़ी में निरुपाय वसन्त उसे यहाँ ले आयी है।—फिर भी जैसे वह अपने को यहाँ ठहरने की अधिकारी नहीं पाती। सप्रश्न आँखों से उसने सामने बैठी वसन्त को देखा। वसन्त की उस मुरझायी मुख-मुद्रा में अभी भी गहरी परेशानी और चिन्तातुरता साफ़ झलक रही है। फिर भी अपने दुखभरे चेहरे पर सायास एक मुसकराहट लाकर वसन्त ने पूछा—

"अब जी कैसा है, अंजन ?"

"अच्छी हूँ बहन, अपना सारा दुख तो तुम्हें सौंप दिया है, अब मुझे क्या होने को है....?"

कहते-कहते अंजना मुसकरा आयी।

"अभी भी मुझे इतनी परायी समझती है, अंजनी, तो तू जान।—पर तुझसे विलग होकर अब मेरी गति नहीं है। नहीं जानती हूँ कि कैसे वह तुझे समझा सकती हूँ। मेरी उतनी बुद्धि नहीं है।"

कहकर एक गहरी निःश्वास छोड़ती हुई वसन्त दूसरी ओर देखने लगी। अंजना बोली कुछ नहीं—चुपचाप एकटक उस वसन्त को करुण आँखों से देखती रही। वसन्त से रहा न गया। पास सरककर उसने अंजना का माथा अपनी गोद पर ले लिया और बोली—

"अंजनी, इतनी निर्मम न बन। कुछ तो दया कर अपनी इस अभागिनी जीजी पर!—मेरे जी की शपथ है, मुझसे सच-सच बता दे—क्या कल उस दुष्टा के पदाघात से तुझे चोट लगी है? मुझी से छिपायेगी तो मैं बहुत असहाय हो जाऊँगी। तब तो मेरे दुख का अन्त ही नहीं है। मैं अकेली किसे जाकर अपनी पुकार सुनाऊँगी?"

"व्याकुल न होओ जीजी, पत्थर और मिट्टी की हो गयी हूँ....चोट जैसे अब लगती ही नहीं है—"

"पर अभी जो चेहरा मैंने देखा है, उसका त्रास तो मुझसे छुपा नहीं है—"

अंजना का मुख फिर म्लान हो आया। वह एकटक बाहर के आकाश को देखती रह गयी। कुछ देर रहकर एक मर्माहत स्वर में वह बोली—

"हत्यारी हो उठी हूँ, जीजी!....युग-युग की वेदना से सन्तप्त वे मेरे पास आये थे। सुख और शान्ति की उन्हें खोज थी। युद्ध से उन्हें ग्लानि हो गयी थी। चिर दिन की वंचना से वे सन्त्रस्त थे। कौन जाने सुख दे सकी या नहीं, पर मैंने उन्हें धक्का दे दिया। जाने किस अगम्य भयानकता के मुँह में मैंने उन्हें ढकेल दिया।—उसी क्षण समझ गयी थी कि मृत्यु से भी जूझने में अब ये हिचकेंगे नहीं। केवल मेरे ही कहने से, मेरे ही लिए गये हैं वे मृत्यु से लड़ने—! अपने लिए अब किसी भी विजय की कामना उनके मन में शेष नहीं रही थी। अपनी ही हार को उन्होंने सिर झुकाकर, जयमाला की तरह स्वीकार कर लिया। और उस दिन उन्होंने अपने को धन्य माना। अपनी सारी महत्ताओं को चूर करके, वे केवल अपनी आत्म-वेदना लेकर मेरे पास आये थे।

"...पर उनकी हार मुझे सहन न हो सकी! तब मुझमें गौरव का लोभ जागा। उनके पुरुषत्व के अभिमान और विजय के अनुराग से मैं भर उठी। मैं गर्विणी हो उठी। एक तरह से मैंने ही उन्हें यह कहा कि—'विजेता होकर आओ—!' वे हँसते-हँसते उस पथ पर चले गये। विजय की माँग भी उनसे मेरी

छोटी नहीं थी। मन ही मन शायद यही तो कह रही थी—'अजात-शत्रु जेता बनकर लौटो!' उस क्षण तो मैं अपनी ही आत्म-गरिमा के सुख में बेसुध थी—

"पर ओह जीजी, आज कल्पना कर सकी हूँ, चारों ओर तने हुए असंख्य शत्रुओं के तीरों के बीच मैंने उन्हें ढकेल दिया है—। पर लौटकर न देखनेवाले वे, उनके बीच खेलकर भी, मेरी कामना की विजय पाये बिना नहीं लौटेंगे। और उनकी बात सोचे बिना ही, जाने किस सत्य के आग्रह से, मैं अपने ही मार्ग पर चल पड़ी हूँ?—मेरी साध की पूर्ति लेकर, जब वे किसी दिन आशा-भरे लौटेंगे....और मुझे न पायेंगे...तब....? तब उन पर क्या बीतेगी, जीजी....?"

कहती-कहती वह वसन्त की गोद में बिलख पड़ी। वसन्त निःशब्द उसे अपने पेट और वक्ष से दबाये ले रही थी। इस ऐसी विषम वेदना के लिए, वह क्या कहकर सान्त्वना दे, जिसे वह स्वयं नहीं समझ पा रही है। वह तो केवल उस दुख की निष्काम सहभोगिनी है। फिर अंजना धीरे से रुलाई-भरे कण्ठ से ही बोली—

"पर हाय, उनके वीरत्व और पुरुषत्व की ही अवमानना कर रही हूँ। क्यों उठी है मन में यह शंका—कि अपनी ही राह पर स्वच्छन्द चल पड़ी हूँ? कहाँ है उनसे अलग मेरा रास्ता? उन्हीं की खींची रेखा पर तो चली जा रही हूँ, बहन! अपने ही ममत्व से घिर जाती हूँ, इसी से रह-रहकर मन भ्रम में पड़ जाता है। तब उनके प्यार पर अनजाने ही अविश्वास कर बैठती हूँ। क्षुद्रता और अज्ञान तो मेरा ही है न। इसी से तो पाकर भी उन्हें नहीं रख सकी।—पर मर भी जाऊँगी, तो जिस राह यह मिट्टी पड़ेगी, उसी से होकर वे आयेंगे, इसमें रंच भी सन्देह नहीं है!...."

कहते-कहते अंजना का वह आँसुओं से धुला हुआ चेहरा एक अमन्द दीप्ति और जागृति से भर उठा। वह बैठ गयी और अपने दोनों हाथों में वसन्त के दुखी चेहरे को दबाकर बोली—

"दुखी न होओ जीजी, मेरी छोटी-छोटी मूर्खताओं पर तुम्हीं यों घबड़ा जाओगी, तो कैसे बनेगा?"

"यह तो तेरी पल-पल की वेदना है, अंजन। इसे समझ सकूँ, ऐसी शक्ति मुझमें कहाँ है? पर उस हत्यारी ने जो मर्मान्तिक आघात किया है, उसी की

पीड़ा से अभी तुझे मूर्च्छा आ गयी थी—यह बात मुझ से क्यों कर छिप सकेगी ?"

"—वह तो ठीक-ठीक मैं भी नहीं समझ पा रही हूँ, जीजी।—क्या तुम उस विगत को भूल नहीं सकती....? संसार के पास आघात के अतिरिक्त और देने को है ही क्या ? और उसके प्रति कृतज्ञ होने के सिवा हम और कर ही क्या सकते हैं ? चोटें आती हैं कि हम चिन्मय हैं—गतिमय हैं ! अमरत्व का परिचय उसी में छुपा है। नहीं तो जीवन की धारा ही जड़ित हो जायेगी।—मन से उस वृथा शंका और सन्ताप को दूर कर दो, जीजी।"

"पर गर्भ का जीव तेरा वैरी तो नहीं है अंजन। अपने ऊपर चाहे तुझे करुणा न हो, पर क्या उसके प्रति भी ऐसी निर्दय हो जायेगी ?"

"उनके दान पर दया करनेवाली मैं होती कौन हूँ, बहन ? और उसे इतना बलहीन मानने का भी मुझे क्या अधिकार है ?—प्रहार पर चलकर यदि उसे आना भाया है, तो उसे अमरत्व ही क्यों न मानूँ—मृतत्व की बात क्यों सोचूँ ? मेरी ही छाती में लात मारता वह आ रहा है, उसकी रक्षा क्या मेरे बस की है....?"

तभी सामने उन्हें दीखा कि झोंपड़े का दरवाज़ा खुला है। एक सब्ज़ी की क्यारी की आड़ में दो कृषक-कन्याएँ दुबकी बैठी हैं। हिरनी-सी आयत आँखों से टुकुर-टुकुर उनकी ओर देख रही हैं। इतने ही में बाग़ की तरफ़ से, दूध-से सफ़ेद बाल और घनी दाढ़ीवाला, एक आरक्त मुख, विशालकाय वृद्ध आता दीख पड़ा। स्पष्ट ही वह इस भूमि का स्वामी है। लटक आये खुले शरीर में, अब भी स्वास्थ्य की ताम्रवर्ण लालिमा दम-दम कर रही है। पास आकर उसने हाथ की डलिया, कदली-पत्र और दो बड़े-बड़े दोने सामने रख दिये। दोनों में द्राक्षों के गुच्छे हैं, और डलिया में ताज़ा तोड़े हुए दो-तीन तरह के दूसरे फल हैं। वृद्ध ने अंजना और वसन्त से देश-कुल-जाति का कोई परिचय नहीं पूछा। केवल अपने अतिथियों को उसने दोनों हाथ जोड़, बहुत ही विनीत और गद्‌गद होकर प्रणाम किया। स्नेह की मौन और स्निग्ध आँखों से ही, उसने अपनी भेंट की स्वीकृति पाकर कृतार्थ होने की याचना की।

दोनों बहनों ने सिर नवाकर वृद्ध का अभिवादन किया। आनन्द और विस्मय

से पुलकित होकर अंजना बोली—

"बाबा, चोर की तरह तुम्हारे घर में हम दोनों घुस बैठी हैं। हमारी उद्दण्डता को क्षमा कर देना।"

वृद्ध फिर हाथ जोड़ कर नम्र हो आया। वह बोला—

"बड़े भाग्य हैं देवी हमारे! सौभाग्य का सूरज उगा है आज, जो सवेरे ही आँगन में आकर अतिथि देवता की तरह बिराजे हैं। यह भूमि धन्य हुई है तुम्हें पाकर। दीन कृषक का यह तुच्छ फलाहार स्वीकार कर, उसे कृतार्थ करो, भद्रे!"

अंजना के मन में कोई दुविधा नहीं थी। उसने वसन्त की ओर देखा। वसन्त सप्रश्न आँखों से अंजना की ओर देख रही थी। स्पष्ट ही उस दृष्टि में हिचक थी।

"संकोच का कोई कारण नहीं है, जीजी। इन भूमि-पुत्रों के दान को लेने से इनकार कर सकें, इतने बड़े हम नहीं हैं। इससे मुँह मोड़कर जीने का अभिमान मिथ्या है। धरित्री-माता ने हमें जन्म दिया है, तो हमें जीवन-दान देनेवाले जनक और पोषक हैं ये कृषक। ले लो जीजी, दुविधा न करो—"

फिर कृषक की ओर देखकर बोली—

"बिना हमारी पात्रता जाने, हमें भिक्षा ले सकने की पात्री तुमने बना दिया है, बाबा—। जीवन कृतकार्य हुआ है तुम्हारे दान से—।"

"इतना बड़ा भार हम दोनों पर न डालो आर्ये, हम तो तुम्हारे सेवक मात्र हैं—।"

कहकर प्रसन्न होता हुआ वृद्ध, अतिथि-चर्या के दूसरे प्रबन्धों के लिए व्यस्त-सा होकर, झोंपड़े की ओर चल दिया। झोंपड़े के दूसरी ओर के छायाबान में रस निकालने की चरखियों को ज़ोर-ज़ोर से घुमाकर, वे दोनों कन्याएँ द्राक्ष और इक्षु का रस निकाल रही थीं।

क्षोभ और रोष के कारण जो भी हिचक और विरक्ति वसन्त के मन में ज़रूर थी, पर उसकी अन्तरतम की सबसे बड़ी चिन्ता इस क्षण यही थी, कि वह किसी तरह अंजना को कुछ खिला-पिला सके। उसने तुरत केले के पत्ते बिछाकर, कुछ फल और द्राक्ष-गुच्छ उसपर रख लिये और दोनों बहनें खाने

लगीं। खाते-खाते बात चल पड़ी तो अंजना ने कहा—

"मनुष्य पर अश्रद्धा किये नहीं बनेगा, जीजी। मनुष्य मात्र से रुष्ट होकर, विमुख होकर, हम इस राह नहीं आयी हैं। आयी हैं इसलिए कि अपने बाँधे विषम कर्मों के फल भुगतने में हम अकेली ही रह सकें। अपने उदयागत से औरों के जीवनों में व्याघात न डालें। मिथ्या के जिस विरूप विधान ने मनुष्य के जीवन को आत्म-पीड़न के दुश्चक्र में डाल रखा है, हो सके तो उससे अलग खड़ी होकर उसे प्रतिषेध दें। और यों किसी दिन उस दुश्चक्र को उलट दें।"

थोड़ी देर चुप रहकर फिर अंजना बोली—

"पर कर्म-विधान की इस कुरूपता में भी क्या आत्म का धर्म सर्वथा लोप हो गया है? नहीं: नाना संघर्षों और आघातों के बीच रह-रहकर वह ज्योति प्रकट होती है। इसी से तो मुक्ति-मार्ग की रेख अक्षुण्ण चली आ रही है। मनुष्य के भीतर की उज्ज्वलता जहाँ झाँक रही है उसी पर श्रद्धा को टिका देना है। वही हमारा निजत्व है। जो कुरूप है वह तो मिथ्या है ही। उसे सत्य मानकर उसके प्रति रुष्ट और आग्रही होना, तो अपने को उसी दुश्चक्र में डाले रखना है।"

"पर यों परमुखापेक्षी होकर कब तक चला जायेगा, अंजन?"

"पर मैं कहूँ, निरपेक्ष क्या है, जीजी? अपेक्षा तो अस्तित्व के साथ ही लगी है। निरपेक्ष होकर जीने का अभिमान ही तो मिथ्या-दर्शन है। सम्यक्त्व से वहीं हम च्युत हो जाते हैं। असल में देखना यह है कि वह अपेक्षा स्वार्थ से सीमित न हो। वैसी अपेक्षा तो प्रेम के बजाय लोभ को ही अधिक बढ़ायेगी। वह देनेवाले में अभिमान जगायेगी और लेनेवाले में हीनता उत्पन्न करेगी। मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम का जो अविनाभावी और चिरन्तन सम्बन्ध है, वह समूल कभी भी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा की मौलिक एकता में हमारी निष्ठा यदि दृढ़ है, तो उस प्रेम का परिचय हम सतत पाते जायेंगे—जीवन के पथ में। उसी का फल यह अयाचित दान है, जीजी। पराधीनता का संकीर्ण भाव मन में ज़रा नहीं लाना है। प्रेम का प्रसाद समझकर ही इस भिक्षा को ग्रहण कर लेना है। आधिपत्य की कांक्षा और अभिमान मन में न रखकर यदि आकिंचन्य का व्रत ग्रहण किया है, तो फिर भिक्षा ग्रहण करने में लज्जा का कारण नहीं है, जीजी। भिक्षा तो उसी शाश्वत प्रेम-परिचय का एक चिह्न मात्र है। परस्पर एक दूसरे

को स्वीकार किये बिना जो हम चल नहीं सकते हैं !"

इतने ही में कृषक की दोनों कन्याएँ काँसे के बड़े-बड़े कटोरों में रस भरकर ले आयीं। अतिथियों के सामने कटोरे धरकर, दोनों ने पल्ला बिछाकर भूमि पर माथा टेक प्रणाम किया। अंजना ने उनके माथे पर हाथ रखकर आशीर्वचन कहे। लज्जा मिश्रित कौतूहल से मुसकराती हुई दोनों बालाएँ, अपने इन असाधारण अतिथियों को बड़े ही विस्मय की आँखों से देख रही थीं। अंजना ने उनके नाम पूछे, आस-पास की ग्राम-वसतिकाओं का और इस देश का परिचय पूछा। बालाओं ने अस्फुट स्वर में लजा-लजाकर उसके उत्तर दिये। इतने ही में उधर के काम से निबटकर वृद्ध कृषक आ पहुँचा। बातचीत में वृद्ध ने बताया, कि ये दोनों कन्याएँ ही मात्र उसकी सन्तति हैं। पुत्र कोई नहीं है। पत्नी इन्हीं दो बच्चियों को अबोध में शैशव में छोड़कर परलोक सिधार गयी थीं। तब से उसी ने पाल-पोसकर बड़े कष्ट से इन्हें बड़ा किया है, और उन्हीं के लिए संसार में उसका जीवन है। अब कन्याएँ सयानी हुई हैं, देखें कौन अतिथि आकर उन्हें सौभाग्य का दान करेगा ? लड़कियाँ सकरुण, सरल आँखों से एकटक अंजना और वसन्त की ओर निहार रही थीं। पिता के करुण कण्ठ-स्वर ने उनके मुखड़ों पर एक निःशब्द रुलाई बिखेर दी थी। अपने बारे में जब अंजना और वसन्त ने कुछ भी सूचित नहीं किया, तो वृद्ध ने भी मर्यादा नहीं लाँघी। कुल-शील का कोई भी प्रश्न उसने अपने मुँह पर नहीं आने दिया। अंजना ने आप ही इतना बता दिया कि वे आदित्यपुर की रहनेवाली हैं और इस समय यात्रा पर हैं।

काम का समय होते ही वृद्ध, अपनी दोनों कन्याओं को अतिथियों की सेवा में नियुक्त कर, अपना हल उठा, बैलों को हाँकता हुआ खेत पर चला गया। बालाओं से अंजना ने उनकी दिन-चर्या और काम-काज जाने। फिर आप भी वसन्त को साथ ले उनके साथ फलों के बाग़ में चली गयी। वहाँ फल-संचय, फलों की छटनी, पक्षियों से फलों की रक्षा का प्रबन्ध आदि अनेक कामों में वे उनकी सहयोगिनी हुईं। पिता की आज्ञानुसार, समय पर लाकर लड़कियों ने भोजन अतिथियों के सामने रखा। जो भी सवेरे के फलाहार की तृप्ति ने भोजन की आवश्यकता नहीं रहने दी थी, फिर भी लड़कियों का मन रखने के लिए अंजना और वसन्त ने उनके साथ ही बैठकर थोड़ा-थोड़ा भोजन किया। थोड़ी

ही देर के साहचर्य में उन्होंने पाया कि वे बालाएँ उनसे ऐसी अभिन्न हो पड़ी हैं, जैसे आदिकाल की सहचरियाँ ही हों। और तभी अंजना का मन मर्त्य मानव की खण्ड-खण्डता और अवश विछोह के प्रति एक अन्तहीन करुणा से भर उठा। कैसे समझाये वह इन अबोध बालाओं को—वह सांसारिक जीवन मात्र के भाग्य की अनिवार्यता—और एकता का बोध जिस केन्द्रीय बिन्दु पर है, वह क्या सहज अनुभव्य है ?

सान्ध्य-फलाहार के बाद बावड़ी की सीढ़ियों पर बैठी वसन्त और अंजना के बीच उनके प्रस्थान की बात चल रही थी। सुनकर वे दोनों लड़कियाँ उदास हो गयीं। सूनी, अवसन्न आँखों से दिशाओं को ताकती हुई, वे एक दूसरे से बिछुड़कर इधर-उधर डोलने लगीं। एकाएक बड़ी लड़की सहमी सी पास आकर खड़ी हो गयी। उसकी आँखों में जैसे जन्म-जन्म की बिछोह कथा साकार होकर मूक प्रश्न कर उठी। अंजना समझ गयी। उसने उसे पास खींचकर छाती से लगा लिया, और बिना बोले ही उसके गाल पर हाथ फेरती हुई उसे पुचकारती रही।

लड़की अनायास पूछ बैठी—

"तुम कहाँ चली जाओगी कल ?"

सचमुच अंजना के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। तभी एक अव्याहत आत्मीयता के भाव से उसका सारा प्राण जैसे उसमें से स्फूर्त होकर दिगन्त के छोरों तक व्याप्त हो गया।

"कहीं नहीं जाऊँगी, बहन, तुम्हें छोड़कर....। सच मानना, सदा तुम्हारे साथ रहूँगी।........उधर देखो, वह केले के वन पर सन्ध्यातारा उगी है न ? बस इसे देखकर रोज़ मेरी याद कर लेना, मैं तुम्हारे पास आ जाया करूँगी....!"

दोनों लड़कियाँ आश्वस्त और प्रसन्न होकर, सामने के गोशाले में दूध दुहने चली गयीं। अंजना और वसन्त भी हास्य-विनोद करती उनके साथ दूध दुहने बैठीं। लड़कियों के आनन्द की सीमा न थी। सकरुण, स्नेहल कण्ठ से वे अपनी ग्राम्य भाषा में सन्ध्या के गीत गाने लगीं।—उसमें उस अनजान प्रवासी को सम्बोधन है जो ऐसी ही सन्ध्या में एक बार तारों की छाया में, राह किनारे के चम्पक-वन में मिल गया था, और फिर लौटकर नहीं आया—नहीं आया रे—

नहीं आया वह अतिथि ! ऐसी ही कुछ अन्तहीन थी उस गीत की टेक। त्रिसुध और निर्लिप्त करुणा के कण्ठ से समझे-बेसमझे वे लड़कियाँ उस गीत को गाती जा रही हैं। दूर पर ग्राम का कोई एकाकी दीप टिमटिमाता दीख जाता है। अंजना अपने आँसू न रोक सकी—और अपने बावजूद वह उन लड़कियों के सुर में सुर मिलाकर गा उठी।—वृद्ध पास ही के गाँव में किसी काम से गया था। लौटने पर उसने झोंपड़े के आँगन में चारपाइयाँ डालकर बिछौने बिछा दिये और अतिथियों से आराम करने के लिए अनुनय की। अंजना ने कहा कि उनके सौहार्द की वे बहुत-बहुत कृतज्ञ हैं, पर भूमिशयन ही उन्हें स्वभाव से प्रिय है। वृद्ध इस बात के लिए वृथा खेद न करें। बाग़ के बाहर खुली चाँदनी में ही अंजना और वसन्त दुपहर के तोड़े हुए केले के पत्ते बिछाकर हाथ के सिरहाने लेट रहीं।

सवेरे ही ब्राह्म-मुहूर्त में उठकर, नित्य-कर्म से निवृत्त हो अंजना ने वसन्त से कहा—

"अब एक क्षण भी यहाँ रुकना इष्ट नहीं है, बहन। जिन्हें अपनाकर, सदा *अपने साथ रखने की शक्ति मुझमें नहीं है, उन्हें ममत्व की मरीचिका में उलझा*कर दुख नहीं देना चाहूँगी। तुरत अभी यहाँ से चल देना है। बिछोह का आघात पीछे छोड़कर जाना मुझसे न बनेगा। इस ब्राह्म-वेला में, प्रभु से मेरी यही विनती है कि वह मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं सदा के लिए इन सोयी हुई निरीह बालाओं की हो सकूँ—मैं सदा इनके साथ रह सकूँ !"

चलने से पहले पास जाकर दोनों सोयी लड़कियों के सिर अंजना ने दूर से ही सूँघ लिये। फिर चुपचाप एक ओर सोये वृद्ध को जगाकर बिदा माँगी। वृद्ध के विवश स्नेहानुरोध का अंजना ने यही उत्तर दिया कि प्रभु हम सबके सर्वदा साथ हैं, फिर हम अलग-अलग कहाँ हैं, उसी मंगल-कल्याणमय के प्रेम में अनेक जन्मों में अनेक बार मिले हैं, और फिर मिलेंगे....!

और दोनों बहनें चल दीं अपने पथ पर।

ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती हैं, आँखों के सामने क्षितिज की रेखा धुँधली होती हुई, परे हटती जाती है। यात्रा का कहीं अन्त नहीं है। अनेक देश, पुर-पत्तन, नदी, ग्राम, खेत-खलिहान पार करती, वे योजनों की दूरी लाँघती जा रही हैं।—आसन्न सन्ध्या की बेला में, राह के किसी ग्राम के किनारे, किसी भी

खेत के झोंपड़े में, मनुष्य के द्वार पर जाकर वे आश्रय ले लेती हैं। भिक्षा की तरह उनके आतिथ्य का दान सहज ग्रहण कर लेती हैं। रात वहीं बिताकर सवेरे फिर चल देती हैं, अपने पथ पर। अंजना इन दिनों प्रायः मौन रहती है। अपने को धारण करनेवाली धरती, जल, फल-फूल, अन्न से भरी दाक्षिण्यमयी प्रकृति और आस-पास बिखरी हुई मानवता, सबके प्रति गहरी कृतज्ञता के भार से वह डूबी जा रही है। उन सबसे जीवन लेकर, वह उन्हें क्या दे पा रही है? देने योग्य कुछ भी तो नहीं है उसके पास। अपनी अक्षमता और अल्प-प्राणता को लेकर उनका मन अपनी लघुता में निःशेष हो जाता है। और बाहर फैलने की प्राण की व्यथा उतनी ही अधिक घनी और अपरिसीम हो उठती है। उसके आस-पास अभ्यर्थना लेकर जो ये निरीह ग्राम-जन घिर आते हैं, उनकी आँखों में वह एक निस्पृह अपेक्षा का भाव देखती है। जानने की—परिचय की वही सहज सनातन उत्कण्ठा तो है उन आँखों में। उस निर्दोष दृष्टि में छिद्र खोजने की कुटिलता कहाँ है? है केवल बन्दिनी आत्मा की अपनी सीमा की वह अन्तिम विवशता। वह तो है वही अनन्त प्रश्न। मनुष्य की नीरव दृष्टि में जब उसकी पुकार सुनाई पड़ती है, तो जैसे उत्तर दिये बिना निस्तार नहीं है। उसके बिना अपने पथ पर आगे बढ़ना सम्भव नहीं है। यात्रा का मार्ग धरती और आकाश के शून्य में होकर नहीं है। उन प्रश्न से व्यग्र आँखों की अनिवार्य लगनेवाली रुद्धता में होकर ही वह मार्ग गया है।

तब अंजना का मौन अनायास वाणी में मुखर हो उठता। वह अपना परिचय देती। व्यक्ति-सीमाओं से ऊपर होकर वह परिचय, सर्वगत और सर्वस्पर्शी हो पड़ता। भोलेभाले जिज्ञासु ग्राम-जनों की उत्सुकता विशालतर हो उठती। क्षुद्र व्यक्ति मानो अणु बनकर उस विस्तार में खो जाता। अंजना गौण हो जाती, स्वयं वे ग्राम-जन गौण हो जाते। केवल एक समग्र के बोध में, वे अपने ही आत्म-प्रकाश के आनन्द से आप्लावित हो उठते। तब व्यवहार की रोक-टोक, पूछ-परख वहाँ आते-आते निःशब्द होकर बिखर जाती। पर एक रात से अधिक वे कहीं भी न ठहरतीं। इसी क्रम से आगे बढ़ते, जाने कितने दिन बीत गये।

वसन्त ने सोचा कि उसका रास्ता अब सुगम हो गया है। उसने पाया कि अंजना अब जरा भी उदासीन या विरक्त नहीं है। बाहर के प्रति, लोक के प्रति,

जीवन के प्रति वह खुली है, प्रेममय है। वह अपने आस-पास घिर आये मनुष्यों में घुलती-मिलती है, हास-परिहास करती है। उनके प्रति वह आश्वस्त है, और असन्दिग्ध आत्मीयता और एकता के भाव से बरतती है। तब उसने सोचा कि अब किसी ग्राम-वसतिका में अंजना को लेकर वह ठहर जायेगी, और कुछ दिन के लिए घर बसा लेगी। बाधा का अब कोई कारण नहीं दीखता। केवल अवसर और निमित्त की प्रतीक्षा में वह थी।

एक गाँव के बाहर जब इसी तरह, ग्राम-पथ की एक पान्थशाला में वे ठहरी हुई थीं, तभी अंजना की पीड़ा उसके वश के बाहर हो गयी। ग्राम-जनों के साहाय्य और सेवा-शुश्रूषा से एक-दो दिन में वह स्वस्थ हो चली। अपनी यात्रा में पहली ही बार वे यहाँ लगातार तीन दिन ठहर गयी थीं। अपने अस्वास्थ्य और मूर्च्छा की अवस्था में अंजना को भान हुआ कि उसके आस-पास के जनों में कुछ काना-फूसी है। कुछ लोक-सुलभ पहेलियाँ, संकेतों की भाषा में लोगों की जबान पर आ गयी हैं।—अंजना ने पाया कि इन प्रश्नों का उत्तर देना ही होगा!—वह किसकी पुत्री है, किसकी पुत्र-वधू है, गर्भावस्था में क्यों वह, राह-राह भटकती विदेश-गमन को निकल पड़ी है? क्या अपने कुल, शील, लज्जा का उसे कुछ भी भय नहीं है? गर्भवती माता होकर वह निश्चय ही गृहिणी है—भिक्षुणी वह नहीं है। यदि वह गृहिणी है तो लोक की भिक्षा पर जीने का उसे क्या अधिकार है? इन सबका अन्न खाकर, यदि उसे इन सबके बीच रहना है—तो उसे इन लोक-संगत प्रश्नों का उत्तर देना ही होगा। नहीं तो अनजाने ही शायद इन्हें धोखा देने का अपराध उससे हो रहा है। पर इन सारे प्रश्नों के स्थूल उत्तर क्या वह दे सकती है? नहीं: अपने ही उदयागत पापों का भार, इन सारे दुखों के निमित्त मात्र होनेवाले—अपने आत्मीयों पर डालने का गुरुतर अपराध उससे न हो सकेगा। और 'वे'—? मौत के मुँह में उन्हें ढकेलकर उनके नाम को कलंकित करती फिरूँगी—? भीतर ही भीतर अंजना के आत्म-परिताप की सीमा न थी। जो भी बाहर से वह प्रसन्न और स्वस्थ ही दीखती।

एक दिन सुयोग पाकर बहुत ही डरते-डरते वसन्त ने अंजना से अनुरोध किया कि अब यों निर्लक्ष्य आगे बढ़ने में सार नहीं है; यात्रा का श्रम अब अंजना

के लिए उचित नहीं। जाने कब किस आपदा से वे घिर बैठें, सो क्या ठीक है। अब इसी ग्राम में दो-तीन महीनों के लिए उन्हें टिक जाना चाहिए। यहीं सुख-पूर्वक प्रसव-कार्य सम्पन्न हो जायेगा। तब आगे की आगे देखी जायेगी। वसन्त स्वयं श्रम करके कुछ अर्जन कर लेगी, और यों स्वावलम्बी होकर वे चला लेंगी। पर अंजना पहले ही अपने मन में निश्चय कर चुकी थी। अविचलित, परन्तु अथाह वेदना के स्वर में उसने उत्तर दिया—

"नहीं जीजी, भूल रही हो तुम।—अब एक क्षण भी यहाँ ठहरना सम्भव नहीं है। सवेरे ही यहाँ से चल देना होगा। जनपद और ग्राम-पथ छोड़ अब तुरत वन की राह पकड़नी होगी। भोले-भाले ग्राम-जनों को आज-कल से नहीं, बहुत दिनों से जानती हूँ। आदित्यपुर की वसतिकाओं में उन्हें पाकर एक दिन मैंने अपने जीवन को कृतार्थ किया था। उनके प्रति किंचित् भी अविश्वास या अश्रद्धा मन में ला सकूँ, ऐसी कृतघ्न मैं नहीं हो सकूँगी। इसी से तो अब तक की यात्रा में, निधड़क उनके द्वार जाकर विश्राम खोजा है। पर देखती हूँ कि उनके बीच रहने की पात्रता भी अब मेरी नहीं है। वे भी तो एक लोकालय के और लोक-समाज के अंग हैं। उनके भी अपने कुल-शील-मर्यादा के नीति-नियम हैं। मेरा उनके बीच यों जाकर बस जाना, उनके भी तो लोकाचार की मर्यादा को चोट ही पहुँचायेगा। एक पूरे समाज की शान्ति को भंग कर, यदि उन्हें देने को समाधान का कोई उत्तर मेरे पास नहीं है, तो वहाँ मैं एक बहुत बड़े असत्य और लोक-घात की अपराधिनी बनूँगी।—तुम्हीं बताओ जीजी, यह सब मैं कैसे कर सकूँगी? देख नहीं रही हो, जिस तरह के प्रश्न और चर्चाएँ ग्राम-जनों के बीच चल पड़ी हैं—? चलने के दिन ही तुमसे कह चुकी थी कि वन के सिवा और वास मेरे लिए इस समय कहीं भी नहीं है। राह के ये विश्राम तो सहज आनुषंगिक ही थे। मनुष्य के प्रेम का पाथेय विपद् की राह के लिए जुटा लेने की इच्छा थी। वह प्रसाद पा गयी हूँ—अब चल देना होगा जीजी...."

वसन्त ने बार-बार अनुभव किया है कि अंजना तर्क की वाणी नहीं बोलती है। आत्म-वेदना का यह सहज निवेदन, सुननेवाले के मन पर अग्नि के अक्षरों में ज्वलित हो उठता है। उसपर क्या वितर्क हो सकता है? वसन्त चुप हो गयी। अगले सवेरे के आलोक से भर आते अँधेरे में, उन्होंने पगडण्डियाँ छोड़कर वन

की राह पकड़ीं—अनिश्चित और रेखाहीन....!

[२६]

दिन का उजाला जब झाँकने लगा था तब उन्होंने पाया कि पलाश, बबूल और खजूरों के एक घने वन में वे घुसी जा रही हैं। जहाँ तक दृष्टि जाती है, खजूरों के कटीली छालवाले तने घने होते दीख पड़ते हैं। वन की इस अखण्ड गम्भीर निस्तब्धता में मानो प्रेतों की छाया-सभा अविराम चल रही है। बीच-बीच में सागी और शीशम के बड़े-बड़े पत्तोंवाले वृक्षों की घनी झाड़ियों के प्रतान फैलते ही चले गये हैं। मर्त्य मानव की असंख्य निपीड़ित इच्छाएँ विकराल भूतों-सी एक साथ जैसे भूमि से निकल पड़ी हैं, और अपने ही ऊपर दिन-रात एक मूक व्यंग्य का अट्टहास कर रही हैं।—और लगता है कि खजूरों के तने अभी-अभी कुछ बोल उठेंगे, पर वे बोलते कुछ नहीं हैं। निस्तब्धता और भी घनी हो उठती है। और वही मूक आक्रन्द-भरा हास्य दूर-दूर तक और भी तीखा होता सुनाई पड़ता है। मलय और सल्लकी की गन्ध से भरा प्रभात का शीतल पवन डोल-डोल उठता है। पलाश, सागी और शीशम के प्रतान हहरा उठते हैं। वनानी के प्राण में सुदीर्घ व्यथा का एक उच्छ्वास सरसरा जाता है। सृष्टि के हृदय का करुण संगीत नाना सुरों में रह-रहकर बज उठता है। और चिरौंजी-वृक्ष की शाखा में दो-तीन नीली और पीली चिड़ियाँ 'कीर-कीर'-'टीर-टीर' प्रभाती गा उठती हैं।

अंजना जैसे अवचेतन के अँधेरे द्वारों को पार करती चल रही थी। पंखियों का प्रभात-गान सुन उसकी तन्द्रा टूटी। ऊपर हिलते हुए पत्रों में आकाश की शुचि नीलिमा रह-रहकर झाँक उठती है। मुसकराकर कौन अनिन्द्य, कान्त, युवा मुख आँख-मिचौनी खेल रहा है? उसे पकड़ पाने को उसके मन-प्राण एक-बारगी ही उतावले हो उठे।....पर चारों ओर रच दी है उसने यह भूल-भूलैया की माया! जिधर जाती हैं उधर ही संकुल और भयावह झाड़-झंखाड़ों से राह रुँधी है। पैरों तले की धरती बहुत विषम और ऊबड़-खाबड़ है। ढेर-ढेर जीर्ण पत्तों से भरे तल-देश में पैर धँस-धँस जाते हैं। भूशायी कटीली शाखाओं के

जालों में पैर उलझ जाते हैं। सैकड़ों सूक्ष्म काँटे एक साथ पगतलियों में बिंध जाते हैं। लड़खड़ाती, पेड़ों के तनों से धक्के खाती, एक-दूसरी को थामती दोनों बहनें चल रही हैं। पैर कहाँ पड़ रहे हैं उसका भान ही भूल गया है।—अरे इस मायावी की भूलभुलैया का तो अन्त ही नहीं है।—हाथ पर ताली बजाकर वह भाग जाता है।—अंजना शून्य में हाथ फैला देती है। पर वहाँ कोई नहीं दिखाई पड़ता। चारों ओर उगी घास और संकुल झाड़ियों में डूबती-उतराती वह बढ़ती ही जाती है। चलते-चलते गति का वेग अदम्य हो उठा है। अंजना के पीछे उसके कन्धों और कमर को हाथ से थामे वसन्त चल रही है। पर गति के इस वेग को थामने की शक्ति उसमें नहीं है। इस वात्या-चक्र में एक धूलि-कण या तिनके की तरह वह भी उड़ी जा रही है।

....पत्तों के हरियाले वितान में अंजना को उस युवा के उड़ते हुए वसन का आभास होता है...। आस-पास से शरीर को छूता हुआ वह प्राणों को एक मोह की उन्मादक गन्ध से आकुल-व्याकुल कर जाता है।....मुँदी आँखों, वे शून्य में फैली हुई भुजाएँ उसे बाँध लेना चाहती हैं। वह हरियाला कोमल पट हाथ नहीं आता। केवल कटीली शाखाओं के काँटे वक्ष में बिंध जाते हैं। खजूरों के उन असंख्य, काले, कुरूप तनों की सरणि में, वह मुसकराहट और वह किरीट की आभा झाँककर ओझल हो जाती है। अंजना झटपती है। किसी एक खजूर के तने से जाकर टकरा जाती है। शून्य की थकी भुजाएँ विह्वल होकर उस तने को आलिंगन-पाश में बाँध लेती हैं। प्यार के उन्मेष में उस कटीली छाल पर वह लिलार और कपोलों से रभस करती हुई बेसुध हो जाती है। मानो उस समूची परुषता और प्रहारकता को अपनी कोमलता में समाकर वह निःशेष कर देना चाहती है। वसन्त उसे पीछे से खींचकर, उसकी पीठ को अपनी छाती से लगाये रखने के सिवा और कुछ भी नहीं कर पाती है। भीतर रुदन और चीत्कारें गुँगला रही हैं। चारों ओर से चोट पर चोट, आघात पर आघात लग रहा है। एक आघात की वेदना अनुभव हो, उसके पहले ही दूसरा प्रहार कहीं से होता है। पैर किसी गड्ढे में धँस रहा है, निकल पाना मुश्किल हो गया है, कि उधर माथा किसी कटीली शाखा या तने से जा टकराया है। रास्ता चारों ओर से भूल गया है। इधर से उधर और उधर से इधर वे टकराती, चक्कर

खाती फिर रही हैं। चेहरे पर और देह में रक्त और पसीना एकमेक होकर बह रहा है। शरीर के रोयें-रोयें से पीड़ा और प्रहार का वेदन बह उठा है—और उसी प्रश्रवण में आकर, अन्तर के गम्भीर आँसू भी खो जाते हैं। जैसे उनकी कुछ गिनती ही नहीं है। अपनी ही करुणा के प्रति भीतर वे अत्यन्त निर्दय और कठोर हो गयी हैं। अरे, इस पापिन देह पर और करुणा, जिसके कारण ही यह सब झेलना पड़ रहा है।—छिल-छिलकर, बिंध-बिंधकर इसका तो निःशेष हो जाना ही अच्छा है। और भीतर प्रहार लेने के लिए भी एक अदम्य आकर्षण और वासना जाग उठी है। उसी से खिंची हुई बेतहाशा और अनजाने वे अपने को उस अदृश्य और अमोघ धार पर फेंक रही हैं। वह धार जो चेतन को अचेतन के आवेष्टन से मोह-मुक्त कर देगी। कि फिर नग्न और अघात्य चेतन इस सारी प्रहार-लीला और अवरुद्धता में से अन्तर्गामी होकर अनाहत पार होता चले।

....फिर एक सुदीर्घ वेदना के आक्रन्द-उच्छ्वास से वन-देश मर्मरा उठा। अंजना को हलका-सा चेत आया। सर-सर करते हुए दो-चार पीले पत्ते ऊपर से झर पड़े। उसने पाया, उस निबिड़, निर्जन अटवी में, पुरातन पत्रों की शय्या पर वह लेटी है। पास बैठी वसन्त मूक-मूक आँसू टपका रही है। उसने देखा कि उसकी जीजी की सारी देह और चेहरा, जहाँ-तहाँ काँटों से बिंधकर क्षत-विक्षत हो गया है। क्षतों में से रह-रहकर रक्त बह रहा है। अश्रु-निबिड़ आँखों से, एक विवश पशु की तरह, पुतलियों में तीव्र जिज्ञासा सुलगाये, वसन्त उस अंजना की ओर ताक रही है।—उस वेदना के दर्पण में अंजना ने अपना प्रतिबिम्ब देख लिया।—लगा कि लोहित अनुराग से झरते हुए पद्म-सम्पुट-से वे होंठ फिर मुसकरा उठे हैं....! कैसा दुर्दाम और भयावह है यह सम्मोहन, यह आवाहन।—उसने पाया कि रक्ताम्बर ओढ़े वह अभिसार के पथ पर चल रही है।....

....और सुदूर क्षितिज की धुँधली रेखा पर उसे दीखा : आकाश की अनन्त नीलिमा को चीरता वह युवा चला आ रहा है। शिशु-सी अबोध है उसकी मुसकराहट। शुभ्र हिम-पर्वतों का वह मुकुट धारण किये है। वक्ष पर पड़ी हैं वनों की मालाएँ। और कटि के नीचे सात समुद्रों के जल वसन बनकर लहरा

रहे हैं। भुजमूलों में अतल खाइयों की अन्धकार-राशि झाँक रही है। उसका लाल फूलों का धनुष तनता ही जा रहा है, और उसकी मोहिनी पथ बनकर पैरों को खींच रही है...!

वसन्त अपने आँचल से, अंजना के शरीर में, जहाँ-तहाँ निकल आये रक्त को पोंछ रही थी। कि अंजना ने एकाएक उसका हाथ पकड़कर थाम लिया और हँसती हुई बोली—

"इस छबि को मिटाओ नहीं जीजी, राह की रेखा यही तो है।—लो चलो, रुकने का धीरज अब नहीं है। पुकार प्राणों को बींध रही है। विलम्ब न करो, मिलन की लग्न-बेला टल जायेगी....!"

"पर अंजन, कहाँ चल रही हो ? यहाँ रास्ता जो नहीं दीख रहा है....?"

बिना उत्तर दिये ही अंजना उठ बैठी और वसन्त का हाथ पकड़ उसे खींचती हुई फिर बढ़ गयी—उसी झंखाड़ों से घिरी वन की विजन बाट में।

दोपहरी का प्रखर सूर्य जब ठीक माथे पर तप रहा था, तब वे उस खर्जूर-बन को पार कर खुले आकाश के नीचे आ गयीं। सामने से चली गयी है वन्य-नदी की रेखा। रुपहरी बालू की स्निग्ध उपल-सेज में, जल की धारा लीन होती-सी लोट रही है। दूर-दूर तक सुषम वन-श्री को चीरती हुई, नाना भंग बनाती, कहीं-कहीं वन के गहन अंक में जाकर वह खो जाती है। आगे जाकर धारा पृथुल हो गयी है, और वनच्छाया से कहीं श्याम, कहीं जामनी और कहीं पीली होती दीख पड़ती है। पुलिनों में लहलहाती कास में शरत् की श्री खिलखिला रही है।

रुककर अंजना बड़ी देर तक, दूर जहाँ नदी के अन्तिम भंग की रेखा खो गयी है, दृष्टि गड़ाये रही, फिर वसन्त के गले में हाथ डालकर बोली—

"कैसी कोमल, उजली और स्निग्ध है यह पथ की रेखा, जीजी! वन के इस आँचल में यह छुपी है, पर कितने लोग इसे जानते हैं ? किस अज्ञात पर्वत की बालिका है यह नदी ? अनेक विजनों की जड़ीभूत रुद्धता में से, जल की इस धारा ने अपना पथ बनाया है!—और पीछे छोड़ गयी है पथिकों के लिए विश्राम की मृदुल शय्या। अवरोध है, इसी से तो मार्ग का अनुरोध है। अवरोधों को भेदकर ही वह खुलेगा। मार्ग की रेखाएँ पृथ्वी में पहले ही से खिची हुई

नहीं है। जीवनी-शक्ति सतत गतिमान् है—मनुष्य चल रहा है कि मार्ग बनता गया है! पहले कोई चला है, तभी वह बना है। आदि दिन से वह नहीं था...."

नदी की धारा को पार कर, आगे जाने पर उन्हें सल्लकी लता के मण्डपों से घिरी एक वन्य-सरसी दीख पड़ी। उसके बीच के ऊर्मिल जल में शरद् के उजले बादलों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है, और तटों में घनी शीतल छाया है। लता-मण्डप में हथनियों का एक यूथ, सल्लकी की गन्ध में मस्त होकर झूम रहा है। पास आने पर दीखा, सामने के तट की एक शिला पर एक जरठ-जीर्ण भीलनी नहा रही है। सारे बाल उसके सफ़ेद हो गये हैं। अपने काले शरीर पर दोनों हाथों से मिट्टी मल-मल कर वह उसे स्वच्छ कर रही है।

अंजना ने कौतूहल से उसे देखा, फिर हँस आयी और दोनों हाथ जोड़ उसे प्रणाम किया। भीलनी के मिट्टी में भरे हाथ अधर में उठे रह गये। वह नहाना भूलकर उस पार आश्चर्य से देखती रह गयी। उसकी पुरातन गरदन बरगद-सी हिल उठी। इस जंगल में युग-युग उसने बिता दिये हैं, कई चमत्कार उसने देखे-सुने हैं, पर रूप की ऐसी माया कभी न देखी!

अंजना हाथ का सिरहाना बनाकर तट की शाद्वल हरियाली पर लेट गयी, और तुरत उसकी आँख लग गयी। वसन्त को न सोये चैन है न बैठे। अपने अपनत्व को रख सकने का बल उसमें नहीं है। बालक की तरह क्षण मात्र में ही अभय होकर सो गयी, इस विपदा-ग्रस्त, पागल लड़की के चेहरे में, घूम-फिरकर उसकी दृष्टि आ अटकती है। उसकी मन, वचन, कर्म की शक्तियाँ इस लड़की से भिन्न होकर नहीं चल पा रही हैं। उसकी संज्ञा के केन्द्र में हैं अंजना। एक मौन रुदन का झरना उसकी आँखों से रह-रहकर झर रहा है। अंजना की सारी वेदना आकर उसकी आत्मा में पुंजीभूत और सघन हो रही है। भीलनी को पाकर वसन्त की जिज्ञासा तीव्र हो उठी, जो भी उसे देखकर भय से वह काँप-काँप आयी। पर वन की इस भयानक निर्जनता में यह पहली ही मानवी उसे दीखी है, सो बरबस उसकी ओर एक आदिम आत्मीयता के भाव से वह खिंची चली गयी। पास पहुँचकर उसने भीलनी को ध्यान से देखा। बुढ़िया के सैकड़ों झुर्रियोंवाले मुख पर गुफा-सी ऊँड़ी कोटरों में मशालों-सी दो आँखें जल रही थीं। चट्टान-से उसके शरीर में जहाँ-तहाँ झंखाड़ों-से सफ़ेद बाल उगे थे। वसन्त

ने हिम्मत करके उससे पूछा कि आगे जाने को सुगम रास्ता कहाँ से गया है ?

भीलनी पहले तो बड़ी देर तक, सिर से पैर तक वसन्त को बड़े ग़ौर से देखती रही। फिर रहस्य के गुरु-गम्भीर स्वर में बोली—

"इधर आगे कोई रास्ता नहीं है। क्या इधर मौत के मुँह में जाना चाहती हो ? आगे मातंग-मालिनी नाम की विकट वनी है। महाभयानक दैत्यों और क्रूर जन्तुओं का यह आवास है। मनुष्य इसमें जाकर कोई नहीं लौटा। पुरातन के दिनों में, सुना है, कई शूर नर निधियों की खोज में इस वनी में गये, पर लौटकर फिर वे कभी नहीं आये। भूलकर भी इस राह मत जाना ! रास्ता नदी के उस तीर पर होकर है। अपनी कुशल चाहो तो उधर ही लौट जाना।"

इतना कहकर वसन्त और कुछ पूछे, इसके पहले ही भीलनी वहाँ से चल दी। द्रुत पग से चलती हुई सल्लकी के प्रतानों में वह तिरोहित हो गयी।

थोड़ी ही देर में अंजना की जब नींद खुली, तो वह तुरत उठ बैठी। गति की एक अनिर्बन्ध हिल्लोल से जैसे वह उछल पड़ी। बिना कुछ बोले ही वसन्त का हाथ खींचकर सामने की उस अरण्यमाला की ओर बढ़ी। तब वसन्त से रहा न गया, झपटकर उसने अंजना को पीछे खींचा—

"नहीं अंजनी....नहीं....नहीं....नहीं....नहीं जाने दूँगी इस वनी में—आह मेरी छौना-सी अंजन, यह क्या हो गया है तुझे ? अब तक तेरी राह नहीं रोकी है—पर इस वन में नहीं जाने दूँगी। मनुष्य के लिए यह प्रदेश अगम्य और वर्जित है। इसमें जाकर जीवित फिर कोई नहीं आया। अभी तेरे सो जाने पर उस बूढ़ी भीलनी से मुझे सब मालूम हुआ है।"

कहकर उसने भीलनी से जो कुछ जाना था वह सब बता दिया। अंजना खिलखिलाकर ज़ोर से अट्टहास कर उठी—बोली—

"मनुष्य के लिए अगम्य और वर्जित कहीं कुछ नहीं है, जीजी ! इन्हीं मिथ्यात्वों के जालों को तो तोड़ना है। अभी-अभी मैंने सपना देखा है, जीजी, इसी अरण्य को पाकर हमें अपना आवास मिलेगा। इसी अटवी के अन्धकार में पथ की रेखा मैंने स्पष्ट प्रकाशित देखी है।—राह निश्चित वही है, इसमें राई-रत्ती सन्देह नहीं है।—देर हो जायेगी जीजी, मुझे मत रोको...."

कहकर अंजना ने एक प्रबल वेग के झटके से अपने को वसन्त से छुड़ा

लिया और आगे बढ़ गयी। झपटकर वसन्त ने आगे जा, अंजना की राह रोक ली, और भूमि पर गिर पड़ी। उसके पैरों से लिपटकर चारों ओर से अपनी भुजाओं में दृढ़ता से कस लिया और फफक-फफककर रोने लगी। रुदन के ही उद्विग्न स्वर में बोली—

"नहीं जाने दूँगी....हरगिज़ नहीं जाने दूँगी....ओह अंजनी....मेरी फूल-सी बच्ची—तुझे क्या हो गया है यह? ऐसी भयानक—ऐसी प्रचण्ड हो उठी है तू....? तेरी सारी हठों के साथ चली हूँ, पर यह नहीं होने दूँगी। देखती आँखों काल की डाढ़ों में तुझे नहीं जाने दूँगी। और फिर भी तू नहीं मानेगी तो प्राण दे दूँगी। फिर अपनी जीजी के शव पर पैर रखकर जहाँ चाहे चली जाना।"

अंजना के रोम-रोम में वेग की एक बिजली-सी खेल रही है।—पर वसन्त की बात सुनकर वह दुर्दाम लड़की जैसे एक-बारगी ही हतशस्त्र-सी हो गयी। धप् से वह नीचे बैठ गयी और अपनी जीजी को उठाया। फिर आप उसकी गोद में सिर रखकर रो आयी और आँसुओं से उमड़ती आँखों से वसन्त के मुख को मौन-मौन ही बहुत देर तक ताकती रही। फिर अनुरोध कर उठी—

"क्षमा करना जीजी, अपने पापों के इस अतलान्त नरक में घसीट लायी हूँ मैं तुम्हें—! बराबर तुम पर अत्याचार ही करती जा रही हूँ। घोर स्वार्थिनी हूँ, अपने ही मोह में अन्धी होकर मैं तुम्हें रसातल में खींच रही हूँ, जीजी।.... पर आह जीजी, मेरे प्राण मेरे वश में नहीं हैं....यह कौन है मेरे भीतर जो करोड़ों सूर्यों के रथ पर चढ़कर विद्युत् के वेग से चला आ रहा है....प्राणों को यह दिन-रात खींच रहा है....इसी अरण्यमाला में होकर जायेगा इसका रथ!... तुम कुछ करके मुझे रोक सको तो रोक लो....पर रुकना मेरे बस का नहीं है!...रुककर जैसे रह नहीं सकूँगी....! तुम जानो, जीजी...."

कहकर अंजना चुप हो गयी। उसकी मुँदी आँखों से आँसू अविराम झर रहे थे। देखते-देखते अंजना के उस मुख पर एक विषम वेदना झलक उठी। वक्ष और पेट तीव्र श्वास के वेग से हिलने लगे। वसन्त ने देखा और भीतर ही भीतर गुन लिया: अंजना को बड़ा ही कठिन दोहेला (गर्भिणी स्त्री की वह विचित्र साध, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो जाती है) पड़ा है। निश्चय ही इस साध की पूर्ति के बिना इसके जीवन की रक्षा सम्भव नहीं है। नहीं जाने दूँगी

तब भी यह प्राण त्याग देगी, और जाने दूँगी तो जो भाग्य का लिखा है, वही हो रहेगा। जाने कौन महाहतभागी जीव इसके गर्भ में आया है, जो आप भी ऐसे दारुण कष्ट झेल रहा है, और अपनी जनेता के भी प्राण लेकर ही जो मानो जन्म धारण करेगा। और अंजना से अलग हटा कर, अपने ही लिए अपने जीवन की रक्षा का विचार करने की स्थिति तो अब बहुत पीछे छूट गयी थी। नये सिरे से आज उसे अपने बारे में कुछ भी सोचना नहीं है। भीतर उसे लगा कि जैसे वह सारा घुमड़ता रुदन एकबारगी ही शान्त हो गया है। आप स्वस्थ होकर थोड़े जल और मिट्टी के उपचार से उसने अंजना को भी स्वस्थ कर लिया। फिर हँसती हुई बोली—

"जहाँ तेरी इच्छा हो वहीं चल, अंजन! भगवान् मंगलमय हैं। उनकी शरण में रक्षा अवश्य होगी।"

........वह मातंगमालिनी नाम की अटवी, पृथ्वी के पुरातन महावनों में से एक है, जो अपनी अगमता के लिए आदिकाल से प्रसिद्ध है। आस-पास के प्रदेशों में इस वनी के बारे में परम्परा से चली आयी अनेक दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कहते हैं, इसकी तहों में अनेक अकल्पनीय ऋद्धि-सिद्धि देनेवाले रत्नों के कोष, महामृत्यु की आतंक-छाया तले दिवा-रात्रि दीपित हैं। इसमें पाताल-स्पर्शिनी वापिकाएँ हैं, जिनसे निकलकर पृथ्वी के आदिम अजगर, वनस्पतियों की निबिड़ गन्ध में मत्त होकर लोटते रहते हैं। अनेक विजेता, विद्याधर, किन्नर, गन्धर्व, अपने बल-वीर्य और विद्याओं पर गर्वित हो, निधियाँ पाने की कामना लेकर इस वन में घुसे और लौट कर नहीं आये!

अंजना और वसन्त ने अपने नामशेष, रक्त भरे आँचल को भूमि पर बिछा कर, मृत्युंजयी जिनको साष्टांग प्रणाम किया। उठते हुए अंजना ने पाया कि टूटकर आये हुए नक्षत्र-सा एक पंछी उसके दायें कन्धे पर आ बैठा है। स्थिर ज्वालाओं सा वह जगमगा रहा है—देखकर आँखें चुँधियाती हैं। अंजना सिर से पैर तक थरथरा आयी और सहमकर मुँह फेर लिया। पक्षी उड़कर उसी अरण्य-वीथी के भीतर, एक ऊँची शाखा पर जा बैठा। अंजना में कम्प और उल्लास की हिलोरें दौड़ने लगीं। उसका सारा शरीर एक अपूर्व रोमांच से सिहर उठा। अनायास अंजना, उस अनल-पंछी को पकड़ने के लिए उस वन-

वीथी में लपक पड़ी, और उसके ठीक पीछे ही दौड़ पड़ी वसन्त। उनके देखते-देखते दूर-दूर उड़ता हुआ वह पंछी, उस वन के अन्तराल में जाने कहाँ अलोप हो गया।—और उस महाकान्तार में बेतहाशा दौड़ती हुई वे उसे खोजने लगीं।—

.......ज्यों-ज्यों वे दोनों आगे बढ़ रही हैं, अँधेरा निविड़तर होता जाता है।—देखते-देखते आकाश खो गया है, तल असूझ हो रहा है। पग-पग पर भूमि विषमतर हो रही है। झाड़-झंखाड़ों में भालों के फलों-से तीक्ष्ण पत्ते और काँटे चारों ओर से देह में बिंध रहे हैं। पाताल-जलों से सिंचित सहस्रावधि वर्षों के पृथ्वी के आदिम वृक्ष, बृहदाकार और उत्तुंग होकर आकाश तक चले गये हैं। उनके विपुल पल्लव-परिच्छेद में सूर्य की किरण का प्रवेश नहीं है। तमसा के इस साम्राज्य में दिन और रात का भेद लुप्त हो गया है। समय का यहाँ कोई परिमाण नहीं, अनुभव भी नहीं। प्रकाण्ड तमिस्रा की गुफाएँ दोनों ओर खुलती जाती हैं। पृथ्वी और वनस्पतियों की अननुभूत शीतल गन्ध में अंजना और वसन्त की बहिश्चेतना खो गयी है। केवल अन्तश्चेतन की धाराएँ अपने आपमें ही प्रकाशित, इस अभेद्यता में बही जा रही हैं। आदिकाल के पुंजीभूत अन्धकार की राशियाँ चारों ओर विचित्र आकृतियाँ धारण कर नाच रही हैं। अंजना को दीखा, आत्मा के अनन्त स्तरों में छुपे नाना अप्रकट पाप और तृष्णाएँ यहाँ नग्न होकर अपनी लीला दिखा रहे हैं। पर्वत पर तम की अन्ध लहरें बनकर वे आते हैं, और आत्मा पर रह-रहकर आक्रमण कर रहे हैं।....और तब भीतर अंजना को एक झलक-सी दीख जाती : दीखता कि वह करोड़ों सूर्यों के रथ पर बैठा युवा एक कोमल भ्रूभंग मात्र में उन्हें विदीर्ण कर, अपना रथ अरोक दौड़ाये जा रहा है। उसकी मुसकराहट पथ पर, पैरों के सम्मुख प्रकाश की एक रेखा-सी खींच देती है।

.......चलते-चलते अंजना और वसन्त को अकस्मात् अनुभव हुआ कि पैरों के नीचे से तीक्ष्ण पत्थरों और काँटों से भरी विषम भूमि ग़ायब हो गयी। एक अगाध और सुचिक्कण कोमलता में पैर फिसल रहे हैं। त्वचा की एक ऊष्म मांसलता में जैसे वे धँसी जा रही हैं। रलमलाकर वह रेशमीन स्निग्धता शरीर में लहरा जाती है। भीतर जैसे एक उल्का-सी कौंध उठी और उसके प्रकाश में

अंजना और वसन्त को दीखा—प्रचण्ड अजगरों की मण्डलाकार राशियाँ उनके पैरों के नीचे सरसरा रही हैं। चारों ओर उड़ते हुए नाग-नागिनों के जोड़े, रह-रहकर देह में लिपट जाते हैं और फिर उड़ जाते हैं। आस-पास दृष्टि जाती है—उन तमिस्र की गुफाओं में विचित्र जन्तुओं और भयावने पशुओं के झुण्ड चीत्कारें करते हुए संघर्ष मचा रहे हैं। उन्हीं के बीच उन्हें ऐसी मनुष्याकृतियाँ भी दीखीं जिनके बड़े-बड़े विकराल दाँत मुँह से बाहर निकले हुए हैं, माथे पर उनके त्रिशूल-से तीखे सींग हैं और अन्तहीन कषाय में प्रमत्त वे दिन-रात एक दूसरे से भिड़ियाँ लड़ रहे हैं।

कि अचानक पृथ्वी में से एक सनसनाती हुई फुंकार-सी उठी, और अगले ही क्षण स्फूर्त विष की नीली लहरों का लोक चारों ओर फैल गया। सहस्रों फनोंवाले मणिधर भुजंग भूगर्भ से निकलकर चारों ओर नृत्य कर उठे। उनके मस्तक पर और उनकी कुण्डलियों में, अद्भुत नीली, पीली और हरी ज्वालाओं से झगर-झगर करते मणियों के पुंज झलमला रहे हैं। उनकी लौ में से निकलकर नाना इच्छाओं की पूरक विभूतियाँ, अप्रतिम रूपसी परियों के रूप धारण कर एक में अनन्त होती हुई, अंजना और वसन्त के पैरों में आकर लोट रही हैं; नाना भंगों में अनुनय-अनुरोध का नृत्य रचती वे अपने को निवेदन कर रही हैं। पर उन दोनों बहनों में नहीं जाग रही है कोई कामना, कोई उत्कण्ठा। बस वे तो बिस्मय और जिज्ञासा से भरी मुग्ध और विभोर ताकती रह गयी हैं।

....तभी एक तीव्र सुगन्ध से भरी वाष्प का कोहरा चारों ओर छा गया। अंजना और वसन्त के श्वास अवरुद्ध होने लगे, एक-दूसरे से चिपटकर बिलबिलाती हुई वे आगे भाग चलीं। चलते-चलते कुछ ही दूर जाकर उन्होंने पाया कि आगे का वन-प्रदेश अभेद्य हो पड़ा है। जिस ओर भी वे जाती हैं वृक्षों के तनों से सिर उनके टकरा जाते हैं—और कटीले झाड़-झंखाड़ों की अवरुद्धता में देह छिल-छिल जाती है। थोड़ी देर में सारे वन-प्रदेश की स्तब्धता एक सरसराहट से भर गयी। चारों ओर से भूकम्पी पद-संचार के धमाके सुनाई पड़ने लगे। दोनों बहनों की आँखों में फिर एक बिजली-सी कौंध गयी। उसके प्रकाश में दीखा कि जहाँ तक दृष्टि जाती है, सूचीभेद्य शाखा और पल्लव-जालों का प्राचीर-सा खड़ा है। इस क्षण वह सारी अटवी जैसे एक बवण्डर के वेग से हहरा उठी है। और इतने में

आस-पास से गुर्राते हुए और लोमहर्षी गर्जन करते हुए कुछ बड़े ही भीषण और पृथुलकाय हिंस्र पशु चारों ओर से झपट पड़े। उनके प्रचण्ड शरीरों की कशमकश में दबकर दोनों बहनें एक-दूसरे से चिपट कर चिल्ला उठीं। तभी लप-लप करती उनकी विकराल जबानें और उनकी डाढ़ें फैलकर उन्हें लीलने को आती-सी दीख पड़ीं। उनकी आँखें अंगारों-सी दहकती हुई अधिकाधिक प्रखर हो उठती हैं।

कि एकाएक दूरतक फैले इन पशुओं के विशाल झुण्ड के बीच अंजना को दीख पड़ा वही युवा रथी, जो कौतुक की हँसी हँसता हुआ पास बुला रहा है। एक मधुर मार्मिक लज्जा से पसीज कर अंजना निगड़ित हो रही है। जाने क्या लीला की तरंग उसे आयी कि बड़ी ही स्नेह-स्निग्ध और तरल वात्सल्य की आँखों से अंजना उन पशुओं को देख उठी। लीलने को आती हुई उन डाढ़ों के सम्मुख उसने बड़े ही विनीत आत्म-दान के भंग में अपने को अर्पित कर दिया, कि चाहो तो लील जाओ, तुम्हारी ही हूँ....! क्षण मात्र में वे ज्वलित आँखें, वे डाढ़ें, वह गर्जन सभी कुछ अलोप हो गया। अंजना और वसन्त को अनुभव हुआ कि केवल बहुत सी जिह्वाओं के ऊष्म और गीले चुम्बन उनके पैरों को दुलरा रहे हैं।

....सब कुछ शान्त हो गया है, फिर वे अपने मार्ग पर आगे बढ़ चली हैं। आस-पास कहीं वनस्पतियों के घने और जटिल जालों में दिव्य औषधियों का शीतल, मधुर प्रकाश झलझलाता-सा दीख जाता है। तो कहीं पैरों तले पृथ्वी के निगूढ़ विवरों में स्वर्ण और चाँदी की रज बिछी दीखती है, और उन पर पड़े दीखते हैं वर्ण-वर्ण विचित्र रत्न, जिनमें सतरंगी प्रभा की तरंगें निरन्तर उठ-उठकर लीन हो रही हैं। अंजना और वसन्त को प्रतीत हुआ कि आत्मा में सोयी जन्म-जन्म की कामनाएँ अँगड़ाई भरकर जाग उठी हैं। और कुछ ही क्षणों में उन्होंने पाया कि अपनी विविध रूपिणी इच्छाओं के सारे फल एकबारगी ही पाकर वे निहाल हो गयी हैं। क्षणैक उन्होंने अनुभव किया जैसे सारे भय, पीड़ा और चिन्ताएँ आत्मा से पीले पत्तों की तरह झरकर उन रत्नों की शीतल तरंगों में डूब गये हैं। एक अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द की गम्भीरता में डूबी दोनों बहनें आगे बढ़ती गयीं।

....एकाएक उन्हें धुँधला-सा उजाला दीखा। वन के शाखा-जाल प्रत्यक्ष होने लगे। थोड़ी दूर और चलने पर सामने मानो पृथ्वी का तट दीख पड़ा,

और उसके आगे फैला है आकाश का नील और निश्चिह्न शून्य। उस शून्य में दूर से आता हुआ एक महाघोष सुनाई पड़ा। ज्यों-ज्यों वे आगे बढ़ रही हैं वह महारव अपने प्रवाह में टूटकर अनेक ध्वनियों में बिखरता जा रहा है। पैर त्वरा से उस ओर खिचते जा रहे हैं—

चलकर उस छोर पर जब वे दोनों पहुँचीं, तो उन्होंने अपने को एक अतलान्त खाई के किनारे पर खड़ा पाया। उत्तुंग पर्वत-मालाओं के बीच महाकाल की डाढ़-सी यह खाई योजनों के विस्तार में फैली है। सामने पर्वत के सर्वोच्च शिखर-देश की वनाली में से घहराकर आता हुआ एक झरना, सहस्रों धाराओं में बिखरकर, गगन-भेदी घोष करता हुआ खाई में गिर रहा है। उसपर से उड़ते हुए जल-सीकरों के कुहासे में उड़-उड़कर फेन, वातावरण को आर्द्र और धवल कर रहे हैं। अस्तगामी सूर्य की लाल किरणें, दूर-दूर तक चली गयीं हरित-श्याम शैलमालाओं के शिखरों में शेष रह गयी हैं। घाटियों में सायाह्न की नीली छायाएँ घनी हो रही हैं। दूर खाई के आर-पार उड़े जाते पंछियों के पंखों पर दिन ने अपनी विदा की स्वर्ण-लिपि आँक दी है।

उस अपरिमेय विराटता के महाद्वार के सम्मुख अंजना अपनी लघुता में सिमटकर मानो एक बिन्दु मात्र शेष रह गयी!....पर अपने भीतर एक सम्पूर्ण महानता में वह उद्भासित हो उठी। उसने पाया कि प्रकृति के इस अखण्ड चराचर साम्राज्य की वही अकेली साम्राज्ञी है। उसकी इच्छा के एक इंगित पर ये उत्स फूट पड़े हैं, उसकी उमंगों पर ये निर्झर और नदियाँ ताल दे रही हैं। उसके भ्रू-संचालन पर ये तुंग पर्वत उठ खड़े हुए हैं और आकाश की थाह ले रहे हैं। एक अदम्य आत्म-विश्वास से भर कर उसने पास खड़ी वसन्त को देखा। भय से थर्राती हुई वसन्त मानो सफ़ेद हो उठी थी। मृत्यु के मुँह से निकलकर अभी आयी थीं कि फिर यह दूसरा काल सामने फैला है। यहाँ से लौटकर जाने को और कोई दूसरा रास्ता नहीं है, और न यहीं विराम की सुरक्षा और सुगमता का आश्वासन है। हाय रे दुर्दैव....!

एक लीलायित भंग से भौंहें नचाकर हँसती हुई अंजना बोली—

"घबराओ नहीं जीजी, वे देखो नीचे जो गुफाएँ दीख रही है, वहीं होगा हमारा आवास। आओ, रास्ता बहुत सुगम है, तुम आँखें मींच लो!"

कहते हुए अंजना ने वसन्त को छाती से चिपका लिया। वह स्वयं नहीं जान रही है कि नीचे उतरने का रास्ता कहाँ है और कैसा है। उस बीहड़ विभीषिका में कहीं कोई रास्ते का चिह्न नहीं है। अंजना तो बस इतना भर जानती है कि उन नीचे की गुफाओं में होगा उनका आवास, और वहाँ पहुँचना उनका अनिवार्य है। भय से थरथराती वसन्त को सीने से चिपकाये, उस कगार के ठीक किनारे से एक बहुत ही संकीर्ण और ख़तरनाक राह पर वह चल पड़ी। कुछ दूर चलकर झाड़ियों में घुस उसने चट्टानों का एक रास्ता पकड़ा। और एकाएक वृक्षों की वीथियों में से उसे दीखा—जैसे किसी ने खाई के तल तक बड़ी ही सुगम, प्रकृत सीढ़ियाँ-सी बना दी हैं, जिनपर ऊपर से झर-झरकर नाग और तिलक वृक्षों की मंजरियाँ बिछ गयी हैं और लवंग-लताओं की कुसुम-केसर फैली है। चकित होकर अंजना ने वसन्त से कहा—

"देखो न जीजी, हमारे पथ में फूलों की सीढ़ियाँ बिछ गयी हैं!"

चौंककर वसन्त ने देखा तो पलक मारते में पाया, जैसे स्वर्ग के पटल सामने फैले हैं। सुख और आश्चर्य से भरकर वह पुलक उठी, जैसे एक नये ही लोक में जन्म पा गयी है। गलबाहीं डालकर दोनों बहनें बड़े सुख से नीचे उतर आयीं।

निर्झर के फेनच्छाय कुण्ड में से गुरु-गम्भीर नाद करती हुई पार्वत्य सरिता उफन रही है। तटवर्ती कानन की गुम्फित निबिड़ता में होकर दूर तक नदी का प्रवाह चला गया है। राह में पड़नेवाले सैकड़ों ऊँचे-नीचे पाषाण गह्वरों में वह महा-घोष खण्ड-खण्ड होता सुन पड़ता है।

चट्टानों की विषम भूमि कटि तक ऊँचे गुल्मों में पटी हुई है। उन्हीं में होकर जल-सीकरों के कुहासे को चीरती हुई दोनों बहनें आगे बढ़ीं। कुछ दूर चलने पर झरने के दक्षिण ओर वह गुफा दीखी, जिसे ऊपर से अंजना ने चीन्हा था। गुहा के द्वार में जो दृष्टि पड़ी तो पलक थमे ही रह गये....

....एक शिलातल पर पल्यंकासन धारण किये, एक दिगम्बर योगी समाधि में मेरु-अचल हैं। बालक-सी निर्दोष मुख-मुद्रा परम शान्त है। होंठों पर निरवच्छिन्न आनन्द की मुसकान दीपित है। श्वासोच्छ्वास निश्चल हैं। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर है। मस्तक के पीछे उद्भासित प्रभा-मण्डल में, गुफा के पाषाणों में छुपे रत्न प्रकाशित हो उठे हैं। कुछ ऐसा आभास होता है जैसे

ऋद्धियों के ज्योति पुंज, रह-रहकर मुनि के बाल-शरीर में से तरंगों की तरह उठ रहे हैं।

अंजना और वसन्त को प्रतीत हुआ कि जैसे उस दर्शन मात्र में भव-भव के दुख विस्मरण हो गये हैं। दोनों बालाओं के अंग-अंग में सैकड़ों क्षतों से रक्त बह रहे हैं। उन शिरीष-कोमल देहों पर लज्जा ढाँकने को मात्र एक तार-तार वसन शेष रह गया है। जटा-जूट बिखरे केश-पत्तों, काँटों और वन्य-फूलों से भरे हैं। साश्रुनयन, विनत मस्तक कुछ क्षण वे खड़ी रह गयीं। फिर वे मानो असंज्ञ होकर उस शिला-तल पर मुनि के चरणों में आ पड़ीं—और फूट-फूटकर रोने लगीं।

सन्तप्त मानवियों की आर्त पुकार से मुनि की समाधि भंग हुई! ब्रह्मतेज केन्द्र से बिखरकर सर्वोन्मुख हो गया। निखिल लोक की वेदना से मुनि का आत्मा संवेदित हो उठा। श्वासोच्छ्वास मुक्त हो गया। समता की वह ध्रुव दृष्टि, एक प्रोज्ज्वल, प्रवाही शान्ति से भर कर खुल उठी। मुनि ने प्रबोधन का हाथ उठाकर मेघ-मन्द्र स्वर में कहा—

"शान्त पुत्रियो, शान्त, धर्म-लाभ, कल्याणमस्तु!" दोनों बहनों ने अनुभव किया कि जैसे अमृत की एक धारा-सी उनपर बरस पड़ी है। सारे ताप-क्लेश, पीड़ाएँ, आघात एकबारगी ही इन चरणों में निर्वापित हो गये हैं।

तब वसन्त उठी और दोनों हाथ जोड़ सकरुण कण्ठ से आवेदन किया—

"हे योगीश्वर, हे कल्याण-रूप, हे प्राणि मात्र के अकारण बन्धु, हम तुम्हारी शरण हैं। रक्षा करो, त्राण करो नाथ! मनुष्य की जगती में हमारे लिए स्थान नहीं है। मेरी यह बहन गर्भिणी है। मिथ्या कलंक लगाकर श्वसुर-गृह और पितृ-गृह से ठुकरा दी गयी है। इसके संकटों का पार नहीं है। इसका त्रास अब मुझसे नहीं सहा जाता है, प्रभो! मौत के मुँह में भी हम अभागिनों को स्थान नहीं मिला। इस आत्म-घातक यन्त्रणा से हमें मुक्त करो, देव!—और यह भी बताओ भगवन् कि इसके गर्भ में ऐसा कौन पापी जीव आया है, जिसके कारण इसे ऐसे घोर उपसर्ग हो रहे हैं?"

मुनि अवधि-ज्ञानी थे और चारण-ऋद्धि के स्वामी थे। अर्ध निमीलित दृष्टि में मुनि ने अवधि बाँधी और मुसकराकर वत्सल कण्ठ से बोले—

"कल्याणी, शोक न करो। महेन्द्रपुर की राजकुमारी अंजना लोक की सतियों में शिरोमणि है! विश्व की किसी भी शक्ति के सम्मुख, अंजना त्राण और दया की भिखारिणी नहीं हो सकती। पूर्व संचित पापों की तीव्र ज्वालाओं ने चारों ओर से उसे आक्रान्त कर लिया है। पर उनके बीच भी निर्वेद और अजर शान्ति धरकर वह चल रही है। और इसके गर्भ का जीव पापी नहीं, वह अप्रतिम पुण्य का स्वामी, लोक का शलाका-पुरुष होगा! वह ब्रह्म-तेज का अधिकारी होगा। काम-कुमार का भुवन-मोहन रूप लेकर वह पृथ्वी पर जन्म धारण करेगा। वह अखण्ड-वीर्य बाहुबलि होकर समस्त लोक का हृदय जीतेगा। देवों, इन्द्रों और अहमिन्द्रों से भी वह अजेय होगा। विश्व की सारी विभूतियों का प्रभोक्ता होकर भी, एक दिन उन्हें ठुकराकर वह वन की राह पकड़ेगा। इस जन्म के बाद वह जन्म धारण नहीं करेगा—इसी देह को त्यागकर वह अविनाशी पद का प्रभु होगा—अस्तु!"

वसन्त ने फिर जिज्ञासा की—

"ऐसे प्रबल पुण्य का अधिकारी होकर वह जीव अपने गर्भ-काल में अपनी माँ को ऐसे दारुण कष्ट देकर, आप भी ऐसी यातना क्यों झेल रहा है, भगवन्?"

"कर्मों की लीला विचित्र है, देवि! अपने विगत की दुर्धर्ष कर्म-श्रृंखलाओं से वह जीव भी तो बँधा है। पर इस बार वह उन्हें छिन्न करने का बल लेकर आया है। इसी से उपसर्गों से खेलते चलना उसका स्वभाव हो गया है। महानाश की छाया में चलकर अपनी अविनश्वरता को वह सिद्ध कर रहा है, वत्से!—कल्याणमस्तु!"

कहकर योगी ने फिर प्रबोधन का हाथ उठा दिया, और अपने आसन से चलायमान हुए। अंजना बाहर से नितान्त अचेत-सी होकर भूमि पर प्रणत थी। पर अपनी भीतरी चिन्मयता में इस क्षण वह योगी की आत्मा के साथ तदाकार हो गयी थी। योगी जब गमन को उद्यत हुए तो अंजना को एक आघात-सा लगा। आगे बढ़कर उसने गमनोद्यत योगी के चरण पकड़ लिये और आँसू-भरे कण्ठ से बिनती कर उठी—

"देव, शरणागता अनाथिनी को—इस विजन में यों अकेली न छोड़ जाओ।........अब धीरज टूट रहा है, प्रभो!......मैं बहुत एकाकिनी हुई जा

रही हूँ........मुझे बल दो, प्रभो, मुझे शरण दो, मुझे अभय दो !"

योगी फिर मुसकरा आये और उसी अप्रतिम वात्सल्य के स्वर में बोले—

"अंजनी, समर्थ होकर कातर होना तुझे नहीं शोभता। सब कुछ जानकर, तू मोह के वश हो रही है ? शरण, लोक में किसी को किसी की नहीं है। आत्मा में लोक समाया है, फिर एकाकीपन की वेदना क्यों ? इसलिए कि लोक के साथ हम पूर्ण ऐकात्म्य नहीं पा सके हैं। उसी को पाने के लिए आत्मा में यह जिज्ञासा, मुमुक्षा और व्यथा है। उसी प्राप्ति का विराट् द्वार है यह विजन। एकाकीपन की इसी उत्कृष्ट वेदना में से मिलेगी, वह परम एकाकार की चिर शान्ति। उपसर्ग, कष्ट, बाधाएँ जो भी आयें, अविचल उनमें चली चलो। यह तुम्हारी जय-यात्रा है—अन्तिम विजय निश्चित तुम्हारी ही है। पर द्वार तो पार करने ही होंगे, परीक्षा तो देनी ही होगी। रक्षा और त्राण अपने से बाहर मत खोजो, वह अपने ही भीतर मिलेगा !—कल्याणमस्तु !"

कहकर मुनि निमिष-मात्र में आकाश-मार्ग से गमन कर गये। आसन्न रात्रि के घिरते अँधेरे को चीरती हुई प्रकाश की एक रेखा वनान्तर को उजाला कर गयी। दोनों बहनों ने भीतर अपने को प्रकृतिस्थ और स्वस्थ पाया। मुनि की समाधि से पावन उस भूमि की धूलि लेकर उन्होंने माथे पर चढ़ायी और उस गुफा को अपना आवास बनाया। उन्होंने पाया कि अपनी मोर-पिच्छिका और कमण्डलु मुनि वहीं छोड़ गये हैं, मानो बिना कहे रक्षा का कवच छोड़ गये हैं। दोनों बहनें अपने-आपमें मौन सुख और आश्वासन से मुग्ध हो रहीं। वसन्त ने पिच्छिका से गुहा की कुछ भूमि बुहारकर स्वच्छ कर ली। फिर आस-पास से कुछ तृण-पात तोड़कर उसने अंजना के और अपने लिए शय्या बिछा ली। तदनन्तर कमण्डलु ले नदी के प्रवाह पर चली गयी। स्वयं मुँह-हाथ धो जल पिया और अंजना के लिए कमण्डलु में जल भर लायी।

दोनों बहनें निवृत्त होकर जब थकी-हारी अपनी तृण-शय्या पर लेट गयीं, तब रात्रि का अँधेरा चारों ओर घना हो गया था। शून्य में साँय-साँय करता पवन रह-रहकर बह जाता है। जल का ही एक प्रच्छन्न अविराम रव उस निर्जनता में व्याप्त है, अन्य सारी ध्वनियाँ उसी में समाहित हो गयी हैं। रह-रहकर कभी कोई जलचर विचित्र तीखा स्वर कर उठता है। दूर-दूर से आती स्यालों की

पुकारें उस विजन को और भी भयानक कर देती हैं। अनागत उपसर्गों की अशुभ आशंका पल-पल मन को थर्रा देती हैं। साँय-साँय करते ध्वान्त में अनेक विकराल आकृतियाँ उठ-उठकर मन में नाना विकल्प जगाती हैं। किसी अपूर्व आविर्भाव का भाव चारों ओर के सघन शून्य में रह-रहकर भर उठता है।

पंचमी का चन्द्रमा दूर पर्वत-शिखर के गुल्मों में से उग रहा है। अंजना को जैसे उसने मुसकराकर टोक दिया—'मानो कह रहा हो—क्या मुझे भूल गयीं? अच्छी तो हो न? बड़ा वक्र और खतरनाक रास्ता चुना है तुमने—और उसी पर मुझे भी भेजा है—! विश्वास रखना उस राह में च्युत नहीं हुआ हूँ—जब तुम्हारी कामना की जय पा लूँगा, तभी लौटूँगा तुम्हारे पास—अभी ठहरना नहीं है....।' फिर अंजना ने आकाश पर दृष्टि डाली: आगे-आगे योग-तारा ऊर्जस्व गति से ऊपर भागी जा रही थी, और पीछे उसे पकड़ पाने को बंकिम चन्द्र दौड़ रहा था!—विरह की शूल-शय्या फूलों से भर उठी। अंजना ने सुख से विह्वल हो, वसन्त को पास खींच, छाती से दाब-दाब लिया। उस परम मिलन के सुख में वह तल्लीन हो गयी, जिसमें विच्छेद कभी होता ही नहीं है। और जाने कब दोनों बहनें गहरी नींद में अचेत हो गयीं।

....सवेरे की ब्राह्म-वेला में अंजना फिर प्रभात-पंछी का पहला गान सुनकर जाग उठी। कमण्डलु में से थोड़ा जल लेकर स्वच्छ हो ली और आत्म-ध्यान में निमग्न हो गयी। झरने का अखण्ड घोष भीतर की प्राणधारा का अनहद नाद हो गया। चिर दिन की पाषाण-शृंखलाओं को तोड़कर चला आ रहा है वह आलोकपुरुष, अरोक और अनिरुद्ध। इस जल-प्रवाह का निर्मल चीर वह पहने है, फेनिल, हलका और उज्ज्वल....।

ऊषा की पहली स्वर्णाभा में नहाकर प्रकृति मधुर हो उठी। शैल-घाटियाँ पंछियों के कलगान से मुखरित हो गयीं। झरने की चूड़ा पर स्वर्ण-किरीट और मणियों की राशियाँ लुटने लगीं।

अंजना ने भूमि पर आनत हो चारों दिशाओं में नमस्कार किया और धीर गति से चलकर, प्रवाह की एक ऊँची शिला पर जा बैठी। मन ही मन मुदित हो वह कह रही थी—'........यही है तुम्हारा राज-पथ? इस अगम निर्जन में, जहाँ मनुष्य के पद-संचार का कोई चिह्न नहीं, फैली है तुम्हारी लीला-भूमि?—

ओ कौतुकी, विचित्र है तुम्हारा इन्द्रजाल ! ऊपर के शून्य में महाकाल का आतंक अपनी बाँहें पसारे है; वहाँ से इन खाइयों में झाँकते प्राण काँप उठते हैं। और भीतर है यह देवरम्य कल्प-कानन की मोहन-माया ! चारों ओर चल रहा है दिन-रात कुसुमोत्सव। पहली ही बार आज तुम्हारे असली रूप को जान सकी हूँ, ओ मायावी !—दुखों की विभीषिकाओं में तुम पुकार रहे हो, मेरे सुन्दर !—और हम तुम्हें क्षणिक सुखों के छद्मावरणों में खोज रहे हैं........?'

....वसन्त को चिन्ता थी घर बसाने की। सबसे पहले वह अंजना के लिए पान-भोजन का आयोजन किया चाहती है। अपार फैली है यहाँ प्रकृति की दाक्षिण्यमयी गोद : रसा ने अपने भीतर के रस को यहाँ अक्षत धारा से दान किया है। पर्वत के ढालों और तटियों में अनेक वन्य-फलों के भार से वृक्ष लदे हैं। चारों ओर वहाँ रसवन्ती चू रही है। घूमती हुई वसन्त वहीं पहुँच गयी। ताड़ और भोज-वृक्ष के बड़े-बड़े पत्तों में वह यथावश्यक फल भर लायी। अशोक की एक-दो डालें लाकर उसने गुहा-द्वार के आस-पास मंगल-चिह्न के रूप में सजा दी। वन-लताओं और फलों से अंजना की शय्या को और भी सुखद और सुकोमल बना दिया। दूर-दूर की घाटियों में खोज-ढूँढ़कर, विशद तनोंवाले वृक्षों की चिकनी और अपेक्षाकृत मुलायम छालें वह उतार लायी। आज से यही होंगे उनके वस्त्र। गुफा में लौटकर जब भीतर की सारी व्यवस्था उसने कर ली, तब छालें लेकर वह प्रवाह पर जा पहुँची और अंजना को पुकारा। एक स्थल पर जहाँ धारा ज़रा सम थी, एक स्निग्ध शिला पर अंजना को बिठाकर वह उसे स्नान कराने लगी। शीत-ऋतु का सवेरा काफ़ी ठण्डा था, पर धारा का जल ऊष्म और सुगन्धित था। बहुत-सा जल एक बार अंजना के शरीर पर डालकर, वसन्त बहुत ही सावधानी से क्षतों पर लगे गाढ़े और रूखे रक्त को, डर-डरकर, रुक-रुककर, धोने लगी। हँसकर अंजना बोली—

"डरती हो जीजी, हैं........ऐसे कहीं स्नान होगा। यह राज-मन्दिर का स्नानगृह नहीं है, जीजी, जहाँ सयत्न और सायास शरीर का मार्जन किया जाता है। यह तो प्रवाह की सर्व कलुष-हारिणी मुक्त धारा है, जो अनायास देह और देही को निर्मल कर देती है।........हाँ, जान रही हूँ, तुम क्षतों के छिल जाने के भय से डर-डरकर उँगलियाँ चला रही हो; पर किस कठोरता से यह शरीर

छिलना बाक़ी रहा है, जो तुम्हारी अंगुलियों से इसके क्षत दुख जायेंगे !"

कहकर अंजना, वसन्त का हाथ खींच धारा में उतर गयी। वक्ष तक गहरे पानी में जाकर अपने ही हाथों से शरीर को खूब मल-मलकर वह नहाने लगी और वसन्त को भी नहलाने लगी। जल की उस ऊष्म-शीतल धारा में वे ऐसी क्रीड़ारत हो गयीं कि जैसे कल्प-सरोवर में नहाकर अपने सारे घाव, क्लान्ति और श्रान्ति को भूल गयी हों। मन-भर नहा चुकने पर, उन्होंने कटि पर के जर्जर, मलिन वसन दूर के गुल्म-जालों में फेंक दिये। निर्वसन, नग्न, प्रकृति की वे पुत्रियाँ, मुख पर से केश हटाती हुई, अपने तरु-छालों के नवीन वसनों को खोजने लगीं। मन में कोई लज्जा, मर्यादा, कोई रोक-संकोच का भान ही मानो नहीं है। वल्कलों को शरीर पर लपेट, जब धूप में वे अपना तन और केश-भार फैलाकर सुखा रही थीं, तभी एकाएक उन्होंने शरीर में एक ऐसी अद्भुत शान्ति और आरोग्य अनुभव किया कि अचरज से भरकर वे एक दूसरे को देखती रह गयीं।

"ओ जीजी, यह क्या चमत्कार घटा है, जरा तुम्हीं बताओ न! कहाँ गये हैं वे सारे घाव जिनसे काया कसक रही थी ?"

बालिका-सी कौतूहल की चंचल दृष्टि से अंजना पूछ उठी।

"सचमुच, अंजन, लगता है कभी कोई क्षत मानो लगा ही नहीं है। झरने के पानी में अनेक वनौषधियों और धातुओं का योग जो हो जाता है, उसी से जाने कितने न गुण इस जल में आ गये हैं, सो क्या ठीक है।"

गुफा पर आकर वन-कदली के पत्तों से दोनों ने अपने वक्ष-देश बाँध लिये। वसन्त ने उँगलियों से सुलझाकर अंजना की उस अबन्ध्य केशराशि को फिर एक बड़े-से जूड़े में बाँधने का एक सफल-विसफल यत्न किया। उसके दोनों कानों में एक-एक कुसुम की मंजरी उरस दी। फिर दोनों बहनें अपूर्व सुख का अनुभव करती हुई, फलाहार करने बैठ गयीं।

[२७]

उस दिन वन के गहन में यों नया जीवन आरम्भ हो गया। अंजना वन-भ्रमण को चली जाती और वसन्त जीवन की आवश्यकताएँ जुटाने में रत रहती।

आविष्कार की बुद्धि उसकी पैनी हो चली है। जीवन के एक सुघर शिल्पी की तरह उस गुहा में उसने धीरे-धीरे एक घर का निर्माण कर लिया। मोटी छालों के टुकड़ों को खोदकर दो-चार पात्र भी बना लिये गये हैं। नारियल की छालों से उसने अंजना के और अपने लिए पादुकाएँ बना ली हैं। कास की सीकों को आपस में बुन-बुनकर अंजना के लिए उसने एक मसृण और सुख-स्पर्श शय्या बना दी है। साँझ के झरे हुए फूल अथवा केसर, फूल-वनों से लाकर वह उसकी शय्या में डाल देती। धीरे-धीरे उसने कास के फूल, कमल-नालों के तन्तु और तरु-छालों के कोमल रेशों से बुनकर अंजना के लिए कुछ वसन भी बना दिये हैं। चँवरी गायों के चँवर जंगल में से बीन लाकर उन्हें पानी से जमा-जमाकर कुछ ओढ़ने के आस्तरण बन गये हैं। पर ऋतु के आघात से बचने के ये साधन अंजना को बहुत कुछ रुचिकर नहीं हैं, इसी से वे एक ओर पड़े हैं। प्रसव के दिन ज्यों-ज्यों निकट आ रहे हैं, वसन्त के मन में उत्सव और मंगल के अनेक आयोजन चल रहे हैं। सवेरे के भोजन-पान से निवृत्त हो, वन के दूर-सुदूर प्रदेशों में वह खोज-बीन करती चली जाती है। वन्य-सरोवरों से कमलों का पराग और केशर पा जाती है तो कभी अंजना को उसी से स्नान कराती है। फूलों की रेणु से वह उसका अंग-प्रसाधन कर देती है। पहाड़ों में झरते सिन्दूर से उसकी माँग भर देती और लिलार में पत्र-लेखा रच देती है। मृग-कानन से कस्तूरी और कदली-वन से कर्पूर पा जाती है तो उससे अंजना के केश बसा देती है। कानों में उसके नीप-कुसुम और सिन्धुवार की मंजरियाँ उरस देती। केशों पर, हस्ति-वनों से मिलनेवाले गज-मोती की एकाध माला अथवा फूलों का मुकुट बनाकर बाँध देती है। सारा सिंगार हो जाने पर वह अंजना का लिलार सूँघकर दुलार के आवेग में उसे चूम लेती। तब चाहकर भी उससे बोला न जाता, मन उसका भर आता। केवल अंजना की ओर देख अन्तर के घने और प्रच्छन्न स्नेह से मुसकरा भर देती।

....और सुहागिनी अंजना भावी मातृत्व के गम्भीर आविर्भाव से नम्रीभूत हो जाती। सिंगार-प्रसाधन अंजना की प्रकृति में कभी नहीं था, और आज तो वह उसे सर्वथा असह्य था। पर भीतर ही भीतर वह समझ रही थी कि यह सिंगार अंजना से अधिक, उस अनागत अतिथि के स्वागत में उसकी माता का

है। तब उसकी सदा की निरी बालिका प्रकृति उस मातृत्व के बोध से आच्छन्न होकर जैसे क्षण भर में तिरोहित हो जाती। वह नीचा माथा किये ससंकोच सब कुछ करा लेती। और तब चली जाती वह अकेली ही अपने भ्रमण के पथ पर—वन के अन्तःपुरों में। किसी वन्य-सरसी के निस्तब्ध तीर पर, किसी शिलातल पर जा बैठती। उसके स्थिर जल में अनायास अपना प्रतिबिम्ब देख, वह अपने से ही लजा जाती।—वन की शाख-शाख और पत्ते-पत्ते से वह कौन झाँक उठा है? अपनी ही छवि नव-नवीन रूप धरकर अपने ही भीतर के रमण में लीलायित है। समर्पण की विह्वलता जितनी ही अधिक बढ़ती जाती है, रूप की सीमा लय होती जाती है। और तब आ पहुँचता है अनन्त विस्मृत का क्षण....

....दूर-दूर की कन्दराओं, घाटियों और गिरि-कूटों से मुनि की भविष्य-वाणी गूँजती सुनाई पड़ती है। और नदी-प्रवाह के किनारे-किनारे चलती अंजना, दूर-दूर के अज्ञात प्रदेशों में भटक जाती है।

ज्यों-ज्यों यह पहाड़ी नदी आगे बढ़ती गयी है, तलहटी का प्रदेश अधिकाधिक विस्तृत और रम्य होता गया है। आगे जाकर नदी वृक्षों की संकुलता और पाषाणों की बीहड़ता से निकलकर, खुले आकाश के नीचे खूब फैलकर बहती है। उसके प्रशस्त ऊर्मिल वक्ष पर गिरि-मालाएँ अपनी छाया डालती हैं। किनारे उसके विपुल हरियाली और स्निग्ध वनराजियाँ दूर तक चली गयी हैं।

मध्याह्न का सूर्य जब माथे पर तप रहा होता, तब अंजना वन-श्री के बीच किसी उन्नत शिला पर आकर लेट जाती। राशि-राशि सौन्दर्य और यौवन से भरी धरणी सुनील महाकाश के आलिंगन में बँधी, एकबारगी ही अंजना की आँखों में झलक उठती। अनेक रंगों का लहरिया पहने पृथ्वी के चित्र-विचित्र पटल दूर-दूर तक फैले हैं, और उनमें धुँधली होती वृक्षावलियाँ दीख पड़ती हैं। दोनों ओर दिगन्त के छोरों तक चली गयी हैं ये शृंग-लेखाएँ। और इस सबके बीच नाना भंगों में अंग तोड़ती अजस्र चली गयी है यह नदी की सुनील धारा। अंजना का सारा अन्तःकरण इस नदी की लहरों में नाचता चला जाता है: वहाँ—जहाँ एक गहरी नीली धुन्ध के रहस्यावरण में पृथ्वी की विचित्र रूप-मयता, आकाश की एकरूपता में डूब गयी है! क्षितिज की रेखा भी वहाँ नहीं दिखाई पड़ती....।

प्रकृति की अपार रमणीयता एक साथ अंजना की शिरा-शिरा में खेलने लगती। अँगड़ाइयाँ भरती हुई वह उठ बैठती। अपराजित यौवन से वक्ष उभरने लगता। दिशाओं की बादल-वाहिनी दूरी उसकी आँखों में सपने भर देती। चंचल दुरन्त बालिका-सी वह चल पड़ती। नाना लीला-विभ्रमों में देह को तोड़ती-मरोड़ती, शिलाओं और गुल्मों के बीच नाचती-कूदती, वह नदी के पिंगल बालुकामय तट पर आ जाती। कास के अन्तराल में लहरें बिछल रही हैं और किरणें नदी की माँग में सोना भर रही हैं। कुछ दूर चलकर नदी के पुलिन में लवली-लताओं के कुंज छाये हैं। किसी तटवर्ती वृक्ष के सहारे, दो-चार विरल वल्लरियाँ नदी की लहरों को चूमती हुई झूल रही हैं। उनमें बैठी कोई एकाकी चिड़िया दुपहरी का अलस गान गा रही है। और भीतर लवली-कुंज की गन्ध-विधुर, मदालस छाया में, सारसों का युगल, कुसुम की शय्या पर केलि-सुख में मूर्च्छित है। ऊपर से निरन्तर झरती पराग की चादर में वे एकाकार हो गये हैं। अंजना जैसे उनके रति-सुख के गहन मौन में होकर चुपचाप छाया-सी निकल जाती। वह नहीं होती उनके सुख की बाधा, वह तो उसी की एक हिलोर बनकर उसमें समा जाती।

अमित उल्लास से भरकर वह आगे चल पड़ती। कहीं तटवर्ती तमालों की घटा में मेघों के भ्रम से विकल और मुग्ध होकर चातक कोलाहल मचा रहे हैं। कहीं हरित मरकत-से रमणीय वृक्ष-मण्डप हारीत पक्षियों के गुंजार से आकुल हैं। चम्पक-कुंजों की शीतल छाया में भृंगराज पक्षी, ऊपर से झरती पराग के पीले आस्तरण में उन्मत्त पड़े हैं। घने अनारों के पेड़ों की कोटरों में चिड़ियाएँ अपने सद्य-जात शिशुओं को पंखों से ढाँककर सहलाती और प्यार करती हैं।.... अंजना को लगता कि वक्ष पर बँधे वल्कल के भीतर एक लौ-सी जल उठी है। भीतर से निकलकर अन्तर की एक ऊष्मा मानो आस-पास की इन सारी चेष्टाओं को अपने भीतर ढाँक लेना चाहती है। कहीं कबूतरों के पंखों की फड़फड़ाहट से सुर-पुन्नाग की कुसुम-राशियाँ झर पड़ती हैं। अंजना चौकन्नी होकर अपने शरीर को देखती रह जाती है। पराग और अनेक वर्णी फूलों की केशर से देह चित्रित हो गयी है। वह तल में बैठ जाती है, और ऊपर से झरते फूलों की राशियों को अपनी बाँहों में झेल-झेलकर उछाल देती है। कबूतरों में लीला

का उल्लास बढ़ जाता है, वे और भी ज़ोर-ज़ोर से शाखाएँ हिलाकर ऊधम मचाते हैं। नीचे फूलों की वर्षा-सी होने लगती है। अंजना उस कुसुम-चित्रा भूमि में लोट जाती है। उसकी सारी देह फूलों की राशि में डूब जाती है। फिर कबूतर नीचे उतरकर उसकी निश्चल देह पर कूद-कूदकर खेल मचाते हैं। धीरे-धीरे वे कबूतर उससे हिल चले थे। उसके केशों और कन्धों पर वे जहाँ-तहाँ से उड़कर आ बैठते। कत्थई, नीले, भूरे, जामनी कबूतरों के अलग-अलग नाम अंजना ने रख दिये थे। कहीं भी दूर की डाल पर कोई कबूतर दीख जाता तो अंजना नाम लेकर पुकार उठती। कबूतर उड़कर उसकी फैली हुई भुजा पर आ बैठता और उसके कण्ठ में चोंच गड़ा-गड़ाकर, परिष्वंग करता हुआ गुटुर-गुटुर करने लगता। सिन्धुवार और वासन्ती वृक्षों के शिखरों में चित्र-विचित्र मैनाएँ आतीं; और सामने के शिंशपा और मधूक वृक्षों की डालों पर तोतों का जमघट हो जाता। जाने कितनी जल्पनाओं और गानों में उनका वार्तालाप होता। सारी वन-भूमि नाना ध्वनियों से मुखरित हो उठती। दोपहरी की अलस स्तब्धता भंग हो जाती। अंजना का मन अर्थ-हारा और निःशब्द होकर इस अखण्ड भाषा की एकता के बोध में तल्लीन हो जाता।

पर्वत के पाद-मूलों में ऊपर से आती पानी की झरियों से सिंचकर फलों के नैसर्गिक बाग़ झुक आये हैं। फलों के भार से नम्र वहाँ की भूमिशायिनी डालों को देख अंजना को अपना चांचल्य और उच्छलता भूल जाती। उसका अंग-अंग उमड़ आते रस-सम्भार से शिथिल और आनत हो जाता। शिरा-शिरा में आत्मदान की विवश आकुलता घनी होती जाती। एक अनिवारित ज्वार के हिलोरों से स्तन उफना आते। वन-कदली का कंचुकि-बन्ध छिन्न होकर अनजाने ही खिसक पड़ता। उबासियाँ भरती हुई अलस और विसुध होकर वह उस फल-विचुम्बित भूमि पर अपनी देह को बिछा देती। विपुल फलों के झुमकों से झुक आयी डालों को अपने स्तन और भुजाओं के बीच वह दाब-दाब लेती, होंठों और गालों से सटाकर उन्हें चूम-चूम लेती, पलक और लिलार से उन्हें रभस करती। उसे लगता कि पृथ्वी अपने सम्पूर्ण आकर्षण से उसे अपने भीतर खींच रही है, और उतने ही अधिक गम्भीर संवेग से दान का अनवरत स्रोत उसके वक्ष में से फूट पड़ने को विकल हो उठता। एकबारगी ही फलों का समूचा बाग़ इस

रस-सन्धान से सिहर उठता। ऊपर की शाखाओं में अलस भाव से फलाहार कर रहे वानरों की सभा भंग हो जाती। शाखा-प्रशाखा में कूदते-फाँदते वे तल में आ पहुँचते। शुरू में तो कुछ दिन वे अंजना से डरकर दूर भाग जाते, पर अब वे उसे चारों ओर से घेरकर बैठ जाते हैं। अंजना के उस गोरे और सुकोमल शरीर को अपने तीखे नखोंवाले काले पंजों से दुलराने का मुक्त अधिकार वे सहज पा गये थे। पायताने बैठ कुछ वानर उसके पैर दबाने लगते। उनमें से कुछ सिरहाने बैठकर उसके दीर्घ और उलझे केशों को अपनी उँगलियोंसे सुलझाने लगते। कुछ ऊपर की डाल से तोड़कर, एकाध फल उसके होंठों से लगाकर उसे खिलाने की मनुहार करते, उसके वे हठीले सहचर तबतक नहीं मानते, जबतक उनके हाथ से वह दो-चार फल खा न लेती। हँस-हँसकर अंजना के पेट में बल पड़ जाते—और सारी देह उसकी लाल हो जाती। जाने कैसे प्रणय और वात्सल्य की मिश्र लज्जा और विवशता से उसका रोयाँ-रोयाँ उभर आता। आँखें मूँदकर उनके तीखे नखवाले पंजों को अपने उद्भिन्न स्तनों से अनजाने ही दाब लेती। भीतर की घुण्डियों से बिखर कर रक्त जैसे किसी अनायास क्षत में से बह आने को उच्छल हो उठता। काल के जाने किस अविभाज्य अंश में एकबारगी ही वह उन सब की जननी और प्रणयिनी हो उठती।

........द्राक्ष के कुंजों और कदली-वनों में नीलकण्ठ और पीत-कण्ठ पक्षियों के आवास हैं। अलसाती और उबासियाँ भरती अंजना वहीं पहुँचकर दोपहरी का शेष भाग बिताती। उन पक्षियों के घोंसलों तले लेटते ही उसे नींद लग जाती। निश्चिन्त और अभय होकर रंग-बिरंगे पंछी आकर उसकी देह पर फुदकते और क्रीड़ा करते। रह-रहकर अंजना की नींद भंग हो जाती। पर वन के इन सलोने राजकुमारों को जब चित्र-विचित्र पंखों की माया फैलाकर अपने ऊपर निछावर होते देखती, तब उनके आनन्द में आप भी चुपचाप योग देने के सिवा वह और कुछ न कर पाती। उनकी नाना तरह की बारीक बोलियों में सुर मिलाकर वह भी उनसे कुछ बोलती-बतराती। और उस आनन्द की अर्थहीन निष्प्रयोजन तुतलाहट में मन के जाने कितने अनिर्वचनीय भाव और सन्देशे वह उन पंछियों के अज्ञान मनों में पहुँचा देती। यह ऊपर का स्वरालाप तो एक लीला-भर थी, पर भीतर के वेदन-संवेदन में होकर प्राण का संगोपन

जाने कब हो गया था, सो कौन जान सकता है ?

........उपत्यका के प्रदेश में कहीं वेतस की बेलों के प्रतानों में घने बाँस हैं। कहीं शाल्मली और शाल वृक्षों की क़तारें मण्डलाकार सहेलियों-सी एक-दूसरे से गुँथी खड़ी हैं। यहाँ आते ही अंजना को वे बालापन के दिन फिर याद हो आते—वे रास, नृत्य और झूमरें, वे सखियों के साथ बाँह से बाँह गूँथकर होनेवाली गोपन-वार्ताएँ, वे किशोर मन के छलघात और जिज्ञासाएँ, वे भीतर ही भीतर कसककर रह जानेवाले अबोध प्रश्न !—आँखों में आँसू अनजाने ही उभर आते—। उन वृक्षों की गुँथी डालों में झूलती हुई फिर एक बार आँख मूँदकर वह झूमर-सी ले उठती।—हिंडोल-भरे राग का स्वर कण्ठ में आकर रुँध जाता। वृक्षों की अलस मरमराहट में होकर फिर वह क्षण काल के उसी अतीत तीर पर लौट जाता। वह फिर वैसी ही बिछड़कर अपने अकेलेपन में डोलती रह जाती। तभी उन शाल और शाल्मलियों के अन्तराल में झाँकता कोई वन्य-सरोवर उसे दीख पड़ता। उसके किनारे शिलाओं के नैसर्गिक और रम्य घाट बने हैं। ऊपर बकुल और केतकी की झाड़ियाँ झुक आयी हैं। उनसे झरते पराग और फूलों से ताल की सीढ़ियाँ ढकी हैं। पानी की सतह भी उससे दूर-दूर तक छा गयी है। तो कहीं उस दूसरे किनारे पर हरसिंगार और गुलमौर झर-झरकर तट की सारी भूमि और किनारे का जल-प्रदेश केशरिया हो गया है। इसी घाट में बैठकर अंजना अपना तीसरा पहर प्रायः बिताया करती। यह केशरिया भूमि देख उसे लगता कि जाने कब, जाने किसी अमर सुहागिनी ने अपने प्रिय के साथ इस एकान्त तट में रमण किया होगा। और उसी सौभाग्य के चिह्नस्वरूप आज भी यह भूमि उनके चिर नवीन सौन्दर्य की आभा से दीप्त है। उस अविजानित अमर सुहागिन के उस लीलारमण के साथ तदाकार होकर वह जाने कब तक उस भूमि में सोयी पड़ी रह जाती। शाल और सल्लकी की सुगन्ध-निबिड़ छाया में प्रमत्त होकर वहाँ जंगली हाथी और हथिनियों के झुण्ड दिन-भर ऊधम मचाते रहते। कभी-कभी वे तालाब में आ पड़ते और तुमुल कोलाहल करते हुए, सूँड़ों में पानी भर-भरकर चारों ओर की वन-भूमि में फ़व्वारे छोड़ते। जब वे पानी की बौछारें और उनकी क्रीड़ा का जल उछलता—तो उसमें नहाकर अंजना अपने को कृतार्थ पाती। हर्ष से किलकारियाँ करती हुई वह भी उनके क्रीड़ा-कलरव की सहचरी

हो जाती। हाथियों के गालों से निरन्तर झरते मद-जल और शैवाल-पल्लवों से आस-पास की वन-भूमि श्याम हो गयी है। हस्ति-शावकों के साथ वहाँ तालियाँ बजा-बजाकर वह आँख-मिचौनी खेलती। जब वे थल-थल दौड़ते हुए हस्ति-शावक अंजना को पा जाते तो अपनी सम्मिलित सूँड़ों से पकड़कर उसे अपनी पीठ पर बैठाने को होड़ा-होड़ी करते।

पहाड़ के ढालों पर भोज, सप्त-पत्र, सुपारी और कोष-फल की वन-लेखाएँ, अनेक सघन बीथियाँ बनाती हुई ऊपर तक चली गयी हैं। कहीं सारा पहाड़ चन्दन के वन से पटा है, तो कहीं लवंग और किंशुक से पर्वत-घाटियाँ आच्छादित हैं। दिन-रात सुगन्ध से पागल समीरण पर्वत-ढालों में अन्ध-सा बहता रहता है। भ्रमरों के अलस गुंजार और रह-रहकर उड़नेवाले पत्रों की मर्मर उच्छ्वास में बन के प्राण का मर्म-संगीत निरन्तर प्रवाहित है।

....अरोक अंजना ढालों की उन बीथियों में चलती जाती। और चलते-चलते जहाँ कहीं भी उसे किसी अगम्यता का बोध होता, कोई रहस्यमय या संकुल प्रदेश दीखता, उस ओर वह खिचती चली जाती। निबिड़ वनस्पतियों से घनीभूत घाटियों में जहाँ पैर रखने को भी राह नहीं सूझती है, वह झाड़-झंखाड़ों को लाँघती-फाँदती चली ही जाती। चारों ओर दिन के प्रखर उजाले के बीच वह अँधेरी गुहा दिखाई पड़ रही है। मानो असंख्य रात्रियों का पुंजीभूत अन्धकार वहीं आकर छुप गया है। गुफा की अतल गम्भीरता में से कुछ घहराता, गरजता सुनाई पड़ता है। देखते-देखते वह ऊँचा और मन्द गर्जन, दुस्सह और भयानक हो उठता। वन-भूमि थर्रा उठती। और अंजना को एक सोनहरी झलक झंखाड़ों में से ओझल होती दीख पड़ती। तो कहीं झाड़ियों में डूबे उसके पैरों में, कोई विपुल लोम का स्पर्श उसकी पिंडलियों को सहलाता हुआ सर्र से निकल जाता! फिर सब शान्त हो जाता। वह फुदकती, कूदती अपनी राह लौट आती। शरीर में रह-रहकर एक सिहरन-सी फूट उठती है। वह पुंजीभूत अन्धकार, वह सोनहरी झलक, वह लोम-स्पर्श फिर पैरों को पीछे खींचता है—कि वह जाने तो,—कौन रहता है वहाँ....? उससे साक्षात् करने की उसकी बड़ी इच्छा है। पर अब देर हो गयी है, शाम हो आयी है, जीजी बाट देखती होंगी। लेकिन जरा आगे चलकर रास्ते में उसे मरे हुए हाथियों की लाशें मिलती हैं। उसे अनुमान होता है

कि किसके आवास से लौटकर वह आयी है—! ईषत् मुसकराकर वह अपनी ही खिल्ली उड़ा देती। सिंह के पंजों से विदारित हाथियों के कुम्भस्थलों के रक्त में पड़े अनेक रंगों की आभावाले मोती राह में दिखाई पड़ते हैं। तो कहीं ढाल में जल-धाराओं के सूखे पथ दीखते हैं। उनमें ऊपर से बह आयी बहुरंगी बालू और उपलों में स्वर्ण की धूलि और रत्नों के कण चमकते दीख पड़ते हैं। उन मोतियों और स्वर्ण-रत्न की धूलि को खेल-खेल में पैरों से उछालती हुई अंजना द्रुत पग से पहाड़ उतर चलती।

लौटते हुए राह में वह चन्दन का वन पड़ता है। रात में चाँद की किरणों के स्पर्श से चन्द्रकान्त शिलाएँ पर्वत-शिखर पर पिघलती हैं। वहाँ से जल के निर्झर बहते रहते हैं। उस जल के सिंचन से वनौषधियाँ दिव्य हो गयी हैं। चन्दन-वन के काले भुजंग उन औषधियों के जालों में घूम-घूमकर निर्विष हो गये हैं। उनकी मणियाँ यहाँ सहज, सुप्राप्त चारों ओर बिखरी मिलती हैं। रलमलाते हुए साँप पैरों के पास से निकल जाते हैं—अंजना रुककर देखने लग जाती है—तभी फन उठाकर मणिधर भुजंग वन्दन करता है। वत्सल-स्निग्ध नयनों से मुसकराकर वह उसके फन पर हाथ रख देती और आगे बढ़ जाती।

........अंजना अपनी गुफा को लौटती हुई रास्ते में सोचती। सृष्टि में चारों ओर दान और दाक्षिण्य का मुक्त यज्ञ चल रहा है। सभी अपने आपको दान कर यहाँ सार्थक हो रहे हैं। अभिमान यहाँ चूर-चूर होकर भूमिसात् हो जाता है। चारों ओर फैली पड़ी हैं दान की अमूल्य निधियाँ। सर्व-काल वे सुलभ और सुप्राप्त हैं। पर नहीं जागता है उन्हें उठाकर पास रखने का लोभ। सब-कुछ यहाँ सदा अपना है। सहज ही एक भाव मन में विराजता है : इस भीतर और बाहर के समस्त चराचर के हमीं जैसे निर्बाध स्वामी हैं। यह सब हममें है, और हम इस सबमें कहाँ नहीं हैं? फिर लोभ कैसा, हिंसा क्यों, संग्रह का भाव क्यों?

...एक दिन ऐसे ही अपने भ्रमण में अंजना वसन्त को साथ लेकर एक पर्वत-घाटी में घूम रही थी। नाग और तिलक वृक्षों से ढाल पटा था। उनकी जड़ों में उगकर वन-मल्लिकाओं के वितान चारों ओर छा गये थे। एक जगह भूरे पाषाणों की कुछ सीढ़ियाँ दीखीं। आस-पास की ऊँची-नीची चट्टानों में किंशुक की लाल पराग में भीगे चकोरों के जोड़े बैठे थे। चट्टान के एक पटल में एक

चतुष्कोण गहराई-सी दीखी। ऊपर जाकर पाया कि उसमें मल्लिका के फूलों का एक स्तूपाकार ढेर समाधि-सा पड़ा है। उसके ऊपर एक मस्तक की आकृति-सी झाँकती दिखाई पड़ी। उत्सुकतावश अंजना ने वह मल्लिका के फूलों का स्तूप हटा दिया।—भीतर से एक बड़ी ही मनोज्ञ, विशाल पद्मासन मूर्ति पहाड़ में खुदी हुई निकल आयी। मूर्ति अनेक पानी की धाराओं और ऋतुओं के आघातों से काफ़ी जर्जर हो चुकी थी। पर उस मुख की कोमल, सौम्य भाव-भंगिमा और उन मुद्रित होंठों के बीच की वीतराग मुसकान अभी भी अभंग थी। लगता था कि मूर्ति के ये होंठ जैसे अभी-अभी बोल उठेंगे। ऐसी जीवन्त और मनोमुग्धकारी छवि है कि आँख हटाये नहीं हट रही है। उसके पाद-प्रान्त में एक हरिण चिह्नित था।....तीर्थंकर शान्तिनाथ! अंजना तो देखते ही हर्ष से पागल हो उठी। मन में गान की तरह एक भाव उच्छ्वसित हुआ—जो अनायास उसके होंठों से उत्स की तरह फूट पड़ा—

"....कौन सर्वहारा शिल्पी, किस दिव्य अतीत में आया था—इस मानवहीन अगम्य पार्वत्य भूमि में? किस दिन उसने महाकाल की धारा में अपनी टाँकी का आघात किया था?—पाषाण की इस वज्र-कठोरता में अपनी आत्मा की सारभूत कोमलता को वह आँक गया है! मानव की जगती से ठुकरायी हुई हृदय की सारी स्नेह-निधि वह एकान्त के इस पाषाण में उड़ेल गया है।—मल्लिका की शाखाओं में डोलती हुई हवाएँ इसपर निरन्तर फूलों के अर्घ्य चढ़ाती हैं, और शिखर पर से आती जल-धाराएँ इसका अभिषेक करती हैं। उस अज्ञात शिल्पी को शत-शत बार मेरे वन्दन हैं........!"

पास ही वह आये धातु-राग से अंजना ने अपने मन का वह गान नीचे की चट्टान पर लिख दिया। उस दिन के बाद से अनुक्षण यह गान अंजना के कण्ठ में गूँजता ही रहता। उसी क्षण से वह स्थल अंजना की आराधन-भूमि बन गया। सवेरे के स्नान के बाद यहीं आकर दोनों बहनें पूजा-प्रार्थना में तल्लीन हो जातीं। अंजना के कण्ठ से नित्य-नवीन गान फूटता। झाड़ की शाखा को धातु-राग में डुबाकर अपना गीत वह किसी भी शिला पर अंकित कर देती। मूर्ति के पाद में अपना गान निवेदन करती हुई अंजना नत हो जाती और दूर-दूर की कन्दराओं में उसकी प्रतिगूँज अनन्त होती चली जाती। दोनों बहनों की

मुँदी आँखों से आँसू झरते और भीतर मूर्ति की स्मिति अधिकाधिक तरल होकर फैलती जाती। एकाएक वे होंठ स्पन्दित होते दीख पड़ते और अंजना के अन्तर में वाङ्मय की धाराएँ फूट निकलतीं। गुहा में लौट, उपल के पात्र में सिन्दूर और स्वर्ण-राग लेकर, वह भोज-पत्रों के पन्ने के पन्ने रँग डालती। वह क्या लिखती थी, यह तो वह स्वयं भी नहीं जानती थी। देव की वाणी आप ही उन निर्जीव पन्नों में ढल रही थी।

यों दिन सुख से बीतते जाते थे। समय का भाव मन पर से तिरोहित हो गया था। जीवन प्रकृति के आँचल में आत्मस्थ और एकतान होकर चल रहा था। पर रात के अन्धकार में विचित्र जन्तुओं की आँखें झाड़-झंखाड़ों में चमकती और दहकती दीखतीं। कभी-कभी वन्य-पशुओं की भीषण हुंकारें सुन पड़तीं। दोनों बहनें एक-दूसरे से लिपट जातीं। उच्च स्वर में अंजना अपने रचे स्तवनों का पाठ करती और यों भय की घड़ियाँ टल जातीं। वे अचेत होकर नींद के अंक में पड़ जातीं।

एक दिन की बात : ऊपर सन्ध्या का आकाश लाल हो रहा था। अपने फलाहार से निवृत्त होकर अंजना और वसन्त अभी-अभी गुफा के बाहर आकर खड़ी हुई थीं।—कि एकाएक दहाड़ता हुआ एक प्रचण्ड सिंह प्रवाह के उस पार आता हुआ दिखाई पड़ा। सोनहरी और विपुल उसकी अयाल है। उस प्रलम्ब पीली देह पर काली-काली धारियों के जाल हैं। काल-सी क्रूर उसकी भृकुटि के नीचे अंगारों-सी लाल आँखें झग-झग कर रही हैं। विकराल डाढ़ों में उसकी रौद्र जिह्वा लपलपा रही है। उसकी प्रलयकारी गर्जना से चारों ओर की वन-भूमि आतंक से थर्रा उठी। पशु-पक्षी आर्त क्रन्दन करते हुए, इधर से उधर झाड़ियों में दौड़ते दीखे। एक और लोमहर्षी हुंकार के साथ सिंह प्रवाह को लाँघ-कर ठीक गुहा के नीचे आ पहुँचा। सामने ही उन मानवियों को देखकर वह और भी भीषणता से डकारने लगा। एक छलांग भर मारने की देर है कि अभी-अभी वह गुफा में आ पहुँचेगा, और इन दोनों मानवियों को लील जायेगा। वसन्त अंजना को छाती में भर, भय से थर्राती हुई गुफा की दीवार में धँसी जा रही है। उसे अनुभव हुआ कि अंजना के गर्भ का बालक तेज़ी से घूम रहा है। मन ही मन वह हाय-हाय कर उठी—'हे भगवान्! यह क्या अकाण्ड घटने जा

रहा है ?—क्या इन्हीं आँखों से यह सब देखना होगा ?' अंजना ने समझ लिया कि मृत्यु का यह क्षण अनिवार्य है। दोनों की आँखों में लुप्त होती चेतना के हिलोरे आने लगे। मृत्यु की एक विचित्र-सी गन्ध उसके नाक में भरने लगी। एकाएक अंजना बोल उठी—

"जीजी, मृत्यु सम्मुख है!—काया का मोह व्यर्थ है इस क्षण—आत्मा की रक्षा करो। आर्त-रौद्र परिणामों से मन को मुक्त कर इस मृत्यु के सम्मुख अपने को खुला छोड़ दो। रक्षा इन पाषाणों में नहीं है—अपने ही भीतर है! देर हो जायेगी, जीजी, कायोत्सर्ग करो..."

कहकर अंजना अपने स्थान पर ही प्रतिमा-योग आसन लगा कर प्रायोपगमन समाधि में लीन हो गयी। दृष्टि नासाग्र भाग पर ठहराकर, श्वासोच्छ्वास का निरोध कर लिया। देह विसर्जित होकर, निश्चेष्ट निर्जीव पिण्ड मात्र रह गया। अपने ध्यान में पर्वत-घाटी के प्रभु के चरणों में उसने अपने प्राणों को अर्पित कर दिया। वसन्त भी ठीक उसका अनुसरण करती हुई उसके पास ही आसीन थी। उस योग में दोनों बहनों के चेतन तदाकार हो गये।—एकाएक उनकी ध्यानस्थ दृष्टि में झलका एक दीर्घाकार अष्टापद जिसकी सारी देह सोनहली है और उसपर सिन्दूरी और काले धब्बे हैं, गुफा की दूसरी ओर से हुंकारता हुआ कूद पड़ा। भैरव गर्जनों और डकारों के बीच दोनों में तुमुल संग्राम हुआ।—देखते-देखते सिंह भाग गया और अष्टापद कहीं दिखाई नहीं दिया....!

रात गहरी हो जाने पर जब दोनों बहनों ने आँखें खोलीं तो वही रोज की निस्तब्ध शान्ति चारों ओर प्रसरी थी। झाड़ हींस रहे थे और झरने का घोष अखण्ड चल रहा था। दोनों बहनों का बोल रुद्ध था, भीतर की उसी एक-प्राणता में वे तन्निष्ठ थीं। एक दूसरे से लिपटकर वे सो गयीं। पर नींद उनकी आँखों में नहीं थी।—अचानक रात्रि के मध्य-प्रहर में पर्वत-शिखर पर से वीणा की झंकार उठी, झरने के जल-घोष में अपने स्वराघात से आरोह-अवरोह जगाती हुई वह एक ध्रुव सम पर जाकर अशेष हो गयी—। जल, थल और आकाश में शान्ति का अनन्त आलाप राग फैल चला; समस्त चराचर के प्राण को वह सुख से ऊर्मिल कर गया।........नहीं है शोक, नहीं है दुख, नहीं है घात, नहीं है विरह, नहीं है भय, नहीं है मृत्यु—आनन्द की एक अप्रतिहत धारा में सारा

वैषम्य तिरोहित हो गया। अव्याबाध प्रेम के चिर विश्वास से दोनों बहनों के हृदय आश्वस्त हो गये। और जाने कब वे गहरी नींद में सो गयीं। रात के चमत्कार पर सवेरे उठकर वे विस्मित थीं। गुफा के ऊपर चारों ओर घूम-फिर-कर वे देख आयीं, कहीं कुछ नहीं है। सोचा कि अवश्य ही, घाटी में जो तीर्थंकर प्रभु शाश्वत विराजमान हैं, उनकी सेवा में कोई देव नियुक्त है और उसी ने उनकी रक्षा की है। मध्य-रात्रि का वह वीणा-वादन भी उस देव का ही एक दिव्य सन्देश था!

....बात असल में यह थी कि पर्वत के शिखर-देश में मणिचूल नामा एक गन्धर्व का गुप्त आवास था। रत्नचूल नामा अपनी स्त्री के साथ गन्धर्व वहाँ रहता था। पहले ही दिन जब उस सन्ध्या में मुनि के चरणों में इन दोनों मानवियों ने अपना आत्म-निवेदन किया था, उस समय का सारा दृश्य गन्धर्व-युगल ने ऊपर से देखा था। उसी दिन से छुप-छुपकर वे दोनों, वन्य-पशुओं तथा वन की और दूसरी भयानकताओं से इन मानवियों की बराबर रक्षा करते रहते थे। इसी से हिंस्र-पशुओं से भरे इस विकट अरण्य में आज तक उन्हें कोई उपद्रव या उपसर्ग नहीं हुआ था। पर गयी साँझ की वह घड़ी अनिवार्य थी। गन्धर्व-युगल का ध्यान चूक गया। पर जब दुर्योग घट गया, तब एकाएक वे सावधान हो गये। उसी क्षण विक्रिया से अष्टापद का रूप धारण कर गन्धर्व आ पहुँचा और उसने उस सिंह को पछाड़ फेंका। गन्धर्व संगीत की सारी सिद्धियों का स्वामी था। इन बालाओं के मन में जो भय गहरा हो गया था, उसे शान्त करने के लिए ही उसने मझरात में वह महाशान्ति का राग बजाया था। उस दिन से और भी सन्नद्ध होकर वह गन्धर्व-युगल उन मानवियों की रक्षा में तत्पर रहता।

कुछ ही दिनों बाद—

पर्वत शिखर के वृक्षों में दिन का उजाला झाँक रहा था। वन की डालों में चिड़ियाएँ प्रभाती गा रही थीं। गुफा के बाहर के शिला-तल पर अभी ही अंजना ने आत्म-ध्यान से आँखें खोली हैं। चारों दिशाओं में अंजुलि खोलकर उसने प्रणाम किया। तदनन्तर कमण्डलु उठाकर वह प्रवाह पर जाने को उद्यत हुई कि उसी क्षण कटि-भाग में और पेट में उसे पीड़ा-सी अनुभव होने लगी। वह व्याकुलता उसे अनिवार्य जान पड़ी। वह धप् से जमीन पर बैठ गयी और पेट

थामती हुई असह्य वेदना से छटपटाने लगी। कराहते हुए केवल इतना ही उसके मुख से निकला—

"जीजी........!"

गुफा में से वसन्त बाहर दौड़ी आयी। अंजना की सारी देह और चेहरा एक प्रखर वेदना से, तपाये सोने-सा चमक रहा था। वसन्त तुरन्त समझकर सावधान हो गयी। खूब ही सतर्कता से उठाकर उसने अंजना को उस कास की शय्या पर लिटाया।

....पर्वत के शृंग पर स्वर्ण के समुद्र में से सूर्य का लाल बिम्ब झाँक उठा। ठीक उसी क्षण अंजना ने पुत्र प्रसव किया। उजाले से सारी गुहा झलमला उठी। मानो उन पुरातन चट्टानों में क्षण-भर को सोना ही पुत गया हो। वसन्त और अंजना को दीखा कि गुहा की छत में रह-रहकर गुप्त रत्नों की सतरंगी किरणों का आभास-सा हो रहा है। बाहर घाटियों के फूल-वनों में पंछी मंगल-गान गा रहे थे। शिखर-देश में गन्धर्व की वीणा अनन्त सुरावलियों में झंकार उठी; हवाओं के झकोरों में भरकर सुखोल्लास-भरी रागिणियाँ उपत्यकाओं को आलोड़ित कर गयीं।

.......अंजना ने पुत्र का मुख देखा : निमिष-भर—एकटक वह देखती ही रह गयी।—अन्तर के अगोचर में जिस अरूप सौन्दर्य की झलकें-भर पाकर, जिसे अपनी इन आँखों में बाँध पाने को बार-बार वह तरस गयी थी—आह वही सौन्दर्य !—वही सौन्दर्य बँध आया है आज उसी के रक्त-मांस के बन्धनों में....? पर सम्मुख होकर खुली आँखों उसे देख पाने का साहस आज नहीं हो रहा है ! पलकें गालों पर चिपकी जा रही हैं, बरौनियों में आँसू गुँथ रहे हैं।—और स्पर्शातीत कोमलता से दोनों कृश भुजाओं में शिशु को भरकर, वह मुग्ध भाव से उसे वक्ष से चाँप रही है। मन ही मन कह रही है—

....नहीं जन्मा है तू आदित्यपुर के राज-महलों में, नहीं जन्मा है तू महेन्द्रपुर के राज-मन्दिरों में। नहीं झूल रहा है किसी प्रासाद के अलिन्द में तेरा रत्नों का पालना। ऐश्वर्य और वैभव का क्रोड़ तुझे नहीं रुचा—नाश की राह चल, बियाबानों के इन पाषाणों में आकर तुझे जन्म लेना भाया ?—निराले हैं तेरे खेल, ओ उद्धत !.........तेरी लीलाओं से मैं कब पार पा सकी हूँ ? राजांगन में

नहीं हो रहा है तेरे जन्म का उत्सव। इन शून्य की हवाओं और झरनों में बज रहे हैं तेरे जन्मोत्सव के वाद्य ! धरणी तेरा बिछौना है और आकाश तेरा ओढ़ना। —चारों ओर मौन-मौन चल रही है, कुसुमों की उत्सव-लीला ! नहीं समझ पा रही हूँ, इसके लिए तुझे महाभाग कहूँ या हतभाग्य कहूँ, पापी कहूँ या पुण्य-पुरुष कहूँ....?''

प्रसव के आवश्यक उपचार के उपरान्त, वसन्त अकेली-अकेली मंगल का आयोजन करने लगी। भर आते एकाकी कण्ठ से उसने जन्मोत्सव का गीत गाया। द्वार पर उसने अशोक का तोरण बाँधा और फूलों की डालियों से गुफा के अन्तर्भाग को सजा दिया। सद्यः तोड़े हुए कमलों के केसर से उसने शिशु के लिए शय्या रची; तथा घाटी की देव-प्रतिमा के पादार्घ्य रूप वे मल्लिका के फूल लाकर उसने अंजना की शय्या में बिछा दिये।

वसन्त को अकेले-अकेले गीत गाते और मंगलाचार करते देखकर अंजना का हृदय जाने किस अचिन्त्य दुख से उफना रहा था। वसन्त की आँखों में थे राज-महल के उस अपूर्व जन्मोत्सव के चित्र, जो कभी होनेवाला नहीं है। याद आया उसे नर-नारियों के हर्ष कोलाहल से भरा वह राजांगन। प्रासादमालाओं पर सिंगार-सजावट की वे विचित्र शोभाएँ, वे ध्वज-तोरण और बन्दनवारें, वे रंग-बिरंगी दीपावलियाँ—वह गीत-गान, नृत्य-वाद्यों का समारोह।—और तभी याद आये उसे अपने वे फूल-से बालक....। दोनों बहनों ने एक-दूसरे की ओर से मुँह फेरकर आँसू टपका दिये। गुफा को और भी जाज्वल्यमान उजाले से भरता हुआ शिशु मुसकरा दिया ! अद्‌भुत तरंगों के चांचल्य से वह चारों ओर हाथ-पैर संचालित कर रहा है—मानो दिशाओं के पालने में ही झूल रहा है।

यथासमय वसन्त ने अंजना को फलों का थोड़ा रस पिलाया और आप भी फलाहार किया। अंजना की सारी बाल-प्रकृति, उसका चांचल्य और औद्धत्य आज खो गया है। हलकी होकर भी आज वह एक अपूर्व सम्भार से गम्भीर हो गयी है। भविष्य की अगम्य दूरियों में फिर उसका चिन्ताकुल मन भटकता चला गया है।—धुँधले रहस्यावरणों की बादल-वाहिनी सुदूरता में, जहाँ उसने बार-बार देखा है—पृथ्वी और आकाश एक अरूप एकता में बँध गये हैं—वहीं उसकी आँखें लगी हैं : वह पूछ रही है—''कहाँ हो तुम....? किन दुख की विभी-

षिकाओं में तुम मेरे मन की साध पूरने गये हो....? क्या नहीं लौटोगे कभी इस राह...?"

वसन्त के सामने अब तक तो प्रसव की चिन्ता ही सर्वोपरि थी। आज अंजना उससे भी निष्कृति पा गयी है। इस परम पुण्याधिकारी बालक की वह जननी है। और विचित्र है इसका पुण्य जो निर्जन कन्दरा में जन्म लेकर प्रकाशित हो रहा है। लेकिन अब—? अब क्या है भविष्य? कहाँ है पवनंजय; क्या है अंजना का और उनका भावी?' किस राह ले जायेगा हमें यह अतुल तेज और पराक्रम का स्वामी बालक? मुनि ने कहा था, उपसर्गों से खेलते चलना इसका स्वभाव है। मुनि के वचन तो कभी निरर्थक नहीं होते। जाने कब यह हमें उन उपसर्गों से पार करेगा, जाने कब यह अपने चिर दिन के बिछोही माता-पिता को मिलायेगा? वह भविष्य न तो वह मुनि से पूछ पायी, और न मुनि ही उसका कुछ संकेत कर गये हैं—जाने क्यों?

.......दोपहर ढल रही थी कि अचानक आकाश की ओर वसन्त की निगाह खिची।—प्रभा के पुंज-सा एक विमान, विपुल गम्भीर स्वर से पर्वत-प्रदेश को भरता हुआ, नीचे की ओर आ रहा है। वसन्त अनेक भय और आशंकाओं से भर उठी। भीतर आकर उसने अंजना को यह सूचना दी तो उसे भी रोमांच हो आया। अनजाने ही उसने बालक को और भी प्रगाढ़ता से छाती से दाब-दाब लिया।

मन में उसके फूटा—"आह, कौन जाने कोई पूर्व भव का वैरी है या आत्मीय? पर आत्मीय—? नहीं आयेगा वह—हरगिज़ नहीं आयेगा मुझ अभागिनी के पास—इस अरण्य-खण्ड की भयानक विजनता में....?"

ऊपर विमान के आरोही विद्याधर के मन में भी यही प्रश्न था—'—असाधारण योगायोग है—वैरी या आत्मीय?' इसी से उसका विमान अटका है और वह नीचे उतरने को बाध्य हुआ है।

थोड़ी ही देर में रत्नों से जगमग करता हुआ विमान नीचे उतरा। अतिशय रूपवान् एक विद्याधर और विद्याधरी अचानक गुफा के द्वार पर दिखाई पड़े। बड़े ही आदर-सम्भ्रम और मर्यादापूर्वक उन्होंने अंजना और वसन्त का अभिवादन किया। उनके प्रति प्रतिनमस्कार कर दोनों बहनों ने उनका स्वागत किया।

विद्याधर-युगल ने सामने ही, अंजना के अंक में नक्षत्र-सा ज्योतिष्मान् वह बालक देखा। साथ ही अप्सराओं-सी सुन्दर, कृश-गात, वल्कल पहने इन तापसियों को देख वे आश्चर्य से स्तम्भित रह गये। हो न हो, हैं तो कोई तापसियाँ ही—पर तापसियों के बालक कैसा? शायद कोई गन्धर्व-कन्याएँ स्वर्ग के सुख से ऊबकर भूमि पर चली आयी हैं, और किसी योगी का योग भंग कर यह ज्योतिर्मय बालक पा गयी हैं। इस जनहीन अरण्य में ऐसी सुन्दरी मानवियों के होने की तो उन्हें कल्पना ही नहीं हो सकी।

विद्याधर ने सहज कुशल पूछी, और तब विनय-पूर्वक उनका परिचय जानने की उत्सुकता प्रकट की। आगतों के आविर्भाव के साथ ही कुछ ऐसा अन्तरंग का सामीप्य उन दोनों बहनों ने अनुभव किया कि अपने बावजूद कोई सन्देह उनके बारे में उनके मन में नहीं रहा। अनायास वसन्त ने सारा वृत्तान्त संक्षेप में कह सुनाया। विद्याधर युगल ज्यों-ज्यों सुनते जाते थे, उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग रही थी। ज्यों ही वृत्तान्त समाप्त हुआ कि विद्याधर अपने को सँभाल न सका—

"हाय, बेटी अंजन...तेरे ऐसे भाग्य....? यह क्या अनर्थ घट गया....?"

कहते हुए वह आगे बढ़ आया और उसने अंजना को शिशु-सहित छाती में भर लिया और कण्ठ भर-भरकर पागल की तरह वह उसे भेंटने लगा। रुदन उसकी छाती में थम नहीं रहा था।—अंजना विस्मित थी, पर अन्तर में उसके भी वात्सल्य ही वात्सल्य उभरा रहा था। किंचित् मात्र भी कोई शंका मन में नहीं जागी। थोड़ी देर बाद कुछ स्वस्थ होने पर विद्याधर ने अपना परिचय दिया। उसने बताया कि वह राजा चित्रभानु और रानी सुन्दमालिनी का पुत्र प्रतिसूर्य है। हनुरुहद्वीप का वह राजा है, और अंजना उसकी भानजी होती है। अंजना शैशव में केवल एक बार मामा के घर हनुरुहद्वीप गयी थी। उसके बाद फिर प्रतिसूर्य ने उसे कभी नहीं देखा, इसी से वे उसे पहचान न सके। सुना तो अंजना का हृदय भी जैसे विदीर्ण होने लगा। रक्त में कौटुम्बिक स्नेह और वात्सल्य का उफान आये बिना न रहा, जो भी चारों ओर से बिलकुल निर्मम और निरपेक्ष होकर उसने यह निर्जन की राह पकड़ी थी।—उसे याद हो आये वे प्रसंग जब कई बार माँ हनुरुहद्वीप के संस्मरण सुनाया करती थी। अपनी

अबोध अवस्था में हनुरुहद्वीप जाने की एक धुँधली-सी स्मृति भी उसे है—समुद्र का वह महानील प्रसार, और उस समुद्र-यात्रा में माँ के द्वारा दिखाये गये वे मगरमच्छ !—अंजना अपने आँसू न थाम सकी। उसने मुँह दूसरी ओर फेर लिया और बेसुध-सी हो रही। मामी ने गोद में लेकर अंजना का शीलोपचार कर उसे स्वस्थ किया, फिर अपने दुकूल के आँचल में उसे ढाँपकर उसका लिलार चूम लिया।

वसन्त ने बहुत ही सकुचाते हुए कमल के पत्तों पर अतिथियों के सम्मुख फलाहार रखा। सुख और दुख के खट्टे-मीठे आँसू भरते, मामा और मामी ने फलाहार कर अपने को धन्य माना। इसके अनन्तर अंजना ने वसन्त का परिचय दिया। उसके अप्रतिम सर्वस्व-त्याग की कथा सुनकर विद्याधर युगल की आँखें फिर सजल हो आयीं। बार-बार बलायें लेकर, उन्होंने नतशिर होकर उस निष्काम संगिनी के त्याग का अभिनन्दन किया।

थोड़ी ही देर के इस संयोग और पारस्परिक बातचीत में, मामा ने मन ही मन समझ लिया था कि इस अंजना के मन पर क़ाबू पा जाना सहज नहीं है। वसन्त के मुँह से इस लड़की की दुर्धर्ष लीलाएँ सुनकर, विद्याधर की सारी विद्या और पौरुष की तहें काँप उठी थीं। फिर भी डरते-डरते विनती के स्वर में प्रतिसूर्य ने अंजना से कहा—

"बेटी अंजन, जानता हूँ कि समस्त लोक तेरे प्रति अपराधी है। उसी लोक के बन्धनों में बँधा मैं भी एक अज्ञानी मानव हूँ। आज तुझे उसी लोक में लौटने को कहते, यह छाती फटी पड़ती है। संसार ने जो अन्याय तेरे साथ किया, उसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता। लेकिन-फिर भी यदि तू अपने इस दुखी और निःसन्तान मामा पर दया कर सके, तो उसका हनुरुहद्वीप तुझे पाकर धन्य होगा—और धन्य होगा उसका जीवन........"

बोलते-बोलते कण्ठ भर आया। कुछ देर रहकर फिर प्रतिसूर्य बोले—"प्रतिसूर्य का जीवन वैसे ही सूना और निरर्थक है—और आज यदि तू नहीं चलेगी मेरे साथ—तो संसार में यही सब कुछ देखने के लिए अब और जीवित नहीं रह सकूँगा—तुझे विवश करने का पाप कर रहा हूँ, पर स्वयं विवश हो गया हूँ...."

कहकर मामा ने फिर एक बार अंजना के हाथ जोड़ लिये। अंजना ने हृदय के आवेग पर संयम किया और धीर गम्भीर स्वर में कहा—

"........अपराध लोक का और किसी का भी नहीं है, मामा, अपने ही पूर्व में किये कर्मों का वह फल है। अपने ही उस अर्जित पाप को लोक के माथे थोपकर, फिर नया पाप मैं नहीं बाँधूँगी।—प्रभु मुझे बल दें कि सपने में भी, अपने दुख के लिए पर को दोष देने का भाव मुझमें न आये! दुख है मन में तो इसी बात का कि लोक के जो अनन्त उपकार मुझपर हैं, उनकी ओर से पीठ फेरकर मैं कृतघ्ना अपने बचाव के लिए, इस निर्जन में मुँह छिपाती फिर रही हूँ!—तुम्हारे प्रेम को न पहचान सकूँ इतनी हृदयहीन भी नहीं हो गयी हूँ, मामा! पर सोचती हूँ मैं बहुत अयोग्य हूँ—तुम्हारे साथ चलकर कहीं तुम्हें भी विपद में न डाल दूँ?—क्योंकि विपदाओं में चलने के लिए ही अंजना ने इस लोक में जन्म लिया है!........आगे की बात तुम्हीं जानो, मामा........"

कहते-कहते अंजना फिर भर आयी और छलछलायी आँखों से पास सोये शिशु को ताकती रह गयी।

........अंजना, वसन्त और शिशु को साथ लेकर प्रतिसूर्य का विमान तीर के वेग से खाई को पार कर रहा था। हवा में मोतियों की झालरें उलझ रही थीं, और मणियों की घण्टिकाएँ बज रही थीं। ज्यों-ज्यों विमान का वेग बढ़ता जा रहा था, अंजना से अपनी गोद का शिशु सँभाले न सँभल रहा था।........ कि पलक मारते में हाथ से उछलकर बालक खाई में जा गिरा। नीचे गिरते बालक की ओर देख अंजना के मुँह से चीत्कार निकल पड़ी—

"आह....तू....भी....छोड़....चला....मुझे...."

कहकर अंजना मूर्च्छित होकर धमाक् से पायदान में गिर पड़ी। विमान विलाप और रुदन की पुकारों से गूँज उठा।

बालक के गिरने के ठीक स्थल पर दृष्टि लगाये, द्रुतवेग से प्रतिसूर्य विमान को तल में लाये। ठीक वहीं आकर विमान उतरा जहाँ बालक गिरा था। पर्वत की एक वज्र-सी चट्टान पर बालक फूल-सा मुसकराता हुआ क्रीड़ा कर रहा था। नीचे उसके शिला के सौ-सौ टुकड़े हो गये थे! अपार सुख और आश्चर्य से पुलकित सभी देखते रह गये। चेत में लाये जाने पर अंजना ने जो उठकर बालक

को देखा तो उसकी आँखें झुक गयीं, और मुख उसका अपूर्व लज्जा और रोमांच से लाल हो गया !

प्रतिसूर्य ने बालक को गोद में उठाकर उस अमृत-पुत्र की वह तेजस्वी लिलार चूम ली और अनुभव किया कि उनका मानव-जन्म कृतार्थ हो गया है। बालक को अंजना की गोद में देते हुए बोले—

"इसे जन्म देकर तेरी कोख धन्य हुई है, अंजनी !—निश्चय ही सम-चतुरस्र-संस्थान और वज्र-वृषभ-नाराच संहनन का धारी है यह बालक। इसके बल-वीर्य से पहाड़ खण्ड-खण्ड हो गया है, पर इसका घात नहीं हो सका। निश्चय ही यह कोई चरम-शरीरी और तद्भव मोक्षगामी है—!"

तब वसन्त ने प्रसंगवश मुनि की भविष्यवाणी कह सुनायी। सुनकर सबकी आँखों में हर्ष के आँसू आ गये।

....हनूरुह-द्वीप में ग्यारह दिन तक अंजना के पुत्र का जन्मोत्सव देवोपम समारोह से मनाया गया। चारों ओर के सागर-प्रान्त में मानो इन्द्रलोक की रचना ही उतर आयी थी। हनूरुह-द्वीप में जन्मोत्सव होने के उपलक्ष्य में बालक का नाम रखा गया—हनूमान् !

द्वीप के चारों ओर की समुद्र-लहरों के गर्जन में गूँज-गूँज उठता—"काम-कुमार हनूमान् की जय, अजित-वीर्य हनूमान् की जय....!"

[२८]

रत्नकूट प्रासाद से उड़कर पवनंजय का यान कैलास की ओर वेग से बढ़ रहा है। आकाश के तटों में चारों ओर दिन का नवीन उजाला उमड़ रहा है। नीचे धुन्ध और बादलों में होकर, शस्य-श्यामला पृथ्वी का चित्रमय गोलार्ध तैरता-सा दीख रहा है। पवनंजय के दोनों हाथ यान के चक्र पर थमे हैं। पीछे उड़ता हुआ श्वेत उत्तरीय, मानो पीछे से कोई खींच रहा है। ज्यों-ज्यों वह अदृश्य हाथ उस उत्तरीय को अधिक खींचता है, पवनंजय के हाथ का चक्र उतने ही अधिक वेग से घूमता है। यान की गति जैसे समय की गति से होड़ ले रही है।

सामने कैलास की हिमोज्ज्वल चूड़ाएँ दीख रही हैं। उनपर स्वर्ण-मन्दिरों की उड़ती हुई ध्वजाओं में, आज मुक्ति के आँचल का आवाहन है।—कुमार का हाथ चक्र पर थमा रह गया : यान हवा की मरज़ी पर छूट गया। पवनंजय को प्रतीत हुआ कि आज की गति का सुख अपूर्व है; इसमें निरर्थक उद्वेग नहीं है, प्राप्ति का आनन्द है। कितनी ही बार इससे कहीं बहुत ऊँची और खतरनाक ऊँचाइयों में वह यान पर उड़ा है। दुर्दम्य था उन उड़ानों का वेग! पर उनमें सुख नहीं था, प्राप्ति नहीं थी, लक्ष्य नहीं था। थी एक विघातक छलना। चारों ओर शून्य ही शून्य था, आमन्त्रणहीन और निर्वाक्।

पर आज तो दिशाएँ अवगुण्ठन खोले मुग्धा-सी खड़ी हैं। उनकी भुजाओं में एक उन्मुक्त आलिंगन खेल रहा है। और उसके सम्मुख पवनंजय का माथा नीचे झुक गया है। उन गर्वीली भृकुटियों का मान पानी बनकर आँखों से ढलक पड़ा है।—नहीं है साहस कि इस आलिंगन को वे झेल लें। नहीं है बल कि उसे अपनी भुजाओं में बाँध लें, या आप उसमें बँध जायें। अपनी असामर्थ्य की लज्जा में वे डूबे जा रहे हैं। इन दिशाओं को जीतने का उनका एक दिन का अरमान आज अपनी ही खिल्ली उड़ा रहा है।—पवनंजय को प्रतीत हुआ कि बाहर की ओर जो वह गति की चंचल वासना, दिन-रात मन को उद्वेलित किये थी, वह थी केवल गति की भ्रान्ति। वह थी गति की भटकन—अवरोध—उसी मरीचिका को समझ रहा था वह—प्रगति?—भीतर की धुरी में जहाँ नित्य और सम परिणमन है, उसी केन्द्र में पवनंजय आज मानो लौट रहे हैं।

कानों में गूँज रहे हैं बिदा-वेला के अंजना के वे शब्द—'मेरी शपथ लेकर जाओ कि अनीति और अन्याय के पक्ष में, मद और मान के पक्ष में तुम्हारा शस्त्र नहीं उठेगा। क्षत्रिय का रक्षा-व्रत विजय के गौरव और राज-सिंहासन से बड़ी चीज़ है। तुम्हारा ही पक्ष यदि अन्याय का है तो उसी के विरुद्ध तुम्हें लड़ना होगा....'

नहीं चाहिए आज उसे वीरत्व की कीर्ति। जम्बू-द्वीप के नरेन्द्र-मण्डल पर अपने पराक्रम की छाप डालने की इच्छा, आज मानो अनायास लुप्त हो गयी है। राज्य की आकांक्षा तो किसी भी दिन उसमें नहीं थी। और विजय के शिखर वह सारे गूँध आया है, वहाँ है केवल निष्प्राण शिलाएँ, जो शून्य में कसककर दम

तोड़ रही हैं, और हवाएँ रुदन की तरह वहाँ भटक रही हैं। वहाँ से गिरकर तो वह धरती के पादमूल में आ पड़ा है। चारों ओर से हारकर आज जब वह सर्वहारा हो गया है, तो विश्व की सारी विजयों और महिमाओं के मूल्य उसे फीके लग रहे हैं।—मानो पैरों के पास टूटी हुई जयमालाओं के फूल कुम्हलाये हुए पड़े हैं! पवनंजय का सारा मन आज उस शान्त समुद्र की तरह पड़ा है, जो अपनी धरिणी पृथ्वी की गर्भ-सेज में आत्मस्थ होकर सो गया है।

मानसरोवर पर यान उतरा। सेनाओं को आज्ञा दी गयी कि प्रस्थान की तैयारी करें। रण-सज्जा में सजे हुए पवनंजय गम्भीर चिन्ता में मग्न हैं। पास ही एक चौकी पर प्रहस्त चुपचाप बैठे हैं। एकाएक पवनंजय ने मौन तोड़ा—

"बन्धु प्रहस्त, अब युद्ध सम्मुख है। यह भी जान रहा हूँ कि वह अनिवार्य है, और मेरी इच्छा का प्रश्न उसमें नहीं है। वह कर्तव्य की अटल और कठोर माँग है। पर यह भी निश्चय अनुभव करता हूँ कि शायद यही मेरे जीवन का पहला और अन्तिम युद्ध होगा।—क्योंकि नहीं समझ पा रहा हूँ कि बाहर किसके विरुद्ध मुझे लड़ना है?....मुझे तो साफ़ दीख रहा है, प्रहस्त, कि शत्रु बाहर कहीं नहीं है—वह अपने ही भीतर है। वही शत्रु सबसे बड़ा है और अब तक उसी से पद-दलित होता रहा हूँ! उसे ही अपना सारा अपनत्व सौंप बैठा था, और निरन्तर छाती में पदाघात सहकर भी उसी के पैरों से लिपटा रहा। आज उसे पहचान सका हूँ, और उसी से आज खुलकर मेरा युद्ध होगा। उसे जीते बिना, बाहर की इन सारी विजयों के अभिमान मिथ्या हैं—वह निरी आत्म-प्रवंचना है। पर उसे जीत पाना क्या सहज सम्भव है?—कुछ हो प्रहस्त, उस शत्रु को अधीन किये बिना, पवनंजय को इस युद्ध से लौटना नहीं है....!"

सुनकर प्रहस्त की खुशी का ठिकाना नहीं था। उसके मन का सबसे बड़ा बोझ जैसे आज उतर गया। उसे निष्कृति मिली, वह कृतार्थ हुआ। उसका दिया दर्शन आज मस्तिष्क से उतरकर हृदय की मर्मवाणी बोल रहा है। प्रहस्त सुनकर पुलकित हो रहे। फिर सहज बात को सहारा भर दे दिया—

"हाँ पवन, समझ रहा हूँ। चाहे जितना दूर तुमने मुझे ठेला, पर क्या तुमसे क्षण-भर भी दूर मैं अपने को रख सका?—हाँ, तो सुनूँ पवन, क्या है तुम्हारी योजना?"

पवनंजय खिलखिलाकर हँस पड़े—

"हँ....योजना ?—अचम्भा हो रहा है, प्रहस्त, और अपने ही ऊपर हँसी भी आ रही है। इतना बड़ा विशाल सैन्य लेकर आखिर किस पर युद्ध करने चढ़ा हूँ मैं—? ज़रा बात मुझे साफ़-साफ़ समझा दो न, प्रहस्त।"

प्रहस्त ने साफ़ और सीधी व्यवहार की बात पकड़ी, बोले—

"पाताल-द्वीप के महामण्डलेश्वर राजा रावण के माण्डलीक हैं आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद। जम्बु-द्वीप के अनेक विद्याधर और भूमि-गोचर राजा उन्हें अपना राज-राजेश्वर मानते हैं।—वरुण-द्वीप के राजा वरुण ने, रावण का आधिपत्य स्वीकार करने से इनकार किया है। वह कहता है कि—यदि रावण को अपने देवाधिष्ठित रत्नों का अभिमान है, तो मुझे अपने आत्म-स्वातन्त्र्य और अपने भुज-बल का। इस पर रावण ने अपने देवाधिष्ठित रत्न उतार फेंके हैं, और स्वयं अपना भुज-बल दिखाने राजा वरुण पर जा चढ़े हैं। युद्ध बहुत भीषण हो गया है, संहार की सीमा नहीं है।—रावण के हम माण्डलीक हैं, सो निश्चय ही हमें रावण के पक्ष पर लड़ना है, इसमें दुविधा कहाँ हो सकती है, पवन ?"

पवनंजय चुप रहकर कुछ देर सोचते रहे। फिर ज़रा मुँह मलकाकर गम्भीर स्वर में बोले—

"रावण के माण्डलीक हैं आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद, मैं नहीं। और इस समय इस सैन्य का सेनापति मैं हूँ, महाराज प्रह्लाद नहीं!—और शायद तुम्हें याद हो प्रहस्त, इसी मानसरोवर के तट पर, मैंने तुमसे कहा था कि आदित्यपुर का राज-सिंहासन मेरे भाग्य का निर्णायक नहीं हो सकता।—उस दिन चाहे वह क्षण का आवेग ही रहा हो, पर अनायास मेरे भीतर का सत्य ही उसमें बोला था। तब युद्ध में पक्ष चुनने का निर्णय मेरे हाथ है, आदित्यपुर के सिंहासन से वह बाध्य नहीं....!"

कहते-कहते पवनंजय हँस आये। बोलते समय जो भी उनका स्वर गुरु-गम्भीर था, पर उनकी भौंहों में वह सदा का तनाव नहीं था। आवाज़ में उतावलापन और उत्तेजना नहीं थी। थी एक धीरता और निश्चलता।

"आदित्यपुर का सिंहासन यदि इतना नगण्य है, तो तुम लड़ने किसके लिए जा रहे हो, पवन, यही नहीं समझ पाया हूँ ?"

"कर्तव्य के लिए लड़ने चला हूँ, प्रहस्त !—अगोचर से धर्म की पुकार सुनाई पड़ी है। पर किस व्यक्ति के विरुद्ध लड़ना है, यह सचमुच मुझे नहीं मालूम। मेरा युद्ध व्यक्ति के विरुद्ध कहीं नहीं है, वह अन्याय और अधर्म के विरुद्ध है।—और मेरा युद्ध सिंहासन के लिए नहीं, अपनी और सर्व की आत्म-रक्षा के लिए है। अपने ही को यदि नहीं रख सका, तो सिंहासन का क्या होगा ? और जो सिंहासन अपने को रखने के लिए अन्याय के सम्मुख झुक जाये, वह मेरा नहीं हो सकता। आदित्यपुर का राज-सिंहासन यदि रावण की रक्षा का भिखारी बनकर क़ायम है, तो उसका मिट जाना ही अच्छा है।—हो सका तो उसे अपने बल पर ही रखूँगा, और नहीं तो रावण ही उसे रख लें, मुझे आपत्ति नहीं होगी !"

प्रहस्त ने पाया कि यह केवल मस्तिष्क का तर्क नहीं है, अन्तर का निवेदन है, जो सहज आत्म-ज्ञान से प्रबुद्ध है। उसके आगे कोई प्रतिवाद मानो नहीं ठहरता। प्रहस्त का मन अश्रुभार से नम्र होकर झुक आया। पर वह कठोर होने को बाध्य है। उसके सामने राज-कर्तव्य है; राज्य के कुछ निश्चित हितों की रक्षा का दायित्व उसपर है। पर इस पवनंजय की दृष्टि में राज्य तो शून्य है। यह कैसे बनेगा—? सब कुछ समझते हुए भी यन्त्रवत् प्रहस्त ने आपत्ति उठायी—

"चूक रहे हो पवन, तुम इस समय आदित्यपुर के सेनापति हो, आदित्यपुर के राजा नहीं। सिंहासन और राज्य को रखने न रखने का निर्णय राजा के अधीन है; तुम केवल राजाज्ञा के वाहक हो !"

पवनंजय फिर खिलखिलाकर हँस आये। कुछ देर चुप रहे, फिर ज़रा सलज्ज भाव से सिर नीचा कर बोले—

"...पर तुमसे क्या छुपा है, प्रहस्त ?—तुम सिंहासन और राज्य की कह रहे हो ? पर स्वयं राज-लक्ष्मी को जो पा गया हूँ ! सिंहासन तो उसी के हृदय पर बिछा है न ?—कल रात लक्ष्मी ने उसपर मेरा अभिषेक कर दिया है—और तुम्हीं थे उसके पुरोहित ! तब राजा कौन है और अधिकार किसका है, इस विवाद में नहीं पड़ूँगा। राजत्व व्यक्ति में नहीं है। धर्म का शासन जो वहन करे वही राजा है, वह किसी भी क्षण बदल सकता है। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि राज्य, सिंहासन, राजा, मैं—सब उसी के रखे रहेंगे। स्वयं लक्ष्मी की

आज्ञा हुई है—मैं तो उसी का भेजा आया हूँ। आदेश का पालन भर करने चला हूँ। पथ की स्वामिनी वही है। तुम, मैं, राजा और यह विशाल सैन्य, सब उसी के इंगित पर संचालित हैं। इसके ऊपर होकर मेरा कुछ भी सोचना नहीं है।"

प्रहस्त अपनी हँसी न रोक सके। आँखें पुलक आयीं। उन्हें लगा कि पवनंजय नव-जन्म पा गया है। इतने वर्षों का वह चट्टान-सा कठोर हो गया पवनंजय, सरल नव-जात शिशु-सा होकर सामने बैठा है। जी में आता है कि दुलार से बाँह में भरकर इस मुँह को चूम लें, जो यह नयी बोली बोल रहा है। पर भावना इस क्षण वर्जित है, ठोस वास्तव की माँग इस समय सामने है। हँसते हुए ही प्रहस्त बोले—

"लक्ष्मी की आज्ञा तो सारे छत्रों के ऊपर है, पवन, उसे टालने की सामर्थ्य किसकी है? वह तो शक्तिदात्री भगवती है, लोक की और अपनी रक्षा के लिए, वह हमें शक्ति और तेज का दान करती है। अपने वक्ष पर धर्म की जोत जलाकर वह हमारा पथ उजाल रही है! उस बारे में मतभेद को अवकाश कहाँ है?—पर व्यवहार की राजनीति में हमें पग-पग पर ठोस सचाई का सामना करना है। वह जीवन का गणित है; यथार्थ जीवन को व्यवहार के उसी हिसाब-किताब से चलाना होगा, नहीं तो बड़ी उलझन हो जायेगी।"

कहकर प्रहस्त ने होंठ काटकर हँसी दबा दी। जान रहा है कि वह आप द्वैत के शिकंजे में फँसा है और पवनंजय को भी उसी में खींच रहा है। क्योंकि वह तो इस समय उस प्रत्यक्ष राज-कर्तव्य का प्रतिनिधि है और उसके प्रति उत्तरदायी होने को वह बाध्य है। पर पवनंजय का मन निर्द्वन्द्व और स्वच्छ है, तुरत प्रहस्त को उन्होंने भुजा पर थाम लिया और ईषत् मुसकराते हुए बोले—

"भैया प्रहस्त, वय में कुछ ही तुम मुझसे बड़े हो; पर बचपन से तुम्हें गुरुजन की तरह मन ही मन श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। राजनीति के सूत्र यदि कभी तुमसे सीखे थे, तो अध्यात्म और दर्शन का मूल संस्कार भी तुम्हीं ने मुझे दिया था। पर मुझे लग रहा है, प्रहस्त, उलझन बाहर कहीं नहीं है, वह तुम्हारे मन में ही है। भगवती के वक्ष में जल रही धर्म की जोत यदि हमारा पथ उजाल रही है, तो फिर कौन-सी राजनीति है, जो उससे ऊपर होकर हमारा पथ बदल सकती है? धर्म और राजनीति को अलग-अलग करके देखना, जीवन को अपने

मूल से तोड़कर देखना है! तब जीवन की परिभाषा होगी मात्र संघर्ष—स्वार्थों के लिए संघर्ष, मान और तृष्णा के लिए संघर्ष, संघर्ष के लिए संघर्ष। उसमें अभीष्ट सर्व का और अपना आत्म-कल्याण नहीं है। उसमें उद्दिष्ट है केवल अपने तुच्छ, पार्थिव स्वार्थों और अहंकारों की तुष्टि।—गणित का काम तो खण्ड-खण्ड करना है, वह अंशों और भिन्नों में जीवन को बाँटकर हमारे चैतन्य को ह्रस्व कर देता है। इसी से वह केवल निर्जीव वस्तुओं की माप-जोख के लिए है। पर जीवन का अनुरोध है, अखण्ड की ओर बढ़ना। उसका गति-निर्देश गणित और हिसाबी राजनीति से नहीं हो सकेगा। जीवन का देवता है धर्म, जो हमारे अन्तर के देवकक्ष में शाश्वत विराजमान है। जीवन का सूत्र-संचालन वहीं से हो रहा है। जरा भीतर झाँककर देखें, हमारे हृदय के स्पन्दन में उसका वेदन सतत जागृत है। हृदय जड़ीभूत हो गया था, इसी से राह खो गयी थी। धर्म की अधिष्ठात्री ने आज स्वयं, हृदय को मुक्त कर दिया है, इसी से राह अब साफ़ दीख रही है। वास्तव की यह ठोस और अन्तिम दीखनेवाली सचाई, यथार्थ में जड़ता है, वह मिथ्या है, उससे नहीं जूझना है। जड़ता से टकरा रहे हैं, इसी से गणित और राजनीति सूझ रही है। जीवन प्रवाही है, सो उसका सत्य भी प्रवाही है। धर्म उसी प्रवाह की अखण्डता के अनुभव का नाम है। अपने प्राण की हानि से बचना ही हमारी पल-पल की चेतना है: दूसरे का प्राण-घात कर अपना प्राण सदा अरक्षित ही रहेगा। इसी निरन्तर अरक्षा की स्थिति से ऊपर उठने के लिए, हमें अपने ही प्राण के अनुरोध के अनुसार, निखिल के प्राण को अभय देना है। राजा और राज्य इसीलिए हैं, शासन और व्यवस्था इसीलिए हैं। इसी रक्षा-व्रत का पालन करने के लिए पृथ्वी पर क्षत्रिय का जन्म है।—सिंहासन पर बैठे हैं धर्मराज, लोक में शासन उन्हीं का है। हम हैं केवल उस कल्याण-विधान के आज्ञाकारी अनुचर! उससे टूटकर राजा और राज्य के अधिकार का क्या मूल्य रह जाता है?—और हमारी राजनीति भी तब क्या उस धर्म के अनुशासन से अलग होकर चल सकती है....?"

प्रहस्त ने देखा कि जिस प्राण की अतल गहराई से, प्रवाही जीवन के सत्य की यह बात कही जा रही है, उसपर तर्क नहीं ठहर सकेगा। नहीं—अब वह और अपने को धोखा नहीं देगा। होनहार क्या है, सो अन्तर्यामी जानें। अपना

मत उसने समेट लिया—मात्र पवनंजय से अनुशासन-भर वह चाहता है—बोला—

"अच्छा पवन, तब तुम्हारा धर्म-शासन इस प्रस्तुत युद्ध के सम्मुख हमें क्या करने को कहता है ? अपना अन्तिम निर्णय दो, वही आज्ञारूप में सैन्य को सुनाकर, यहाँ से तुरत प्रस्थान करना है।"

मेरु-अचल निश्चय के स्वर में पवनंजय बोले—

"रावण महामण्डलेश्वर बने हैं अपने देवाधिष्ठित रत्नों के बल पर। साम्राज्य का स्वामित्व भोगने की अहं-तृष्णा ही इसके पीछे है। सभी राजपुरुष अपनी-अपनी राज्य-तृष्णाओं के वश रावण को अधीश्वर मानने को बाध्य हैं। यह धर्म का शासन नहीं है, आतंक का शासन है, स्वार्थों और अहंकारों का संगठन है!—लोक-हित और लोक-रक्षा की प्रेरणा इस युद्ध के पीछे नहीं है। यह है केवल आपा-धापी और छीना-झपटी का पाशव-युद्ध। न्याय-अन्याय, नीति-अनीति का भेद यहाँ लोप हो गया है; प्रजा का जीवन, मात्र राजा की वैयक्तिक मान-तृष्णा की तृप्ति के लिए शोषण का साधन रह गया है। राजा वरुण ने देवाधिष्ठित रत्नों के अभिमान को ललकारा है, आतंक को उसने चुनौती दी है। निर्बल और शोषित होकर जीने से उसने इनकार किया है। एक ओर जम्बू-द्वीप का इतना बड़ा नरेन्द्र-मण्डल है, और दूसरी ओर है अकेला वरुण। जानता है कि उसने मौत को न्यौता है, पर अहंकार, आतंक और स्वार्थी शोषण के चक्रों के तोड़ने के लिए उसने सिंहासन तो क्या प्राण तक की बाज़ी लगा दी है। तब मानना ही चाहिए कि मात्र सिंहासन के लोभ से वह ग्रस्त नहीं, अपनी हार-जीत का मोह त्याग, सत्य के लिए लड़ने को वह उद्यत हुआ है। तब पवनंजय इस युद्ध में वरुण के पक्ष पर ही लड़ सकता है, अन्यथा इस युद्ध में उसका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। और उसमें भी पक्ष या विरोध व्यक्ति का नहीं है, वह धर्म और अधर्म का है। तब वरुण भी किसी दिन छूट सकता है। रास्ते के मोरचों पर मेरी सेना नहीं ठहरेगी। उस प्रधान रणांगण के बीचोंबीच जाकर हम विराम करेंगे, जहाँ वरुण और रावण आमने-सामने हैं। मुझे उनके बीच खड़े होना है। मेरा निवेदन शस्त्र से नहीं है, मैं पहले मनुष्यों से बात किया चाहता हूँ। शस्त्र तो मात्र अन्तिम अनिवार्यता हो सकती है।—सखे प्रहस्त, उठो, निश्चयानुसार सैन्य को प्रस्थान की आज्ञा सुना दो....।"

....प्रयाण का तूर्य-नाद दिशान्तों तक गूँज उठा। विशाल सैन्य का प्रवाह हिमगिरि की घाटियों में उमड़ पड़ा। 'देव-पवनंजय' की जय-जयकारों से पर्वत-पाटियाँ हिल उठीं।—और इसी बीच अपने सतखण्डे रथ के सर्वोच्च खण्ड पर खड़े होकर पवनंजय ने प्रणत हो कैलास को तीन बार प्रणाम किया। फिर दोनों हाथ आकाश में उठाकर पुकारा—

"कर्म-योगीश्वर भगवान् वृषभदेव की जय, राज-योगीश्वर भगवान् भरत की जय...."

चौगुने उल्लास और उन्मेष से सैन्य के प्रवाह में यह जय-जयकार गूँजती ही चली गयी।

[२९]

अनेक देशान्तरों, नदियों और पर्वतों को लाँघकर, कई दिनों बाद, पवनंजय का सैन्य जलवीचि पर्वत पर आया। पर्वत की सिन्धु-तरंग नामा चूड़ा पर खड़े होकर पवनंजय ने देखा—दूर पर समुद्र में घुसता हुआ अन्तरीप दीख रहा है।—भरत-क्षेत्र के दक्षिण समुद्र-तट पर वैताढ्य और विजयार्ध के विद्याधरों की सेनाओं का स्कन्धावार दिखाई पड़ा। पवनंजय के सैन्य का रण-वाद्य सुनकर, स्कन्धावार में हलचल मच गयी। जो भी यह मित्र राजवियों का मोरचा है और नवागत सैन्य भी उनका मित्र ही है, फिर भी राजा-राजा के बीच जो अहंकारों के अन्तर-विग्रह हैं, आपस के वैर, मात्सर्य और ईर्ष्याएँ हैं, वे भीतर-भीतर कसमसा उठीं। और फिर जैसी कि पूर्व सूचना मिली थी, इस सैन्य के सेनापति हैं देव पवनंजय—जम्बूद्वीप के वे निराले और बदनाम राजपुत्र, जिनको लेकर विचित्र कथाएँ राजघरों में प्रचलित हैं।—स्कन्धावार में दबी ज़बान से व्यंग्य-विनोद होने लगे। अब तक के मनों में छुपे हुए दाव-घात, अकारण मुँह पर आने लगे। स्वागत में यहाँ भी सारे सैन्य का एकत्र रण-वाद्य बजने लगा और जयकारें होने लगीं। दोनों ओर के रण-वादित्रों और जयकारों में एक अलक्ष्य स्पर्धा की जोश-भरी टक्कर होने लगी।

कुछ दूर और जाने पर, अपने रथ के सर्वोच्च गवाक्ष पर चढ़कर पवनंजय

ने फिर एक बार सिंहावलोकन किया।—सैन्य-शिविरों की रंग-विरंगी ध्वजाओं, पालों, तोरणों और तम्बुओं से अन्तरीप पटा है। उससे परे की वेला में तुंगकाय युद्धपोतों के मस्तूल और ध्वजाएँ फहराती दीख पड़ीं।—दूर समुद्र में रक्त-पताकाओं और रत्न-शिखरों से मण्डित सोने की लंकापुरी जगमगा रही है। उसी की सीध में बहुत दूर पर दीख रहा है छोटा-सा वरुण-द्वीप।—समुद्र की विशालता ही उसकी लघु सत्ता का बल है। देखकर पवनंजय का चेहरा आनन्द और सन्तोष से चमक उठा। मन ही मन बोले—अपने स्वर्ण-वैभव के उद्योत से गर्विता है यह लंकापुरी....आकाश में सिर उठाये इन्द्रों और माहेन्द्रों के ऐश्वर्य को यह चुनौती दे रही है—माना! पर उसी महासमुद्र की चिर चंचलता के बीच, अपनी लघुता में निछावर होता हुआ, सोया है वह वरुणद्वीप।—और किसका घमण्ड है जो महासागर की इन निर्बन्ध लहरों पर शासन कर सके?—पानी के बुद्बुद, इसी पानी की इच्छा से उत्पन्न होकर, इसकी महासत्ता पर अपना शासन स्थापित करेंगे?—और अपनी विद्याओं से समुद्र के देवताओं, दैत्यों और जलचरों को यदि रावण ने वश किया है, तो उन विद्याओं के बल को भी देख लूँगा—! धर्म के ऊपर होकर कौन-सी विद्याएँ और कौन-से देवता चल सकेंगे? रावण ने जल-देवों को बाँधा है, समुद्र को तो नहीं बाँधा है? यही समुद्र की राशि-कृत लहरें होंगी वरुण का परिकर....!

अन्तरीप के स्कन्धावार में घुसकर जब पवनंजय के सैन्य ने आगे बढ़ना चाहा, तो अन्य विद्याधरों के सैन्यों ने उनकी राह रोक ली। पवनंजय ने आकर, सम्मुख आये राजाओं और सेनापतियों का सविनय अभिवादन किया, और अनुरोध के स्वर में अपना मन्तव्य संक्षेप में जता दिया।—उन्होंने बताया कि उनका प्रयोजन यहाँ नहीं है। उस सामुद्रिक मोरचे पर, जहाँ रावण और वरुण के बीच युद्ध चल रहा है, वहीं जाकर वे अपना स्कन्धावार बाँधेंगे।—संहार बहुत हो चुका है, अब युद्ध को बढ़ाना इष्ट नहीं है, हो सके तो जल्दी से जल्दी उसे समेट लेना है। महामण्डलेश्वर रावण का और अन्य सारे राजपुरुषों का कल्याण इसी में है। प्रस्तुत युद्ध के कारणों और पक्षों की विषमता पर विचार करते हुए लग रहा है, कि यदि इस विग्रह को बढ़ने दिया गया तो लोक में क्षात्र-धर्म की मर्यादा लुप्त हो जायेगी! चारों ओर आततायियों और दस्युओं का साम्राज्य हो

जायेगा। धर्म की लीक मिट जाने से अराजकता फैलेगी।—जन-जन स्वेच्छाचारी हो जायेगा। लोक का जीवन अरक्षित होकर त्राहि-त्राहि कर उठेगा। आत्म-हित और सर्व-हित के बीच अविनाभावी सम्बन्ध है। कल्याण का वही मंगल-सूत्र छिन्न हो गया है, हो सके तो उसे फिर से जोड़ देना है। उसी में हमारे क्षात्रत्व और राजत्व की सार्थकता है। और यही प्रयोजन लेकर वे सीधे दोनों पक्षों के स्वामियों से मिला चाहते हैं।—इसीलिए मित्र-राजन्यों से उनका करबद्ध अनुरोध है कि वे उन्हें अपने निर्दिष्ट लक्ष्य पर जाने का अवसर दें और प्रेम के इस अनुष्ठान में सहयोगी होकर उनका हाथ बटावें—?

पर राजाओं के सम्मुख क्षात्र-धर्म; प्रेम और कल्याण का प्रश्न नहीं है। उनका प्रधान लक्ष्य है, महामण्डलेश्वर रावण के साहाय्य में सबसे आगे दीखकर अपना पराक्रम और प्रताप दिखाना।—और जब वे पहले आकर जमे हैं, तो क्यों वे पवनंजय को आगे दीखकर युद्ध के नेतृत्व का श्रेय लेने देंगे।—एक स्वर में सारा राज-मण्डल मुकर गया—'नहीं, यह नहीं हो सकता, यह हरगिज नहीं हो सकता, यह अनधिकार चेष्टा है, यह समस्त राज-चक्र की अवमानना है, इसमें स्वामी-द्रोह और दुरभिसन्धि की गन्ध आ रही है। यह सरासर अन्याय-विचार है—लौट जाओ, अपने स्थान पर लौट जाओ—पीछे से आये हो तो पीछे आकर जुड़ जाओ। सामुद्रिक मोरचों पर अभी पर्याप्त सैन्य उपस्थित हैं।—और वहाँ से माँग आये भी तो जो आगे हैं वे पहले जायेंगे....' आदि-आदि। देखते-देखते चारों ओर भृकुटियाँ तन गयीं। बात की बात में आक्रोश और उत्तेजन फुँफकार उठा। पवनंजय की नम्र और धीर विनतियों पर ताने और व्यंग्य बरसने लगे।

पर पवनंजय जरा विचलित न हुए। निर्विकार और निश्चल, ठीक इसी समुद्र के तट की तरह गम्भीर होकर अपनी मर्यादा पर वे थमे रहे। दोनों हाथों से शान्ति और समाधान का संकेत करते हुए, पवनंजय ने समस्त नरेन्द्र मण्डल के प्रति माथा झुका दिया और अपने रथ की वल्गा मोड़ दी!—उनकी इस हार पर पीछे हो-होकार का तुमुल कोलाहल हुआ।—पर मन ही मन पवनंजय खूब जानते हैं कि उन्होंने जो मार्ग पकड़ा है उसपर गमन सहज नहीं है। हारों और बाधाओं से वह राह पटी हुई है। ये बाधाएँ तो बहुत तुच्छ हैं। उस राह पर तो पग-पग पर प्राण बिछाकर ही चलना होगा। उनका मन आज अपूर्व रूप

से शान्त और सन्तुलित है।

यथास्थान लौटने पर पवनंजय ने सेनाओं को डेरे डालने और पूर्ण विश्राम लेने की आज्ञाएँ सुना दीं। बात की बात में शिविर निर्माण हो गया। कुमार स्वयं भी युद्ध-सज्जा में ही तल्प पर अधलेटे हो गये कि जरा पथ की श्रान्ति मिटा लें। पर भीतर संकल्प अश्रान्त भाव से चल रहा है। उसमें अरुक गति है, विराम नहीं है।—आत्मस्थ होकर पवनंजय ने सुदूर शून्य में लक्ष्य बाँधा। उपरिचेतन में आसीन हो जाने पर, तत्कालीन बहिर्जगत् विस्मृत हो गया। ऊपर जैसे एक हलका-सा तन्द्रा का आवरण पड़ गया। बिदा-क्षण की अंजना की वह सानुरोध दृष्टि और फिर एक गम्भीर भार से आनत वह कल्प-लता, अपने सम्पूर्ण मार्दव से एकबारगी ही अन्तर में झलक गयी।—और अगले ही क्षण उसमें से समुद्र की प्रशान्त सतह सामने खुल पड़ी। थोड़ी देर में पाया कि आप जल के उस अपार विस्तार पर दीर्घ डग भरते हुए चल रहे हैं। पैरों तले लहरें स्थिर हो गयी हैं या चंचल हैं, इसका पता नहीं चल रहा है। पर अस्खलित गति से वे उनपर बढ़ते जा रहे हैं। अचानक सामने आकाश से उतरता हुआ एक अपरूप सुन्दर युवा दीखा।—देखते-देखते उसके शरीर की कान्ति से तेज की ज्वालाएँ निकलने लगीं।....युवा सरल कौतुक से नाचता हुआ स्वर्ण-लंका के शिखरों पर छलांगें भर रहा है।....और निमिष मात्र में उसके पैरों से निकलती हुई शिखाओं से सोने की लंका धू-धू सुलग उठी। अमित स्वर्ण की राशि गल-गलकर समुद्र की लहरों में तदाकार हो रही है....और ऊपर अपनी मुसकान से शीतल कान्ति की किरणें बरसाता हुआ वह अपरूप सुन्दर युवा फिर आकाश में अन्तर्लीन हो गया।...और अन्त में फिर दिखाई पड़ा महाकाश के वक्ष में पड़ा वही स्निग्ध और प्रशान्त सागर का तल....!

आँख खुलते ही पवनंजय ने पाया कि पायताने की ओर चौकी पर प्रहस्त बैठे हैं।—स्वर्ग की उपपाद शय्या पर जैसे अपने जन्म के समय देव जागकर उठ बैठते हैं, वैसे ही एक सर्वथा नवीन जन्म में जागने की अँगड़ाई भरते हुए कुमार पवनंजय उठ बैठे।— तुरत बोले—

"सखे प्रहस्त, महामण्डलेश्वर रावण से जाकर अभी-अभी मिलना होगा।—पहले ही कह चुका हूँ, आवाहन धर्म और कल्याण का है। मैं विजय लेने नहीं

आया, मैं तो रहा-सहा स्वत्व का जो अभिमान है उसे ही हारने आया हूँ। अपने ही भीतर जो शत्रु चोर-सा घुसा बैठा है, उसे ही तो पकड़कर बाँध लाना है। कठिन से कठिन कसौटी की धार पर ही वह नग्न होकर सामने आयेगा। शस्त्र और सैन्य उसे जीतने में विफल होंगे। उससे भीतर का वह दुर्जेय शत्रु टूटेगा नहीं, उसका बल उलटे बढ़ता ही जायेगा। और विजय यदि पानी है तो अपने ही ऊपर, तब सैन्य को साथ ले जाकर क्या होगा ? सेनाओं को धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने की आज्ञा दे दो, जबतक हम लौटकर न आयें। अन्तरीप के सैन्य-शिविरों में यदि कोई अशान्ति अथवा कोलाहल हो, शस्त्र भी उठ जायें, तब भी हमारे सैन्य निश्चेष्ट और शान्त रहें। उन्हें क्षुब्ध और चंचल ज़रा नहीं होना है। आवेश और चुनौती कहीं नहीं झलकाना है। बाहर की चिरौरी, छेड़-छाड़ अथवा कटुता की अवज्ञा कर उसके सम्मुख सर्वथा मौन रहना है।—जबतक हमारी नयी आज्ञा न हो, यही हो सैन्य का अनुशासन !—उपसेनापतियों को आज्ञाएँ सुनाकर यान पर आओ, हम इसी क्षण उड़कर लंका चलेंगे—।''

....लंका में पहुँचकर पवनंजय को पता लगा कि रावण स्वयं वरुण-द्वीप की समुद्र-मेखला में जा उतरे हैं। द्वीप के प्रमुख द्वार की वेदी पर वे स्वयं वरुण के सम्मुख जूझ रहे हैं। सहयोगी मित्र और माण्डलीक के नाते लंकापुरी के राज-परिकर में पवनंजय का यथेष्ट स्वागत-सम्मान हुआ। जिस प्रासाद में ठहराये गये थे, उसी के एक शिखर पर चढ़कर पवनंजय ने युद्ध-स्थिति का सिंहावलोकन किया। उन्होंने देखा, वरुण-द्वीप के आस-पास के जल-प्रदेश में बहुत दूर-दूर तक विद्याधरों और भूमिगोचरों के सैन्य विशाल जहाज़ी बेड़े डालकर द्वीप पर निरन्तर आक्रमण कर रहे हैं। विद्युत् और अग्नि-शस्त्रों की विस्फोटक मारों से जल और आकाश मलिन और क्षुब्ध हो गया है। या तो दानवों की भैरव ललकारें सुन पड़ती हैं, या फिर कटते और मरते मानवों की आर्त चीत्कारों से दिग्-दिगन्त त्रस्त हो रहा है। चारों ओर के समुद्र का जल मानव के रक्त से गहरा लाल और काला हो गया है—।

....पवनंजय के वक्ष में एक तीव्र उद्वेलन और गहरी व्यथा-सी होने लगी। 'ओह, क्या यह भी हो सकता है मनुष्य का रूप ?—क्यों मनुष्य इतना अज्ञानी और विवश हो गया है कि ऐसी निर्दयतापूर्वक दिन-रात अपनी ही आत्म-हत्या

कर रहा है।—इस निरर्थक संसार का कहाँ अन्त है, और क्या है इसका प्रयोजन ? इससे मिलनेवाली विजय का क्या मूल्य है ? कुछ सबलों की महत्त्वाकांक्षाओं और मान-तृष्णा की तृप्ति के लिए लक्ष-लक्ष अबलों का ऐसा निर्मम प्रपीड़न और संघात क्यों ?—नहीं, वह नहीं होने देगा यह सब—इतनी असाध्य नहीं है यह विवशता।

....राशिकृत धूम्र का यह पर्वताकार दानव कहाँ से जन्मा है ? क्या यही है मनुष्य के पुरुषार्थ का श्रेष्ठ परिचय ?—आकाश और समुद्र की सनातन शुचिता को नाश, विस्फोट, त्रास और मरण से कलंकित कर, क्या मनुष्य उनपर अपना स्वामित्व घोषित किया चाहता है ? अपने ही स्वजन मनुष्य के रक्त से अपने भाल पर जय का टीका लगाकर, क्या वह अपना विजयोत्सव मना रहा है—? क्या यही है उसकी दिग्विजय का चूड़ान्त बिन्दु ? क्या इसी बल को लेकर मनुष्य अखण्ड प्रकृति पर अपना निर्बाध स्वामित्व स्थापित करने का दावा कर रहा है ?—पर यह विजेता का वरण नहीं है, यह तो बलात्कारी का व्यभिचार है। तब निखिल का अमृत और सौन्दर्य उसे नहीं मिलेगा, मिलेंगे केवल एक विकलांग शव के टुकड़े !—उसी निर्जीव मांस को हृदय से चिपटाकर, मनुष्य अपने आपको धन्य मान रहा है....!

....मनुष्य के पुण्य-ऐश्वर्य, बल-शौर्य, विद्या-विज्ञान, उसके पुरुषार्थ और उसकी साधना का क्या यही है चरम रूप—? सहस्रों वर्षों तक इसी रावण ने कितनी ही तपस्याएँ की हैं; जाने कितनी विद्याओं, विभूतियों और सिद्धियों का वह स्वामी है। नियोग से ही तीन खण्ड पृथ्वी का वह अधीश्वर है। अपने नीतिशास्त्र के पाण्डित्य के लिए वह लोक में प्रसिद्ध है। पर इस सारी महिमा और ऐश्वर्य के भीतर वही अहंकार की विद्रूप प्रेतिनी हँस रही है; जन्म-जन्म की तृष्णा का रक्त उसके होंठों पर लगा है—और उसकी प्यास का अन्त नहीं है। अपनी उपलब्धियों के इस विराट् परिच्छद के भीतर, इसका स्वामी कहा जानेवाला मनुष्य स्वयं ही इसका बन्दी बन गया है—! कितना दीन-हीन, अवश और दयनीय है वह ? जिन भौतिक शक्तियों और विभूतियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उसे गर्व है, वह नहीं जानता है कि वह स्वयं उन जड़ शक्तियों का दास हो गया है।—अपने ही आत्म-नाश को वह अपना आत्म-प्रकाश समझने

की भ्रान्ति में पड़ा है....।

....मनुष्य के पुरुषार्थ और उसकी लब्धियों की ऐसी दुखान्त पराजय देखकर, पवनंजय का समस्त हृदय हाय-हाय कर उठा। फिर एक मर्मान्तक वेदना से वे आकण्ठ भर आये।—उन्हें लगा कि यह रावण की और इन प्रमत्त नरेन्द्रों की ही पराजय नहीं है; यह तो उसकी अपनी पराजय है!—समस्त मानव-भाग्य का यह चरम अपराध है। उसे देखकर उस मानव-पुत्र की आँखों में लज्जा, करुणा, ग्लानि और आत्म-सन्ताप के आँसू भर आये।

....इस अपराध का उन्मूलन करना होगा।—उसके बिना उसके मानवत्व और अस्तित्व का त्राण नहीं है।....उसे प्रतीति हो रही है कि उसके जीवन का आयतन जो यह लोक है, उसके मूलाधार हिल उठे हैं। इस महासत्ता को धारण करनेवाले ध्रुव धर्म के केन्द्र से, लोक च्युत हो गया है—हमारी धात्री पृथ्वी और हमारा रक्षक आकाश किस क्षण हमारे भक्षक बनकर हमें लील जायेंगे; इसका कुछ भी निश्चय नहीं है।—कौन-सी शक्ति लेकर इस महामृत्यु के सम्मुख वह खड़ा हो सकेगा....?

....क्या मानव के उसी पुरुषार्थ, शौर्य-वीर्य, विद्या-बुद्धि और बल के सहारे वह इस मौत का प्रतिकार कर सकेगा, जिससे प्रमत्त होकर मनुष्य ने स्वयं इस मौत को आमन्त्रित किया है—? नहीं, उस जड़ शक्ति से टकराकर तो यह पुंजीभूत जड़त्व और भी चौगुना होकर उभरेगा। उन सारी शक्तियों से इनकार करके ही आगे बढ़ना होगा।—नितान्त बलहारा, सर्वहारा और अकिंचन होकर ही शक्ति के उस विपुल आयोजन के सम्मुख, अच्युत और अनिरुद्ध खड़े रहना होगा।—जीवन के अमरत्व में श्रद्धा रखकर, चैतन्य की नग्न और मुक्त धारा को ही उसके सम्मुख बिछा देना होगा, कि मौत भी चाहे तो उसमें होकर निकल जाये, उसे रोक नहीं है।—तब वे शक्तियाँ और वह मौत अपने आप ही उसमें विसर्जित हो जायेंगे, उसे पार करके जाने में उसकी सार्थकता ही क्या है?—मौत के सम्मुख हमारा चैतन्य कुण्ठित हो जाता है, इसी से तो मौत हमारा घात कर पाती है। पर चैतन्य यदि अव्याबाध रूप से खुला है, तो उसमें आकर मौत आप ही मर जायेगी।—पवनंजय को लग रहा है कि अन्यथा जीवन को अवस्थान और कहीं नहीं है। वह अस्तित्व के उस चरम सीमान्त पर खड़ा है, जहाँ एक

ओर मरण है और दूसरी ओर जीवन। दोनों के बीच उसे चुन लेना है। तीसरी राह उसके लिए खुली नहीं है—। यदि वह सचमुच जीना चाहता है तो मौत से बचकर या उससे भयभीत होकर जीना सम्भव नहीं है। तब जीवन को यदि चुनना है तो मौत के सम्मुख उसे खुला छोड़ देना होगा, मौत आप ही मिट जायेगी।—जीवन की रक्षा के लिए यदि उस मौत से लड़ने और अवरोध देने जाओगे, तो आप ही उसके ग्रास हो जाओगे। इसलिए जीवन यदि पाना है तो, उसे दे देना होगा। एक मात्र इसी मूल्य से उसे पाया जा सकेगा।—और पवनंजय जीना चाहता है—!

....उसके भीतर की सारी वेदना के स्तरों में से, सत्य का यही एक सुर सबसे ऊपर होकर बोल रहा है। उसके समूचे प्राण में इस क्षण एक अनिर्वार व्यथा है, कि यह बाहर का विश्व क्यों उससे विच्छिन्न होकर, उसका पराया हो गया है? उसके साथ फिर निरवच्छिन्न होकर उसे जुड़ जाना है।—उस बाहर के विश्व में यह जो नाश का चक्र चल रहा है, इसमें अपने ही आत्मघात की वेदना उसे अनुभव हो रही है। इसी से अपनी समस्त चेतना को बाहर फेंककर, उसके पूरे जोर से वह उस बहिर्गत विश्व को अपने भीतर समेट लाना चाहता है, कि वह उसकी रक्षा कर सके। और इस संवेदन के भीतर छिपा है उसकी अपनी ही आत्मरक्षा का अनुरोध! तब बाहर के प्रति अपने को देने में किसी कर्तव्य का अनुरोध नहीं है, वह तो अपनी ही आत्म-वेदना से निस्तार पाना है।

मन ही मन अपना भावी कार्यक्रम गूँथकर, रात ही को पवनंजय ने रावण के गृह-सचिव से अनुरोध किया कि सवेरे वे स्वयं जाकर महामण्डलेश्वर से मिला चाहते हैं। उन्होंने बताया कि उनका प्रयोजन बहुत गम्भीर और गोपनीय है। स्वप्न में प्रकट होकर उनकी कुल-देवी ने उन्हें एक गोपन-अस्त्र दिया है, वही हाथों-हाथ वे रावण को अर्पित किया चाहते हैं; उस आयुध में यह शक्ति है कि बिना किसी संहार के क्षण मात्र में वह शत्रु को निर्मूल कर देता है। गृह-मन्त्री जानते थे कि वरुण-द्वीप के दुर्ग की प्रकृत चट्टानी दीवारों पर विद्याधरों की सारी विद्याएँ और शस्त्रास्त्र विफल सिद्ध हुए हैं। तब अवश्य ही कोई असाधारण योगा-योग है कि आदित्यपुर का राजपुत्र एकाएक यह गोपन-अस्त्र लेकर आ पहुँचा है। मन्त्री के आश्चर्य और हर्ष का पार नहीं था। तुरत उन्होंने पोत-प्रधान को बुला-

कर आज्ञा दी कि अगले दिन तड़के ही, महाराज के अपने निजी बेड़े की एक जलवाहिनी, परिकर के कुछ खास व्यक्तियों को लेकर चक्री के 'सीमन्धर' नामा महापोत पर जायेगी। उन व्यक्तियों को पोत के ठीक उस द्वार पर उतारा जाये, जहाँ से वे सीधे चक्रेश्वर के पास पहुँच सकें। यथासमय समुद्र-तोरण पर यान प्रस्तुत रहना चाहिए—आदि।

....समुद्र के क्षितिज पर बाल-सूर्य का उदय हो रहा है। रावण के कुछ विश्वस्त गुप्तचरों के संरक्षण में पवनंजय और प्रहस्त को लेकर जलवाहिनी सीमन्धर-पोत के निज-द्वार पर आ पहुँची। चर के नियत संकेत पर पोत के निश्चिह्न तल में एकाएक एक द्वार खुल पड़ा। आगन्तुकों को भीतर लेकर फिर द्वार वैसा ही बेमालूम बन्द हो गया। आगे-आगे गुप्तचर अपनी आतंक की गरिमा में अभिभूत होकर बेख़बर चल रहे थे और पीछे-पीछे पवनंजय प्रहस्त के कन्धे पर हाथ रखकर उनका अनुसरण कर रहे थे। रास्ते में ही पवनंजय ने चरों को बता दिया था कि महाराज के सम्मुख जाने के पहले, वे पोत की आयुधशाला में जाकर युद्ध-सज्जा धारण करेंगे, अतएव पहले उन्हें वे आयुधागार में ही पहुँचा दें। उक्त निश्चय के अनुसार पवनंजय और प्रहस्त को आयुधागार में पहुँचाकर, वे चर युद्ध-स्थिति देखने की उत्सुकता से पोत की खुली कटनी में चले गये। चरों के आदेशानुसार पवनंजय को आयुधागार में प्रवेश करा देने के बाद प्रहरी उस ओर से निश्चिन्त हो गया था।

...सूर्य अपनी सम्पूर्ण किरणों से उद्भासित होकर मंगल के पूर्ण-कलश-सा उदय हो गया।....चक्री के 'सीमन्धर' महा-पोत की खुली अटा के छोर पर खड़े हो, उदीयमान सूर्य की ओर उद्ग्रीव होकर, पवनंजय ने तीन बार समुद्र की लहरों पर शान्ति का शंखनाद किया....! अश्रान्त चल रहे निबिड़ युद्ध में धीरे-धीरे एक सन्नाटा-सा व्याप गया। रण के उन्माद में बेभान जूझ रहे सैनिकों के हाथ में शस्त्र स्तम्भित होकर तने रह गये—। रावण को किसी गम्भीर दुरभिसन्धि की आशंका हुई। चक्री के धनुष पर चढ़ा हुआ वज्र-बाण, प्रत्यंचा से छूटकर उँगलियों में ढलक पड़ा। क्रोध से उनकी भृकुटियाँ तन गयीं। आग्नेय दृष्टि से मुड़कर पीछे देखा—मानो भृकुटि से ही ललकारा हो कि—कौन है इस पृथ्वी पर जो त्रिखण्डाधिपति रावण का अनुशासन भंग करने की स्पर्धा कर सकता है—?

मैं उसे देखा चाहता हूँ....। ठीक उसी क्षण हँसते हुए पवनंजय सम्मुख आ उप-स्थित हुए।

"आदित्यपुर का युवराज पवनंजय महामण्डलेश्वर को सादर अभिवादन करता है !"

कहकर पवनंजय सहज विनय से नत हो गये। भृकुटियों के बल उतरने के पहले ही, रावण के वे कई दिनों के मुद्रित होंठ आज बरबस मुसकरा आये। कुमार के माथे पर हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया और कुशल पूछी। फिर चकित-विस्मित वे उस दुःसाहसिक राजपुत्र के तेजोदीप्त चेहरे को देखते रह गये, जिसकी सम्मोहिनी भौंहों के बीच अवहेलित अलकों की एक घुँघराली लट स्वाभाविक-सी पड़ी थी। रावण कुछ इतने मुग्ध और बेसुध हो रहे कि क्षण-भर को अपने प्रचण्ड प्रताप और महिमा का भान उन्हें भूल गया। प्रश्न अन्तर्मन में निस्तब्ध होकर खो गया—कि कैसे उस उद्दण्ड युवा ने बिना पूर्व-सूचना के ठीक महामण्डलेश्वर के सम्मुख आने का दुःसाहस किया है? चक्री के उस प्रखर आतंकशाली मुख को यों दिग्मूढ़-सा पाकर पवनंजय मुसकरा आये। सहज ही समाधान करते हुए मृदु मन्द स्वर में बोले—

"महामण्डलेश्वर! औद्धत्य क्षमा हो।—आपके मन की चिन्ता को समझ रहा हूँ। पर निश्चिन्त रहें—अनायास अभी शान्ति का शंख-सन्धान करने की धृष्टता मुझी से हुई है। यदि शासन-भंग का अपराध मुझसे हुआ हो तो उचित दण्ड दें—यह माथा सम्मुख है। पर इस क्षण वह अनिवार्य जान पड़ा, इसी से आपद्काल में वह नियमोल्लंघन मुझसे हुआ है। कृपया, मेरा निवेदन सुन लें, फिर जो इष्ट दीखे वही निर्णय दें। तीन खण्ड पृथ्वी के राज-राजेश्वर रावण, अपने अधीन इतने विशाल राज-चक्र के रहते, इस छोटे-से भूखण्ड पर अधिकार करने के लिए स्वयं शस्त्र उठायें और दिन-रात युद्धरत रहें, यह मुझे असह्य और अशोभन प्रतीत हुआ। समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी पर जिसकी नीतिमत्ता की कीर्ति गूँज रही है, जिसकी तपश्चर्या से ब्रह्मर्षियों के मस्तक डोल उठे और इन्द्रों के आसन हिल उठे, उस रावण की महानता और गौरव के योग्य बात यह नहीं है।.... यदि आप-से वीरेन्द्र और ज्ञानी ऐसा करेंगे, तो लोक में ब्रह्म-तेज और क्षात्र-तेज की मर्यादा लुप्त हो जायेगी। राजा तो अबल और अनाथ का रक्षक होता

है, और आप तो रक्षकों के भी चूड़ामणि हैं। लंकापुरी के बालक-सा यह वरुण-द्वीप आपके प्रहार की नहीं प्यार की चीज होनी थी। जिस चक्री के एक शंखनाद और तीर पर दिशाओं के स्वामी उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेते हैं, वह एक छोटे-से राजवी और उसकी छोटी-सी धरती को जीतने के लिए अपना सारा बल लगा दे, यह व्यंग्य क्यों जन्मा है....? सहस्रों नरेन्द्र जिसके तेज और प्रताप को सहज ही सिर झुकाते हैं, ऐसे विजेता का शस्त्र हो सकती है केवल क्षमा! क्षमा न कर इस छोटे से राजा को इतने सैन्य के साथ आक्रान्त किया गया है : तब लगता है कि दुर्दान्त विजय-लालसा पराकाष्ठा पर पहुँचकर, स्वयं एक बहुत बड़ी और विषम पराजय बन गयी है। अपनी वही सबसे बड़ी और अन्तिम हार, आँखों के सामने खड़ी होकर, दिन-रात आपकी आत्मा को त्रस्त किये है। आप-से विजेता की इतनी बड़ी हार ने मेरे मन को बहुत सन्तप्त कर दिया है। इसी से एक लोक-पुत्र के नाते, सीधे लोक-पिता के पास अपनी पुकार लेकर चला आया हूँ। निवेदन के शेष में इतना ही कहना चाहता हूँ, कि मेरी मानें तो राजा वरुण को अभय दें, आप स्वयं होकर उसे रक्षा का वचन दें, उसके वीरत्व का अभिनन्दन करें और लंकापुरी लौट जायें। यही आप-से वीर-शिरोमणि के योग्य बात है। लोक-पिता के उस वात्सल्य के सम्मुख, वरुण आप ही झुक जायेगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। युद्ध का ही अंग होकर शायद मैं इस भीषण युद्ध को न थाम पाता, इसी से अपने स्वायत्त धर्म-शासन को सर्वोपरि मानकर मैंने यह शान्ति की पुकार उठायी है। आशा करता हूँ, महामण्डलेश्वर मेरे मन्तव्य को समझ रहे हैं।"

देव और दानव जिस महत्ता के अधीन सिर झुकाये खड़े हैं, पृथ्वी का वही मूर्तिमान् अहंकार खण्ड-खण्ड होकर पवनंजय के पैरों में आ गिरा। मूक और स्तब्ध रावण सिर से पैर तक उस अद्भुत युवा को देखते रह गये....। यह कैसी अन्तर्भेदी चोट है, कि प्रहार के प्रति हृदय प्यार से उमड़ आया है। पर प्यार प्रकट करने का साहस नहीं हो रहा है, और क्रोध इस क्षण असम्भव हो गया है। कैसे इस विडम्बना से निस्तार हो, रावण बड़े सोच में पड़ गये। इस स्थिति के सम्मुख खड़े रहना उन्हें दूभर हो गया। कौशलपूर्वक टाल देने के सिवा और कोई रास्ता नहीं सूझा। किसी तरह अपने को सँभाला। गौरव की एक घायल और

कृत्रिम हँसी हँसते हुए रावण बोले—

"हूँ....वाचाल युवा! जान पड़ता है साथी-सखाओं में खेलना छोड़कर अर्ध-चक्री रावण को उपदेश देने चले आये हो! इस बालक-से सलोने मुखड़े से ज्ञान और विवेक की ये गुरु-गम्भीर बातें सुनकर सचमुच बड़ी हँसी आ रही है। तुम्हारी यह नादानी मेरे निकट क्रोध की नहीं प्यार की वस्तु है। पर तुम्हारा यह दुःसाहस खतरे से खाली नहीं है।—उद्दण्ड युवा, सावधान! आदित्यपुर के युवराज को मैंने धर्म और राजनीति की शिक्षा लेने नहीं बुलाया, उसे इस युद्ध में लड़ने को न्योता गया है। *विजय और वीरत्व की ये लम्बी-चौड़ी भावुक व्याख्याएँ* छोटे मुँह बड़ी बात की जल्पना मात्र है।—पहली ही बार शायद युद्ध देखा है, इसी से भयभीत होकर बौखला गये हो, क्यों न?- महासेनापति, इस युवा को बन्दी करो। जो भी इसका अपराध क्षमा करने योग्य नहीं, फिर भी इसके अज्ञान पर दया कर और अपने ही राज-परिकर का बालक समझकर मैं इसे क्षमा करता हूँ। मेरे निज महल के शिखर-कक्ष में इसे बन्दी बनाकर रखा जाये और युद्ध की शिक्षा दी जाये।—ध्यान रहे यह कौतुकी युवा यदि निर्बन्ध रखा गया, तो निकट आयी हुई विजय हाथ से निकल जायेगी। वरुण-द्वीप के टूटने में अब देर नहीं है। *उसके पिछले द्वार में सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है!....*"

आँखें नीची किये पवनंजय चुपचाप सुन रहे थे। बड़ी कठिनाई से अपनी हँसी पर वे संयम कर रहे थे। चलती बेर दृष्टि उठाकर, आँखों में ही मर्म की एक हँसी हँसकर पवनंजय ने रावण की ओर देखा और सहज मुसकरा दिया। प्रत्युत्तर में रावण भी अपनी हँसी न रोक सके। महासेनापति के इंगित पर जब कुमार चलने को उद्यत हुए, तो पाया कि चारों ओर वे चार नग्न खड्गोंवाले सैनिकों से घिरे हैं। ज़रा आगे बढ़ने पर प्रहस्त भी उनके अनुगामी हुए।

योगवशात् रावण के जिस महल के शिखर-कक्ष में पवनंजय और प्रहस्त बन्दी बनाकर रखे गये थे, वहीं के एक गुम्बद की ओट पवनंजय अपना यान छोड़ आये थे। आतंक के उस बन्दी-गृह के प्रहरी भी, दिन-रात आतंकित रहकर मृतवत् हो गये थे। जीवन में पहली ही बार पवनंजय का वह लीला-रमण स्वरूप देखकर, वे बर्बर प्रहरी उस आतंक से मुक्ति पा गये। मुग्ध और विभोर आँखों से वे एकटक पवनंजय की निराली चेष्टाएँ देखते रह गये। रावण का

भयानक प्रभुत्व एकबारगी ही वे भूल गये। यन्त्र की तरह जड़ और कठोर हो गये वे मानव के पुत्र, फिर एक बार सहज मनुष्य होकर जी उठे। उन्हें पास बुलाकर पवनंजय ने उनका परिचय प्राप्त किया, अपना परिचय दिया और सहज हो अपने भ्रमण के अद्भुत और रंजनकारी वृत्तान्त सुनाने लगे। आनन्द और कौतूहल में अवश होकर प्रहरी बह चले। आठों पहर उनके हाथ में अडिग तने रहनेवाले वे नग्न खड्ग एक ओर उपेक्षित-से पड़े रह गये। बातों ही बातों में कब शाम हो गयी और कब दिन डूबकर रात पड़ गयी, सो प्रहरियों को भान नहीं है। एक के बाद एक ऐसे रस-भरे आख्यान कुमार सुना रहे हैं, कि आस-पास के वे निरीह प्राणी उस रस-धारा की लहरें बनकर उठ रहे हैं और मिट रहे हैं। कुमार से बाहर उनका अपना कर्तृत्व या अस्तित्व शेष नहीं रह गया है....

...कहानियाँ सुनते-सुनते जाने कब वे सब प्रहरी अबोध बालकों-से सो गये—। इसी बीच प्रहस्त की भी आँख लग गयी। अकेले पवनंजय जाग रहे हैं। आँखें मूँदकर कुमार एक तल्प पर लेट गये। संकल्प पूर्ण वेग से सजग होकर अपना काम करने लगा।—रावण के आदेश में अपने प्रयोजन की एक बात उन्होंने पकड़ ली थी : द्वीप के पिछले द्वार में सेंध लगाकर उसे तोड़ा जा रहा है। यदि द्वार टूट गया, तो इसके बाद द्वीप पर नाश का जो नृत्य होगा, हिंसा का वह दृश्य बड़ा ही रौद्र और लोमहर्षी होगा। जितना ही रक्त रावण को अब तक इस युद्ध में बहाना पड़ा है, उसका चौगुना रक्त बहाकर वह इसका प्रतिशोध लेगा। रावण से बात कर उन्हें यह निश्चय हो गया था कि त्रिखण्ड पृथ्वी का अधीश्वर अपना ही अधीश्वर नहीं है। वह तो अपने ही से हारा हुआ है। उसे हराने की समस्या उनके सामने नहीं है। हराना है उस जड़त्व की शक्ति को जिसके वशीभूत होकर, रावण-सा महामानव इतना दयनीय और दुर्बल हो गया है। वह तो स्वयं त्राण और रक्षा का पात्र हो गया है, उसे हराने की क्या कल्पना हो सकती है। वरुण जो भी सत्य और आत्म-स्वातन्त्र्य के लिए लड़ रहा है, पर वह भी उसी जड़-शक्ति का सहारा लेकर सम्मुख आयी दूसरी जड़-शक्ति का प्रतिकार कर रहा है, जिसने रावण को रावण बनाया है। यह प्रतिकार निष्फल होगा और इसमें वरुण और उसका वरुण-द्वीप भले ही मिट जायें, पर शत्रु का उच्छेद नहीं हो सकेगा—। यह सब होते हुए भी वरुण निर्दोष है, उसी की ओर

से सत्य की पुकार सुनाई पड़ रही है। बिना एक क्षण की देर किये पवनंजय को वहाँ चले जाना है, नहीं तो सवेरे बहुत देर हो जायेगी।—एक ही रास्ता उसके लिए खुला है: जहाँ सम्पूर्ण पशु-बल केन्द्रीभूत होकर द्वीप का पिछला द्वार तोड़ने में लगा है—उसके सम्मुख जाकर उसे खड़े हो जाना है, अकाम और अनवरुद्ध, कि उस शक्ति को अवसर है कि उसमें होकर अपना रास्ता बना ले। वक्ष में अकम्प जल रही उस लौ के सिवा और बाहर के किसी भी बल पर उसका विश्वास नहीं रहा है। उसके अतिरिक्त औरों से वह अपने को बहुत ही निर्बल, अवश और निःशस्त्र अनुभव कर रहा है। उस अनिवार आत्म-वेदना के सिवा उसके पास और कुछ नहीं है।

....रात आधी से अधिक चली गयी है। पवनंजय ने बाहर आकर देखा, आक्रमण अविश्रान्त चल रहा है। समुद्र की लहरों में प्रलयंकर का डमरू भयंकर घोष करता हुआ बज रहा है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चीत्कारों और हुंकारों के बीच, विध्वंस का देवता, सहस्रों ज्वालाओं के भंग तोड़कर ताण्डव-नृत्य कर रहा है। ब्रह्माण्ड कँपा देनेवाले विस्फोटों और आघातों से दिगन्त बहरा हो गया है।

भीतर आकर पवनंजय ने प्रहस्त को जगाया और संक्षेप में अपना मन्तव्य उन्हें जता दिया।—प्रहस्त सुनकर सन्नाटे में आ गये—। बिना एक शब्द बोले वे पवनंजय के उस चेहरे को ताकते रह गये।

"दीर्घ विचार और दूर-दर्शिता का यह अवसर नहीं है, प्रहस्त तुम और मैं इस क्षण अन्यथा सोचने को स्वाधीन नहीं हैं। हमसे परे कोई शक्ति है जो इस मुहूर्त में हमारे भीतर काम कर रही है; उसी की पुकार पर चल पड़ना है। उसे इनकार कर सकना हमारे बस का नहीं है। रुकना इस क्षण मौत है, जीना है कि चल पड़ना होगा। यह मुहूर्त महान् है, प्रहस्त, इसके हाथों अपने को सौंपकर हम निश्चिन्त हो जायें, प्रभु स्वयं इसके रक्षक हैं।—तैयार होकर यान पर आओ, जरा भी देर हो गयी तो अनर्थ घट जायेगा।....

....बहुत ऊँचे पर ले जाकर पवनंजय ने यान को एक सम गति पर छोड़ दिया। वरुण-द्वीप के चारों ओर एक लम्बा चक्कर देकर ऊपर से रण-लीला का विहंगावलोकन किया। तदनन्तर बहुत ही सावधानी से कुमार ने यान को वरुण-द्वीप में ला उतारा। यान नीरवगामी था। नीचे जलती हुई सहस्रों मशालों और

कोलाहलों के बीच टूटकर आयी हुई उल्का की रेखा-सा यान उतरा। कोलाहल और भी भयंकर हो उठा। हिंसा के मद में पागल मानवों की बेतहाशा भीड़ चारों ओर से आ टूटी। पवनंजय यान से उतरकर हँसते हुए बाहर आये। चारों ओर घिर आयी मेदनी के हाथ जोड़कर बार-बार उनके प्रति माथा झुकाते हुए प्रणाम किया। निःशस्त्र और अरक्षित शरीर पर केवल एक-एक केशरिया उत्तरीय ओढ़े देव-कुमारों-से इन सुन्दर और तेजोमान् युवाओं को देख जनता स्तब्ध रह गयी। चारों ओर एक सन्नाटा-सा व्याप गया। पवनंजय ने सार्वजनिक रूप से मैत्री और अभय की घोषणा की। कहा कि वे उसी मानव-मेदनी के एक अंश हैं, विदेशी होकर भी वे उन्हीं के एक अभिन्न बान्धव और आत्मीय हैं। उनकी सेवा में अपने को देकर कृतार्थ होने वे आये हैं—और उनका सब कुछ उनके प्रेम के अधीन है।—अन्त में उन्होंने अनुरोध किया कि तुरत उन्हें राजा वरुण के पास पहुँचाया जाये....।

राजा वरुण द्वीप के समुद्र-तोरण पर स्वयं रावण के सम्मुख युद्ध में संलग्न थे। जब उनके पास संवाद पहुँचा कि अभी-अभी अचानक दो विदेशी युवा, यान से द्वीप में उतरे हैं, सुन्दर, शान्त और निःशस्त्र हैं और उनकी सेवा किया चाहते हैं, तो सुनकर राजा बहुत अचरज में पड़ गये। अवश्य ही या तो कोई महान् सुयोग है, अथवा असाधारण दुर्योग—! जो भी हो, शत्रु भी यदि अतिथि बनकर घर आया है, तो वह सम्मान और प्रेम का ही पात्र है।—अपने मन्त्रणा-कक्ष में आकर राजा अतिथि की प्रतीक्षा करने लगे....।

कि इतने ही में कई मशालची सैनिकों से घिरे पवनंजय और प्रहस्त सामने आते दीख पड़े। राजा को पहचानकर कुमार सहज विनय से नत हो गये। उन्हें देखकर ही वरुण एक अप्रत्याशित आत्मीय-भाव से गद्‌गद हो गये। बिना किसी हिचक के मौन ही मौन राजा ने दोनों अतिथियों को गले लगा लिया। सैनिकों को जाने का इंगित कर दिया—।

परस्पर कुशल-वार्तालाप हो जाने पर सहज ही पवनंजय ने मैत्री और धर्म-वात्सल्य का आश्वासन दिया। राजा ने भी पवनंजय के दोनों जुड़े हाथों पर अपना सिर रख दिया—और उनके बन्धुत्व को ससम्मान अंगीकार किया। इसके बाद कुमार ने वरुण के वीरत्व का अभिनन्दन किया, अपना वास्तविक परिचय

दिया और कहा कि जिस सत्य के लिए वरुण इस धर्म-युद्ध में अपने सर्वस्व की आहुति दे रहे हैं, आदित्यपुर का युवराज उसी धर्म-युद्ध का एक छोटा-सा सैनिक बनकर अपने मानवत्व को सार्थक करने आया है। क्या राजा वरुण उसकी सेवा स्वीकार करेंगे ? वरुण के होंठ खुले रह गये, बोल नहीं फूट पाया। अननुभूत आनन्द के आँसू उस वीर की आँखों के किनारे चूम रहे थे। कुमार को गाढ़ स्नेह के आलिंगन में भरकर राजा ने मूक-मूक अपनी कृतज्ञता प्रकट कर दी।

पवनंजय ने तुरत प्रयोजन की बात पकड़ी।—उन्होंने बताया कि द्वीप के पिछले द्वार में जल के भीतर से सेंध लग चुकी है। सवेरे तक द्वार टूट जाने का निश्चित अन्देशा है।—उसी द्वार की तट-वेदी के गर्भ-कक्ष में पवनंजय उतर जाना चाहते हैं।—वही होगा उनका मोरचा। अकेले ही वहाँ उन्हें लड़ना है। दूसरा कोई जन उनके साथ वहाँ नहीं होगा, अभिन्न सखा प्रहस्त भी नहीं! उनका प्रतिकार क्या होगा, वे स्वयं नहीं जानते, सो उस सम्बन्ध में वे कुछ कह भी नहीं सकते। निश्चय हुआ कि उस कक्ष में अनिश्चित काल के लिए वे बन्द रहेंगे। आवश्यकता की चीज़ें एक खिड़की से पहुँचा दी जायेंगी।

योजना में राजा की सहमति या अनुमति की प्रतीक्षा किये बिना ही, कुमार ने अनुरोध किया कि तुरत उन्हें अपने निर्दिष्ट मोरचे पर पहुँचा दिया जाये। ज़रा भी देर होने में अवसर हाथ से निकल जायेगा!—इस रहस्यमय युवक की यह लीला राजा को अपनी बुद्धि से परे जान पड़ी। उसके सम्मुख कोई वितर्क नहीं सूझता है, अनायास एक विश्वास और श्रद्धा ही से वे ओत-प्रोत हो उठे हैं। मात्र इसका अनुसरण करने को वे बाध्य हैं, और कोई विकल्प मन में नहीं है।

राजा ने तुरत अपने एक अत्यन्त विश्वस्त चर को बुला कर पवनंजय को यथास्थान पहुँचाने की पूरी हिदायतें दे दीं। चलती बेर कुमार ने प्रहस्त को बिना बोले ही भुजाओं में भरकर भेंट लिया। फिर प्रहस्त की ओर इंगित कर, याचना की एक मूक दृष्टि उठाकर राजा की ओर देखा; मानो कहा हो कि—'यह मेरा अभिन्न तुम्हारे संरक्षण में है, मैं तो जा रहा हूँ—जाने कब लौट आने के लिए....!'

आगे-आगे चर और पीछे-पीछे पवनंजय चल दिये; मुड़कर उन्होंने नहीं देखा।—प्रहस्त आँसू का घूँट उतारकर पवनंजय की वह पीठ देखते रह गये।

....वेदी का वज्र-कपाट खोलकर पवनंजय देहली पर अटक गये।—चर ने

आगे बढ़कर निश्चिह्न भूमि में गर्भ-कक्ष की शिला सरका दी। चर के हाथ से रत्न-दीप लेकर पवनंजय गर्भ-कक्ष में उतर पड़े।....भीतर करोड़ों वर्षों का पुरातन ध्वान्त घटाटोप छाया है। चट्टानों में कटे हुए सैकड़ों खम्भों और छतों में जल-पंछियों के अनगिनती घोंसले लटके हुए हैं। चारों ओर असंख्य अविज्ञानित जीव-जन्तुओं की भयानक सृष्टि फैली है। समुद्रजल की विचित्र गन्ध से भरे वातावरण में, उन जन्तुओं के श्वास की ऊष्मा घुल रही है। जलचरों की नाना भयावह ध्वनियों के संगीत से वह तिमिर-लोक गुंजित है।—सामने की उस भीमकाय दीवार के ऊपर की एक पारदर्शी शिला में से, समुद्र-तल का पीला उजाला झाँक रहा है।—ऊपर-नीचे, भीतर-बाहर, चारों ओर समुद्र का अविराम गर्जन और संघात चल रहा है।—गर्भ-कक्ष के प्रकृत पाषाण-वातायन पर खड़े होकर पवनंजय ने देखा—नीचे नाश की अतलान्त खाई फैली पड़ी है; उसके भीतर घुसकर समुद्र दिन-रात पछाड़ें खा रहा है।

....कुमार ने चित्त और श्वास का निरोध कर लिया।—सातों तत्त्वों पर शासन करनेवाले जिनेन्द्र का स्मरण कर, करबद्ध हो मस्तक झुका दिया। फिर अंजुलि उठाकर, उनके सम्मुख संकल्प किया—

"हे परमेष्ठिन्! हे निखिल लोकालोक के आयतन! तू साक्षी है, मन्त्र का बल मेरे पास नहीं है, तन्त्र का बल भी नहीं है, सारी विद्याएँ भूल गयी हैं, शस्त्र भी मेरे पास नहीं है, अस्त्र भी नहीं है, सारी शक्तियाँ हार गया हूँ, सारे बलों का अभिमान टूट गया है, केवल सत्य है मुझ निर्बल का बल।—यदि मेरा सत्य उतना ही सत्य है, जितना तू सत्य है और यह समुद्र सत्य है, तो इस महा-समुद्र की लहरें मेरे उस सत्य की रक्षा करें, और नहीं तो इस प्रकाण्ड जल-राशि के गर्भ में ये प्राण विसर्जित हो जायें....!"

कसकर पवनंजय ने निखिल सत्ता के प्रति अपने आपको उत्सर्ग कर दिया....।

...सवेरा होते न होते एक प्रबल वात्याचक्र द्वीप के आसपास मँडराने लगा। ....देखते-देखते समुद्र में ऐसा प्रलयंकर तूफ़ान आया जैसा द्वीप के लोगों ने न पहले कभी देखा था और न सुना ही था। अपनी दिग्विजय के समय, प्रबल से प्रबल तूफ़ानों के बीच रावण ने समुद्रों पर आरोहण किया है, और उनकी जगती

पर अपनी प्रभुता स्थापित की है—पर आज का तूफ़ान तो कल्पनातीत है। आत्मा में होकर वह आर-पार हो रहा है, अनुभव से वह अतीत हो गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानो एक जलतत्त्व में निर्वाण पा गया है। सत्तामात्र इस जला-प्लावन की तरंग-भर रह गयी है....।

....विप्लवी और तुंग लहरों ने उठ-उठ कर चारों ओर से द्वीप को ढाँक लिया।....आस-पास पड़े आक्रमणकारियों के विशाल बेड़े, बिना लंगर उठाये ही, तितर-बितर होकर, समुद्र के दूर-दूर के प्रदेशों में, लहरों की मरज़ी पर फेंक दिये गये....। मनुष्य के सम्पूर्ण बल और कर्तृत्व का बन्धन तोड़कर, तत्त्व अपनी स्वतन्त्र लीला में लीन हो गया....।

....और सूर्योदय होते न होते तूफ़ान शान्त हो गया। आक्रमणकारियों का एक भी पोत नहीं डूबा। पर बिखरे हुए जहाज़ी बेड़ों ने पाया कि लंगर उनके उठाये नहीं उठ रहे हैं। अपने स्थान से वे टस से मस नहीं हो पाते। धूप में चमकते हुए चाँदी-से समुद्र की शान्त सतह पर, शिशु-सा अभय वरुण-द्वीप मुसकरा रहा है....।

....दिन पर दिन बीतते चले। अपने सारे प्रयत्न और सारी शक्तियाँ लगा देने पर भी रावण ने पाया कि पोत नहीं डिग रहे हैं....। तब उसे निश्चय हो गया कि अवश्य ही कोई देव-विक्रिया है, केवल अपने पुरुषार्थ और विद्याओं से यह साध्य नहीं। विवश हो चक्री ने अपने देवाधिष्ठित रत्नों का आश्रय लिया। एक-एक कर अपने सारे रत्नों और विद्याओं की संयुक्त शक्ति रावण ने लगा दी; नाश के जो अचूक अस्त्र अन्तिम आक्रमण के लिए बचाकर रखे गये थे, वे भी सब फेंककर चुका लिये गये—। पर न तो द्वीप ही नष्ट होता है न रावण अपनी जगह से हिल पाते हैं। ध्वज और दीपों के सांकेतिक सन्देशे भेजकर, अन्तरीप के स्कन्धावार से राजन्यों को नये बेड़े लेकर बुलाया गया; पर भयभीत होकर उन्होंने आने से इनकार कर दिया।—इसी प्रकार लंकापुरी से रसद और सहायक बेड़ों की माँग की गयी, पर वहाँ से कोई उत्तर नहीं आया। दिन, सप्ताह, महीने बीत गये—। समुद्र के देवताओं ने सपने में आकर रावण से कहा कि—'इस शक्ति का प्रतिकार हमारे बस का नहीं है....!'

....चार महीनों बाद पवनंजय एक दिन सवेरे अनायास वेदी के वातायन

पर आ खड़े हुए। चारों ओर निगडित और पराजित बेड़ों में सहस्रों मानवों को अपनी कृपा के अधीन प्राण की याचना करते देखा—। पवनंजय का चित्त करुणा और वात्सल्य से आर्द्र हो गया। मन ही मन बोले—

"घात का संकल्प मेरा नहीं था, देव! नाश मेरा लक्ष्य नहीं, निखिल के कल्याण और रक्षा के लिए है मेरा यज्ञ। प्राणियों को इस तरह त्रास और मरण देकर क्या शत्रुत्व का उच्छेद हो सकेगा? द्वीप की रक्षा इसी राह होनी थी, वह हो गयी। बलात्कारी को अपने बल की विफलता का अनुभव हो गया। पर क्या वही पर्याप्त है? रावण का अभिमान इससे अवश्य खण्डित हुआ है, पर क्या इस पराजय से उसका हृदय घायल ही नहीं हुआ है? क्या वैर और विरोध का यह आघात भीतर दबकर, फिर किसी दिन एक भयानक मारक विष का विस्फोट नहीं करेगा? हार और जीत का राग जबतक बना हुआ है, तबतक वैर और विद्वेष का शोध नहीं हो सकेगा।—मुझे रावण और इन इतने राजन्यों पर शक्ति का शासन स्थापित नहीं करना है। उनपर स्वामित्व करने की इच्छा मेरी नहीं है, हो सके तो उनके हृदयों को जगाकर उनके प्रेम का दास हो जाना चाहता हूँ। अधीनता और आधिपत्य के भाव को तो मैं निर्मूल करने आया हूँ। त्रिखण्डाधिपति रावण के निकट उसके विजेता के रूप में अपने को उपस्थित करने की इच्छा नहीं है; मैं तो उसकी मनुष्यता के द्वार पर उसके हृदय का याचक बनकर खड़ा हूँ। वह भिक्षा जबतक नहीं मिल जाती, तबतक टलने को नहीं हूँ।—हे सर्वशक्तिमान्! जिस सत्य ने इस द्वीप की रक्षा की है, वही उन बेड़ों के त्रस्त मानवों को भी जीवन-दान दे, यही मेरी इच्छा है....!"

निमिष मात्र में बेड़ों के लंगर अपने आप उठ गये। बिना किसी प्रयत्न के पोत गतिमान् हो गये। उनके आरोही मनुष्यों के आश्चर्य की सीमा न थी। प्राण की एक नयी धारा से वे जीवन्त हो उठे। चारों ओर मृत्यु की ख़ामोशी टूटी और हर्ष का जय-जयकार सुनाई पड़ने लगा।

....अन्तर्देवता का शासन अभंग चल रहा है। एक निष्काम कर्म-योगी की भाँति अविकल्प भाव से पवनंजय उसके वाहक हैं। मन, वचन और कर्म तीनों इस क्षण एकरूप होकर प्रवहमान हैं।—चुपचाप पवनंजय ने एक गुप्तचर को भेजकर प्रहस्त को बुलवा लिया और दूसरे गुप्तचर को भेजकर यान मँगवा लिया।

....यान जब उड़कर कुछ ही ऊपर गया कि द्वीप में भारी हलचल मच गयी। व्यग्र जिज्ञासा की आँखें उठाकर, द्वीपवासी बार-बार हाथ के संकेतों से पवनंजय को लौट आने का आवाहन देने लगे। उत्तर में पवनंजय ने समाधान का एक स्थिर हाथ-भर उठा दिया, और वह हाथ तबतक वैसा ही अचल दीखता रहा—जबतक यान द्वीपवासियों की दृष्टि से ओझल न हो गया।

एक लम्बा रास्ता पार कर पवनंजय और प्रहस्त अन्तरीप में आ उतरे। पहुँचते ही सबसे पहले प्रतीक्षातुर और व्याकुल सैन्य को सान्त्वना दी। उनकी कुशल जानी और उनकी अनुपस्थिति में सैन्य ने आस-पास के सारे वैर-विरोधों के बीच जिस तरह अनुशासन को अभंग रखा है, उसके लिए गद्‌गद कण्ठ से उनका अभिनन्दन किया। इसके बाद तुरत कुमार झपटते हुए आयुधशाला में गये और आह्वान का शंख उठाकर उसी वेग से अन्तरीप के समुद्र-छोर पर जा पहुँचे। तरंगों से निचुम्बित वेला में, पृथ्वी और समुद्र की सन्धि पर खड़े हो, पवनंजय ने चारों दिशाओं में तीन-तीन बार आवाहन का शंख-सन्धान कर अर्धचक्री रावण और उनके सम्पूर्ण नरेन्द्र-मण्डल को रण का न्योता दिया।

चक्री का सीमन्धर महापोत जब ठीक लंकापुरी के समुद्र-तोरण पर आ पहुँचा था कि उसी क्षण, अन्तरीप से यह रण का अप्रत्याशित आमन्त्रण सुनाई पड़ा। सुनकर रावण एकबारगी ही मानो वज्राहत-से हो गये। गुम-सुम और मतिहारा होकर एक बार उन्होंने अन्तरीप की ओर दृष्टि डाली; आँखों में मानो एक बिजली-सी कौंध गयी—समुद्र, पृथ्वी, आकाश सभी कुछ एकाकार होकर जैसे चक्कर खाते दीख पड़े—। भीतर एकाएक टूट गयी प्रत्यंचा की टंकार-सा प्रश्न उठा—"क्या चक्री का चक्रवर्तित्व भूमण्डल से उठ गया?—विश्व की कौन-सी शक्ति है जो जन्म-जात विजेता रावण को रण का निमन्त्रण दे सकती है....?" कि ठीक उसी क्षण उन्हें अपनी वरुण-द्वीप पर होनेवाली सद्यः पराजय का ध्यान आया, जिससे लौटकर अभी-अभी वे आये हैं। चक्री का घायल अहंकार भीषण क्रोध से फुंकार उठा। गरजकर वे महासेनापति से बोले—

"महाबलाधिकृत, पृथ्वी को शत्रुहीना किये बिना मैं लंका में पैर नहीं रखूँगा। सैन्य को सीधे अन्तरीप की ओर प्रयाण करने की आज्ञा दी जाये। महामन्त्री को सूचित करो कि वे तुरत सारे सुरक्षित भूसैन्य और जल-सैन्य को अन्तरीप में

भेजने का प्रबन्ध करें।"

रास्ते-भर रावण का चित्त अनेक दु:सह शंकाओं से पीड़ित था। क्या यह भी सम्भव है कि द्वीप पर उसकी पराजय का दृश्य देखकर, अन्तरीप-स्थित उसी के माण्डलीक राज-चक्र ने अवसर का लाभ उठाना चाहा है। और सम्भवतः इसी लिए, उसकी निर्बलता के क्षण में, उसे रण के लिए बाध्य कर उसके स्वामित्व से मुक्त हो जाने की बात उन्होंने सोची हो।—दोनों हाथों से छाती मसोसकर चक्री इन चिन्ताओं और शंकाओं को दफ़ना देना चाहते हैं, और मस्तिष्क में कषाय का एक अदम्य वात्याचक्र चल रहा है।

पर चक्री का महापोत ज्यों-ज्यों अन्तरीप के निकट पहुँचने लगा, तो तटवर्ती शिविरों से तुमुल हर्ष का कोलाहल और जयघोष सुनाई पड़ने लगा। रावण के चित्त का क्षोभ; देखते-देखते आह्लाद में बदल गया। ज्यों ही चक्री का महापोत अन्तरीप के तोरण पर लगा कि लक्ष-लक्ष कण्ठों की जयकारों से आकाश हिल उठा। अतुल समारोह के बीच सहस्रों छत्रधारियों ने नत मस्तक होकर महामण्ड-लेश्वर को बधा लिया। स्वागत के उपलक्ष्य में बज रहे बाजों की विपुल सुरा-वलियों पर चढ़ रावण फिर एक बार अपने चरम अहंकार के झूले पर पैंग भरने लगे।

यथास्थान पहुँचने पर रावण को पता लगा कि इस युद्ध का आह्वान देनेवाला दूसरा कोई नहीं, वही आदित्यपुर का युवराज पवनंजय है, जिसने आज से तीन महीने पहले एक दिन अचानक शान्ति का शंखनाद कर उसके युद्ध को अटका दिया था। रावण सुनकर भौंचक्के-से रह गये—। उस रहस्यमय युवा का स्मरण होते ही, क्रोध आने के पहले, बरबस रावण को हँसी आ गयी। अनायास उनके मुँह से फूट पड़ा—'ओह—अद्भुत हैं उस उद्धत छोकरे की लीलाएँ, मेरे निज-महल के बन्दीगृह से वह भाग छूटा और अब उसकी यह स्पर्धा है कि त्रिखण्डाधिपति रावण को उसने रण का निमन्त्रण दिया है। हूँअ—नादान युवक—जान पड़ता है उसे ज़ीवन से अरुचि हो गयी है और रावण के हाथों मौत पाने को वह मचल उठा है....।'

कहते-कहते रावण फिर एक गम्भीर चिन्ता में डूब गये। विचित्र शंकाओं से उनका मन क्षुब्ध हो उठा।—जिस दिन उस कौतुकी युवा ने युद्ध अटकाया

था और उन्होंने उसे बन्दी बनाकर लंका भेजा था, ठीक उसके दूसरे ही दिन सवेरे वह अकाण्ड दुर्घटना घटी—निकट आयी विजय हाथ से निकल गयी—। उन्हें यह भी याद आया कि महासेनापति को जब वे पवनंजय को बन्दी बनाने की आज्ञा दे रहे थे—उस समय उस युवा के सामने ही द्वीप के पिछले द्वार में सेंध लगने की बात उनके मुँह से निकली थी—लेकिन फिर वह सर्वनाशी तूफ़ान—? उसके बाद वह पोतों का स्तम्भन—? नहीं, उस छोकरे के बस की बात नहीं थी वह—वह किसी मानव का कर्तृत्व नहीं था—देवों और दानवों से भी अजेय थी वह शक्ति....। उस घटना की स्मृति मात्र से रावण का वह महाकाय शरीर थर-थर काँपने लगा। मस्तिष्क इतने वेग से घूमने लगा कि यदि इस विचार-चक्र को न थाम लेंगे तो वे पागल हो जायेंगे—। बहुत दृढ़तापूर्वक उन्होंने मन को उस ओर से मोड़कर बाहर की युद्ध-योजनाओं में उलझा देना चाहा—। पर भीतर रह-रहकर उनके चित्त में एक बात बड़े ज़ोर से उठ रही थी—'क्यों न उस स्वामी-द्रोही को फिर बन्दी बनवाकर—लंकापुरी के तहख़ानों में आजन्म कारावास दे दिया जाये—? यदि उस उपद्रवी को मुक्त रखा गया, तो क्या आश्चर्य, वह किसी दिन समूचे नरेन्द्रचक्र में राज-द्रोह का विष फैला दे—। पर उसने मुझे संग्राम की खुली चुनौती दी है। उसने मेरे बाहुबल और मेरी सारी शक्तियों को ललकारा है। युद्ध से मुँह मोड़कर यदि उसे बलात् बन्दी बनाया जायेगा, तो दिग्विजेता रावण की विजय-गरिमा खण्डित हो जायेगी। लोक में मेरे वीरत्व पर लांछन लगेगा....नहीं, यह नहीं होगा....कल सवेरे रण-क्षेत्र में ही उसके भाग्य का निर्णय हो जायेगा....

नरेन्द्र-चक्र के स्कन्धावार में अविराम रण-वाद्य के प्रचण्ड घोष के बीच, दिन और रात युद्ध का साज सजता रहा।

उधर पवनंजय के शिविर में अखण्ड निस्तब्धता का साम्राज्य था। रात की प्रकृत और गहन शान्ति में एक निर्वेद कण्ठ का प्रच्छन्न और मृदु-मन्द स्वर हवा में गूँजता हुआ निकल जाता।—मानो अगोचर से आती हुई वह आवाज़ कह रही थी—'....अमृत-पुत्रो, प्राण लेकर नहीं, प्राण देकर तुम्हें अपने अजेय वीरत्व का परिचय देना है। अन्तिम विजय मारनेवालों की नहीं, मरनेवालों की होगी। अपने ही प्राण विसर्जित कर असंख्य मानवता के जीवन का मोल हमें चुकाना

होगा। प्रहारक के तने हुए शस्त्र की धार पर अपना मस्तक अर्पित कर हमें अपने अमरत्व का परिचय देना होगा।—फिर देखें विश्व की कौन-सी शक्ति है जो हमारा घात कर सकेगी। वीरो, जीवन और मृत्यु साथ-साथ नहीं रह सकते। यदि हम सचमुच जीवित हैं और हमें अपनी जीवनी-शक्ति पर विश्वास है; तो जीवन की उस धारा को खुली और निर्बाध छोड़ दो—फिर मौत कहीं नहीं रह जायेगी। चारों ओर होगा...जीवन....जीवन....जीवन....' एक मानव के इस अस्खलित और केन्द्रित नाद में सहस्रों मानवों की प्राण-शक्ति एकीभूत और तन्निष्ठ हो गयी थी। रात्रि की गहन-शान्ति में हवाओं के झकोरों पर अनन्त होता हुआ वह स्वर, निखिल जल-स्थल और आकाश में परिव्याप्त हो जाता।

दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्योदय की वेला में, रण-क्षेत्र में दोनों ओर के सैन्य सज गये। अविकल तूर्य-नाद, दुन्दुभिघोष और रणवादित्रों के उत्तरोत्तर बढ़ते स्वरों ने समस्त चराचर को आतंकित कर दिया।

एक ओर अपने देवाधिष्ठित सप्ताश्व रथ के सर्वोच्च सिंहासन पर महा-मण्डलेश्वर महाराज रावण अपने परिकर सहित आरूढ़ हैं; और उन के पीछे जम्बूद्वीप के विशाल नरेन्द्र-चक्र का अपार सैन्य-बल युद्ध के लिए प्रस्तुत है। चक्री के रथ के आगे उनके चक्रवर्तित्व का उद्‌घोषक चक्र तेजोद्भासित घूम रहा है। दूसरी ओर आदित्यपुर के युवराज पवनंजय एक अरक्षित और निश्छत्र रथ पर, अकेले खड़े हैं, अपने पीछे एक छोटी-सी सेना लेकर—! रावण ने पहचाना—वही आलुलायित अलकोंवाला मस्ताना तरुण सामने खड़ा है। बालों की वही मनमोहिनी घुँघुर ललाट पर खेल रही है। और उस कोमल-कान्त परन्तु जाज्वल्य मुख पर, एक हृदयहारिणी मुसकान सहज ही खिली है। चक्री की चढ़ी भृकुटियों में क्रोध से अधिक विस्मय था और विस्मय से अधिक एक अपूर्व मुग्धता।

समुद्र के क्षितिज पर, ऊषा के अरुण चीर में से उगते सूर्य की कोर झाँकी—। युवराज पवनंजय ने अपने रथ पर खड़े होकर दो बार युद्धारम्भ का शंखनाद किया। एक भीषण लोह-घर्षण के साथ, चारों ओर शस्त्रास्त्र तन गये। आयुधों के फलों की चमक से वातावरण में एक बिजली-सी कौंध उठी। लक्ष-लक्ष तनी हुई प्रत्यंचाओं पर कसमसाकर तीर खिंच रहे थे—।

....कि ठीक उसी क्षण उस कौतुकी युवा ने, एक अनोखे भंग से मुसकराकर, रावण के चक्र के सम्मुख दोनों हाथों से अपना शस्त्र डाल दिया ? फिर ईषत् मुड़कर एक मधुर भ्रू-भंग के साथ अपने सैन्य को इंगित किया—। निमिष मात्र में झन-झनाझन करते हुए हजारों शस्त्र धरती पर ढेर हो गये। कुमार ने वक्ष पर से कवच और माथे पर से शिरस्त्राण उतारकर फेंक दिये। फिर एक प्रबल झन-झनाझन के बीच उनकी सेनाओं ने उनका अनुसरण किया।

...पुनः एक बार कुमार ने पूर्ण श्वास से युद्ध-आह्वान का शंख पूरकर दिशाएँ हिला दीं....

तदनन्तर रावण के तने हुए दिव्यास्त्र के सम्मुख अपना खुला वक्ष प्रस्तुत कर, विनम्र-वदन, मुसकराते हुए पवनंजय ने, एक अभय शिशु की तरह आकाश में अपनी भुजाएँ पसार दीं। अनुगामी सैन्य ने भी ठीक वैसा ही किया।

....सहस्रों मानवों के अरक्षित खुले हुए वक्षों के सम्मुख लाखों तने हुए तीर कीलित रह गये। चारों ओर अभेद्य निस्तब्धता छा गयी—त्रिखण्डाधिपति की आँख की कोरों में एक अतीन्द्रिय आनन्द-वेदना के आँसू उभर आये : दिव्यास्त्र अग्नि बरसाता हुआ उनके हाथ से खसक पड़ा। चक्र डगमगाकर विप्लवी घोष करता हुआ, चक्री के रथ पर आक्रमण करने लगा। सप्ताश्व-रथ के दैवी घोड़े भयंकर शब्द करते हुए उलटे पैर लौट पड़े—और रथ मानो धरती में धसकने लगा। तीन खण्ड के नाथ के मस्तक पर के छत्र छिन्न-भिन्न होकर भूमि पर आ गिरे, और धूलि में लोटने लगे....।

रावण तुरत रथ से भूमि पर उतर आये। पवनंजय के रथ के निकट जा दोनों हाथ फैलाकर उनसे नीचे आने का मूक अनुरोध किया—। हाथ जोड़कर कुमार सहज विनय से अवनत हो गये और हँसते हुए नीचे उतर आये। चक्री ने अपनी अतुल बलशालिनी भुजाओं में उन्हें भर-भर लिया, और बार-बार गले लगाकर उस कुंचित-अलका लिलार को विह्वल होकर चूमने लगे—। अशेष आनन्द के मौन-मौन आँसू ही दोनों की आँखों में उमड़ रहे थे। और देखते-देखते चारों ओर प्रेम का एक पारावार-सा उमड़ पड़ा—। आत्म-सन्ताप के आँसुओं में विगलित लक्ष-लक्ष मानव के पुत्र एक-दूसरे को भुजाओं में भर-भरकर गले लगा रहे थे। मानो जन्म-जन्म का शत्रुत्व विस्मरण कर पहली ही बार

एक दूसरे को अपने आत्मीय के रूप में पहचान रहे हैं.... !

पाँच दिन तक अन्तरीप में मर्त्य मानवों ने प्रेम का ऐसा अपूर्व उत्सव मनाया, कि अमरपुरी के देवता भी अपने विमानों पर चढ़कर उसे देखने निकले और आकाश से मन्दार पुष्पों की मालाएँ बरसती दीख पड़ीं।

[३०]

उत्सव के पाँचवें दिन, प्रातःकाल—

अन्तरीप के छोर पर, स्फटिक का एक उच्च लोकाकार स्तम्भ, आकाश और समुद्र की सुनील पीठिका पर खड़ा है। उसके चरणों में चिर कुमारिका पृथ्वी लहरों का चंचल वसन बार-बार खसकाकर आत्मार्पण कर रही है। स्तम्भ के शीर्ष पर वैडूर्यमणि की एक भव्य अर्ध-चन्द्राकार सिद्ध-शिला विराजमान है।—समुद्र, आकाश और पृथ्वी एक साथ उसमें प्रतिबिम्बित हैं। सूर्य की किरणें उसमें टूटकर ज्योति की तरंगें उठा रही हैं। मानो त्रिलोक और त्रिकाल के सारे परिणमन उसमें एक साथ लीलायित हैं।

स्तम्भ के पाद-प्रान्त में, मरकत के एक प्रकाण्ड मगर के मुख पर, चारों समुद्रों के गुलाबी और शुभ्र मोतियों से निर्मित, तीन खण्ड का सिंहासन शोभित है। उसकी सर्वोच्च वेदिका के बीच चक्री का देवोपनीत सिंहासन-रत्न है। वह राज्यासन इस समय रिक्त पड़ा है। केवल उसके दायीं ओर उपधान के सहारे वह दण्ड-रत्न रखा हुआ है। उसकी पीठिका में पन्नों और नीलमों का वह कल्पवृक्षाकार भामण्डल है। उसके ऊपर बड़े-बड़े अंगूरी मुक्ता की झालरोंवाले तीन छत्र दीपित हैं, जिनकी प्रभा में निरन्तर लहरों का आभास होता रहता है। इस सिंहासन की सीढ़ियों पर दोनों ओर चक्री की नाना भोग और विभूतियाँ देनेवाली निधियाँ और रत्न सजे हैं। सबसे ऊपर की सीढ़ी पर बीचोंबीच चक्र-रत्न घूम रहा है।

सर्वोच्च वेदी की कटनी में एक ओर, चन्दन की एक विशद चौकी पर डाभ का आसन बिछा है। उसी पर रावण अपनी दक्षिण भुजा में वरुण-द्वीप के राजा वरुण को आवेष्टित किये बैठे हैं। दूसरी ओर ऐसे ही डाभ के आसन पर बैठे हैं

कुमार पवनंजय ।

सिंहासन के तले, खुले आकाश के नीचे, जम्बूद्वीप के सहस्रों मुकुट-बद्ध राजा और विद्याधर अपने विपुल सैन्य-परिवार के साथ बैठे हैं । फूटने को आतुर कली की तरह सभी के हृदय एक अपूर्व सुख के सौरभ से आविल हैं ।

अवाक् निस्तब्धता के बीच खड़े होकर, त्रिखण्डाधिपति ने अपने चक्र के समस्त राजवियों के प्रति नम्रीभूत होकर, पहली ही बार, अपना मस्तक झुका दिया । तदुपरान्त समुद्र के गम्भीर गर्जन को विनिन्दित करनेवाले स्वर में रावण बोले—

"लोक के हृदयेश्वर देव पवनंजय और मित्र राजन्यो, लोक के शीर्ष पर सिद्धशिला में विराजमान सिद्ध परमेष्ठी साक्षी हैं : त्रिखण्डाधिपति रावण का गर्व, उसका सिंहासन, उसका चक्र और उसकी समस्त विभूतियाँ आज से लोक की सेवा में अर्पित हैं ।—इनपर स्वामित्व करने का मेरा सामर्थ्य इस रण-क्षेत्र में पराजित हुआ है ।—मेरी आँखों आगे, मेरे ही पुण्य-फल इस चक्र-रत्न ने विद्रोही होकर मेरे विजयाभिमान को विदीर्ण कर दिया । मेरे हाथ के दिव्यास्त्र से निकलती हुई अग्नि मुझे ही भस्म करने को उद्यत हो पड़ी । मेरे ही रथ ने मेरे ऊपर उलटकर, मेरे सिंहासन को रौंद देना चाहा । और इस महासमुद्र की चंचल लहरों ने, जिनपर शासन करने का मुझे एक दिन घमण्ड था, वज्र की शृंखलाएँ बनकर मुझे बन्दी बना लिया ।—उनके अधीन प्राण का भिखारी बनकर मैं थर्रा उठा ।—तब कैसे कहूँ कि मैं इनका स्वामी हूँ, और अपनी इन उपलब्धियों के बल पर मैं लोक की जीवित सत्ता पर शासन कर सकूँगा...? जड़ भौतिक विभूतियों को अपने अधीन पाकर, निखिल चराचर पर अपना साम्राज्य स्थापित करने का मुझे उन्माद हो गया था । तब चेतन की उस केन्द्रीय महाप्राण सत्ता ने, अपने ऊपर छा गये जड़त्व के स्तूप को उखाड़ फेंकने के लिए विद्रोह किया है ।—उसी चेतन का मुक्ति-दूत बनकर आया है, यह आदित्यपुर का विद्रोही राजकुमार पवनंजय ! टूटते हुए वरुण-द्वीप की वेदी में खड़े होकर, उसने अपने आत्म-बल से तत्त्वों की सृष्टि पर शासन स्थापित किया । देवताओं और दैत्यों ने उस शक्ति से हार मानी । परोक्ष आत्म-सत्ता के उस आविर्भाव ने मेरे अभिमान को तोड़ा अवश्य, पर भीतर हृदय का राग और ममत्व पराजय की

एक दाहक पीड़ा जगा रहा था।—तब इस रण-भूमि में प्रत्यक्ष सम्मुख खड़े होकर पवनंजय ने मेरी जड़ बल-सत्ता को चुनौती दी। मेरे सारे तने हुए प्रताप की धार पर उसने शस्त्र-समर्पण कर दिया। और तब हृदय पर अखण्ड प्रेम की जोत जलाकर उसने मेरे प्रहार को आमन्त्रित किया। अगले ही क्षण सहस्रों जलती हुई प्राण-शिखाएँ एक साथ निछावर हो उठीं। देखती आँखों आत्मा की उस अमर ज्योति में, मेरे प्रताप, वैभव और विभूति का वज्र गलित हो गया....।

"....इस रण-क्षेत्र में इस अद्भुत युवा ने धर्म का शासन उतारा है। मुझे प्रतीति हो रही है कि आज से आतंक और शक्ति का जड़ शासन भंग हो गया। धर्म का स्वयम्भु शासन ही लोक के हृदय पर राज्य कर सकेगा। चक्री का यह सिंहासन आज से धर्म-राज का सिंहासन हो। लोक के कल्याण के लिए प्रस्तुत हों ये सारी विभूतियाँ। चक्री मात्र इनका रक्षक होकर, नम्रतापूर्वक इस धर्म-शासन का सूत्रसंचालन करेगा। वह होगा लोक का एक अकिंचन सेवक—दासानुदास!

"...पृथ्वीपतियो! धर्म-राज के इस सिंहासन के नाम पर तुम सबों से मेरा एक ही अनुरोध है: लोक की जड़ सत्ता के बलात्कारी अधिपति बनकर नहीं, जीवन्त लोक के विनम्र सेवक बनकर उसके हृदय पर अपना आधिपत्य स्थापित करो; और यों अपने राजत्व और क्षात्रत्व को कृतार्थ करो। ससागरा पृथ्वी के तीन खण्डों को जीतकर भी, इस छोटे से वरुण-द्वीप पर आकर, मेरा समस्त बल-वीर्य, और शक्तियाँ पराजित हो गयीं। पर इस युवराज पवनंजय ने हमारे हृदयों पर शासन स्थापित कर, तत्त्व की चेतन सत्ता को जीता है। इसी से कहता हूँ आज से वही होगा हमारा हृदयेश्वर! लोक-हृदय के सिंहासन पर आज नरेन्द्रों की यह सभा इस धर्मपुत्र का अभिषेक करे, यही मेरी कामना है।"

कहकर रावण पवनंजय की ओर बढ़ने को उद्यत हुए कि स्वयं पवनंजय अपने आसन से उठकर आगे बढ़ आये, और सहज विनय से नम्रीभूत हो गये। रावण ने अमित वात्सल्य से उभरते हृदय से बार-बार उन्हें आलिंगन किया। समस्त नरेन्द्र-मण्डल गद्गद कण्ठ से पुकार उठा—

"लोकहृदयेश्वर देव पवनंजय की जय!

धर्म-चक्री महाराज रावण की जय!"

चारों ओर से जयमालाओं और पुष्पों की वर्षा होने लगी। रावण और

पवनंजय उसमें ढक गये। दोनों राजपुरुषों ने बार-बार माथा नवाकर राज-चक्र के इस मुक्त हृदयार्पण को बधा लिया।

फिर एक बार रावण के इंगित पर सभा शान्त हो गयी। तब चक्री ने वरुण को गले लगाकर, उन्हें आज से सामुद्रिक साम्राज्य का प्रतिनिधि घोषित कर दिया। तदुपरान्त समुद्र के शासन-देवों द्वारा प्राप्त अपने अनेक दिव्यास्त्र और रत्न उन्होंने वरुण को समर्पित किये। फिर उनके गले में जयमाला पहनाकर घोषित किया—

"वरुण-राज ने अपने आत्म-देवता की सम्मान-रक्षा के लिए, काल के विरुद्ध खड़े होकर धर्म-युद्ध लड़ा है। उन्होंने त्रिखण्डाधिपति रावण के आतंक की अवहेलना कर सर्व की जन्मजात स्वाधीन सत्ता की स्थापना का श्रेय लिया है। उनके इस अप्रतिम साहस और वीरत्व का मैं अभिनन्दन करता हूँ। प्रेम, अभयदान, साम्य और स्वाधीनता, यही होंगे आज से हमारे राजत्व के चक्र-रत्न, और इन्हीं पायों पर आसीन है धर्मराज का यह सिंहासन...!"

फिर एक बार "लोक-हृदयेश्वर देव पवनंजय की जय, धर्म-राजेश्वर महाराज रावण की जय, वीर-कुल-तिलक वरुण-राज की जय!"—समुद्र के क्षितिज तक गूँज उठी। तदनन्तर मंगल-वादित्रों की धीमी और मधुर ध्वनियों के बीच सभा विसर्जित हो गयी।

[३१]

शरद् ऋतु की सन्ध्या गिरिमालाओं में नम रही है। समुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर जिसके यशोगान गूँज रहे हैं, ऐसी जय-श्री लेकर पवनंजय आज आदित्यपुर लौट रहे हैं। पार्वत्य-घाटियाँ सैन्य के अविराम जयनादों और मंगल-शंखों से गूँज रही हैं। अपने अम्बरगोचर नामा हाथी पर, सोने की अम्बाड़ी के रेलिंग पर झुककर पवनंजय ने दूर तक दृष्टि डाली। विजयार्ध के ऊँचे कूटों पर दूर-दूर तक रंग-बिरंगे मणि-गोलकों के प्रदीप लगे हैं। एकाएक उनकी दृष्टि अपने प्रियतम और सर्वोच्च कूट अजितंजय पर जा ठहरी। इतना ऊँचा है वह कूट कि वहाँ दीप नहीं लगाया जा सका है। वहाँ तो केवल वनस्पतियों के अन्तराल में स्वर्ण-जूही-सी

गोरी सन्ध्या अभिसार कर रही है। उसकी लिलार में शुक्रतारा की बिंदिया सजी है। ऊपर घिरती प्रदोष की गाढ़ नीलिमा में, रात उसके मुक्त केशों-सी अन्तहीन होकर फैल रही है। झुटपुट तारों के उजले फूल उसमें फूट रहे हैं।—और पवनंजय की जय-श्री वहाँ जाकर, उस अभिसारिका के पैरों में नीरव नूपुर बनकर मुखरित हो उठी। उस झंकार पर दिगंगनाओं ने अपने आँचल खिसकाकर, अनन्त रूप-राशियाँ निछावर कर दीं।

''''पवनंजय की आँखों के सामने रत्नकूट प्रासाद की वह स्फटिक की अटारी खिल उठी। ज़िस वातायन में वे उस रात बैठे थे, उसी में बैठी अंजना अकेली अपने हाथों से सिंगार-प्रसाधन कर रही है।....शत-शत वसन्तों के सौन्दर्य ने आज उसे नहलाया है। कल्प-सरोवर की कुमुदनियों ने उसके तनु अंगों में लावण्य और यौवन भरा है। केशरिया स्वर्ण-तारों के दुकूल में वह कपूर-सी उज्ज्वल देह चाँदनी छिटका रही है। दूज की विधु-लेखा-सी जिस विरहिणी तापसी को उस रात वह अपनी बाहुओं में न भर सका था, वह आज राका के पूर्ण-चन्द्र-सी अपनी सोलहों कलाओं से भर उठी है!—सामने उसके पड़ा है वह रत्नों का दर्पण। पास ही पड़े स्वर्णिल धूपायन के छिद्रों से कस्तूरी और अगुरु के धूप की धूम्र-लहरें निकल रही हैं। अतिशय मार्दव से देह में एक भंग डालकर, अपने दोनों लीलायित हाथों में विपुल कुन्तलों को उभारती हुई अंजना, गन्ध-धूम्र से उनका संस्कार कर रही है। पैरों के पास खुले पड़े रत्नकरण्डों में नाना शृंगारों की सामग्रियाँ फैली हैं—।

...कल्प-कानन के सारे फूलों का मधु लेकर, काम और रति ने सुहाग की शय्या रच दी है। जिस महासमुद्र की लहरों को पवनंजय ने बाँधा था, वही मानो चँदोवा बनकर उस शय्या पर तन गया है। उसी शय्या पर बैठी है वह अक्षय सुहागिनी अंजना, अजितंजय कूट पर प्रतीक्षा की आतुर आँखें बिछाये।—उसी के वक्ष में विसर्जित होकर विजेता आज अपनी शेष कामना की मुक्ति पायेगा....!

अतुल हर्ष के कोलाहल और जय-ध्वनियों के बीच पवनंजय की तन्द्रा टूटी। जहाँ तक दृष्टि जाती है, विजयोत्सव में पागल नागरिकों का प्रवाह उमड़ता दीख रहा है। राज-मार्ग के दोनों ओर दूर तक दीप-स्तम्भों की पंक्तियाँ चली गयी हैं।

विपुल गीत-वादित्रों की ध्वनियों से दिशाएँ आकुल हैं। विजयार्ध के प्रकृत सिंह-तोरण में से निकलते ही कुमार ने देखा—सामने हस्ति-दन्त का विशाल जय-तोरण रचा गया है। मुक्ता की झालरों और फूलों की बन्दनवारों से वह सजा है। उसके शीर्ष पर चार खण्डों के अलिन्दों और गवाक्षों में से अप्सराओं-सी रूपसियाँ पुष्पों और गन्धचूर्णों की राशियाँ बिखेर रही हैं। शत-शत मृणाल बाहुओं पर आरतियों के स्तवक झूल रहे हैं। कुमार ने पाया कि उन्हीं के हृदय के माधुर्य में से उठ रही हैं, ये सौन्दर्य की शिखाएँ! उनकी आँखों में आत्म-दर्शन के आँसू उभर आये। झुकी आँखों और जुड़े हाथों से बार-बार उन्होंने उन कुमारिकाओं का वन्दन किया।—आज सौन्दर्य अप्राप्त वासना का विष बन कर हृदय को नहीं डस रहा है, वह अन्तर का अमृत बनकर नितर रहा है।

द्वार में से निकलकर जब कुमार का अम्बरगोचर* हाथी आगे बढ़ा तो दूर पर आदित्यपुर के भवन और प्रासाद-मालाएँ सहस्रों द्वीपों की सघन पंक्तियों से उद्भासित दिखाई पड़े। उन झलमलाती बातियों में, भवान्तरों की जाने कितनी ही अविज्ञात इच्छाएँ, एक साथ ज्वलित होकर आँखों में नृत्य करने लगीं। उन दीप-मालाओं के बीच-बीच में विभिन्न प्रासाद-शिखरों के अनेक-रंगी रत्न-दीपों का एक हार-सा दीख रहा है। और तभी कुमार को ध्यान आया उस हार के कौस्तुभ-मणि का!—रत्नकूट प्रासाद के शिखर पर नीली और हरी कान्ति बिखेरते उस शीतल रत्न-दीप को उन्होंने चीन्हना चाहा।—आँखें फाड़-फाड़कर बार-बार देखा, पर नहीं दिखाई पड़ रही है वह हार की कौस्तुभ-मणि— !.... देखते-देखते कुमार की आँखों में वे दीपावलियाँ करोड़ों उल्कापातों-सी वेग से चक्कर काटने लगीं।—एक विभ्राट् अग्निकाण्ड में सब कुछ भभक उठा।—उनकी छाती में एक वज्रविस्फोट का धमाका सुनाई पड़ा....। और अगले ही निमिष वह सारा दीपोत्सव बुझ गया....। निःसीम अन्धकार का शून्य आँखों के सामने फैल गया।—कुमार ने दोनों हाथों से आँखें मूँद लीं। भीतर पुकारा—'कल्याणी, तुम्हें मिलने का अमित सुख मुझे पागल बनाये दे रहा है—मेरी चेतना खोयी जा रही है, और तुम कहाँ भागी जा रही हो?...मुझसे घोरतर अपराध हो गया है।....क्या मैं तुम्हें भूल गया था.... सर्वथा भूल गया था....? क्या इन बारह महीनों में तुम्हारी सुध मुझे कभी नहीं आयी....? ओह, मैं विजय के मद

में पागल हो गया था !...कौन-सा मुँह लेकर तुम्हारे निकट आ सकूँगा ? इसी से विजय की दीप-मालाएँ एकाएक बुझ गयी हैं.... ।....स्वागत की वह आरती तुमने समेट ली है.... । पर ओ करुणामयी, ओ क्षमा, ओ मेरी धरणी, क्या तुम भी मुझसे मुँह मोड़ लोगी ? एक बार अपने निकट आ जाने दो, फिर जो चाहो दण्ड दे लेना ।' कुमार के हृदय को फिर भीतर से एक ऊष्म स्पर्श ने थाम लिया । ससंज्ञ होकर उन्होंने अपने को स्वस्थ पाया । दीपोत्सव वैसा ही चल रहा था, पर कुमार की आँखें नहीं उठ रही हैं उस ओर ।

राजांगन में प्रवेश करते ही कुमार ने महावत को कुछ संकेत कर दिया । आस-पास के उत्सव, बधाइयाँ, जयकारें और गीत-वादित्रों के स्वर पवनंजय के पास नहीं पहुँच पा रहे हैं । उनका समस्त मन-प्राण अन्तर के एक अथाह शून्य में गोते लगा रहा है ।

....रत्नकूट प्रासाद के द्वार पर आकर पवनंजय का अम्बरगोचर गजराज बैठ गया । शुण्ड उठाकर हाथी ने स्वामी को प्रणाम किया । अम्बाड़ी पर नसैनी लगा दी गयी । ऊपर निगाह डालकर कुमार ने देखा : महल के छज्जों पर दीपावलियाँ वैसी ही शोभित हैं, पर उसके गवाक्षों के कपाट रुद्ध हैं, उनसे नहीं बरस रही हैं फूलों की राशियाँ, नहीं बह रही हैं संगीत की सुरावलियाँ, नहीं उठ रही हैं सुगन्धित धूम्र-लहरें । उस महल का अलिन्द शून्य पड़ा है ।.... झपटते हुए कुमार सौध की सीढ़ियाँ चढ़ द्वार के पास पहुँच गये.... । विशाल द्वार के काँसे के कपाट रुद्ध हैं, उनकी बड़ी-बड़ी अर्गलाओं में ताले पड़े हुए हैं । द्वारपक्ष में चिपकी, मंगल का पूर्ण-कलश लिये खड़ी वह तन्वंगी, विश्व की सम्पूर्ण करुणा और विषाद को आँखों में भरकर फिर मुसकरा उठी ।—पवनंजय के मस्तिष्क में लाख-लाख बिजलियाँ तड़तड़ाकर टूट पड़ीं । चारों ओर उमड़ता उल्लसित जन-समूह, अपार दुख, आश्चर्य और भय से स्तम्भित होकर, पत्थर-सा थमा रह गया । क्षण मात्र में हर्ष का सारा कोलाहल निस्तब्ध हो गया । भीतर-भीतर त्रास की सिसकारियाँ फूट उठीं, पर उससे भी अधिक अचरज से सबकी आँखें फटी रह गयीं ।

...कुमार ने लौटकर देखा : दोनों ओर खामोश खड़ी—प्रतिहारियों की आँखों में आँसू झलक रहे थे । कुमार की आँखों के मूक प्रश्न के उत्तर में, वे

कुहनियों तक दीर्घ हाथ जोड़कर नत हो गयीं। भाले के फल-सा एक तीक्ष्ण प्रश्न कुमार की छाती में चमक उठा। एक गहरी शंका हृदय को बींधने लगी। होंठ खुले रह गये—पर प्रश्न शब्दों में न फूट सका। अनजाने ही विजेता का वह किरीट-बद्ध ललाट, द्वार के कपाटों से जा टकराया....। प्रतिहारियाँ और जन-समूह हाय-हाय कर उठा। कुमार की आँखों में प्रलयंकर अन्धकार की बहिया उमड़ पड़ी। सारे अन्तःपुर में संवाद बिजली की तरह फैल गया।

उन्मत्त की तरह झपटते हुए कुमार माता के महल की ओर पैदल ही चल पड़े। ललाट से रक्त चू रहा है और तीर के वेग से वे चले जा रहे हैं। उलटे पैरों पीछे धसककर जन-समूह ने राह छोड़ दी। किसकी सामर्थ्य है जो उस कुमार को थाम ले। प्रतिहारियाँ उसके पथ में पाँवड़े बिछाने की सुध भूल गयीं, और आँचल में मुँह ढाँककर सिसकने लगीं।

महारानी केतुमती शृंगार-आभरणों में सजी, अपने प्रासाद के अलिन्द-तोरण में खड़ी हैं। स्वर्ण के थाल में अक्षत-कुंकुम और मंगल का कलश सजाये, उत्सुक आँखों से वे बाट जोह रही हैं, कि अपूर्व विजय का लाभ लेकर आये पुत्र के भाल पर वे अभी-अभी जय का टीका लगायेंगी।—उनकी गोद फड़क रही है, कि वर्षों के रूठे पुत्र को आज वे एकान्त रूप से पा जायेंगी। अभी-अभी उनके कान तक भी वह उपरोक्त संवाद अस्पष्ट रूप से पहुँच चुका था। सुनकर वे सिर से पैर तक थर्रा उठी हैं, पर विश्वास नहीं हो रहा है।

कि इतने ही में झंझा के झोंके की तरह पवनंजय सामने आकर खड़े हो गये। पसीने में सारा चेहरा लथपथ है—और भाल पर यह बहते कुंकुम का जय-तिलक माँ से पहले किसने लगा दिया....?—और अगले ही क्षण दीखा, बहता हुआ रक्त....? अभी-अभी जो सुना था और सुनकर भी जिसकी अवज्ञा की थी, वह झूठा नहीं था।—रानी के हाथ से मंगल का थाल गिर पड़ा। कलश ढुलक गया, अक्षय दीवट बुझ गयी।....पवनंजय आगे न बढ़ सके....। अवाक् और निस्तब्ध वे माँ के चेहरे की ओर ताकते रह गये....। रानी के पीछे खड़ी मंगल-गीत गा रही अन्तःपुर की रमणियाँ हाय-हाय कर उठीं। अपराधिनी की तरह ढुलकी-सी खड़ी महादेवी थर-थर काँप रही हैं—आँखें उनकी धरती में गड़ी हैं। पुत्र की ओर दृष्टि उठाकर देखने का साहस उन्हें नहीं है। अपने

बावजूद पवनंजय के मुँह से अनायास प्रश्न फूट पड़ा—

"माँ....लक्ष्मी कहाँ है ? उसके महल का द्वार रुद्ध है—और तुम्हारे पीछे भी वह नहीं खड़ी है !...नहीं लगायेगी वह मुझे जय-तिलक...? नहीं पहनायेगी वह मुझे जय-माला....? बोलो माँ....जल्दी बोलो !...शायद तुमने सोचा होगा कि अपशकुन हो जायेगा (ईषत् हँसकर)....इसी से, जान पड़ता है, उसे कहीं छुपा दिया है !....पर माँ तुम नहीं जानती....उसी के लिए लाया हूँ यह जय-श्री—! उसके चरणों में इसे चढ़ाकर अपना जन्मों का ऋण मुझे चुकाना है ! पहले उसे जल्दी बुलाओ माँ—मैं विनोद नहीं कर रहा हूँ !....मैं समझ रहा हूँ तुम घबड़ा रही हो—पर मैं तुम्हें अभी सब बातें बता दूँगा। लज्जावश शायद वह तुमसे न कह सकी हो। पर पहले लक्ष्मी को बुलाओ माँ....देर न करो.... मुहूर्त टल रहा है...."

रानी बेसुध-सी हो पुत्र की ओर बढ़ी और उसे अपनी दोनों बाँहों से छाती में भरकर रो उठी—। पवनंजय माँ के आलिंगन में मूर्च्छित हो गये। चारों ओर हाहाकार व्याप्त हो गया। उत्सव का आह्लाद क्रन्दन में परिणत हो गया। एक स्तब्ध विषाद की नीरवता चारों ओर फैल गयी।

[३२]

महादेवी के कक्ष की एक शय्या पर पवनंजय माँ की गोद में लेटे हैं—। सिरहाने की ओर राजा, मसनद के सहारे सिर लटकाये निश्चेष्ट-से बैठे हैं। पायताने के पास प्रहस्त एक चौकी पर मानो जड़ीभूत हो गये हैं; उनका एक हाथ पवनंजय की पगतली पर सहज ही पड़ा है। उनकी आँख की कोरों में पानी की लकीरें थमी हैं। शय्या के उस ओर खड़ी दो प्रतिहारियाँ मयूर-पंख के दो विपुल पंखों से विजन कर रही हैं।—सारे उपचार समाप्त हो गये हैं, पर पवनंजय को अभी चेत नहीं आया।

हृदय पर पहाड़ रखकर प्रहस्त ने उस अपराधिनी पुण्य-रात्रि का वृत्त सुना दिया। सुनकर राजा क्षण-भर को स्तम्भित-से रह गये—। फिर दोनों हाथों से कपाल पीट लिया और मुकुट-कुण्डल उतारकर धरती पर दे मारे। भूषण-

अलंकार छिन्न-विच्छिन्न कर फेंक दिये। पृथ्वीपति—पृथ्वी पर गिरकर उसकी गोद में समा जाने को छटपटाने लगे। पर माता पृथ्वी भी सुनकर मानो निस्पन्द और निष्प्राण हो गयी है; निर्मम होकर वह राजा के टूक-टूक होते हृदय को कठिन अवरोध से ठेल रही है।—लगता है कि बुक्का फाड़कर वे रो उठें और यों अपने इस पापी जीवन का वे अन्त कर लें—। पर नहीं, इस क्षण वह इष्ट नहीं है—। मरणान्तक कष्ट पुत्र के हृदय को जकड़े हुए है। राजा की प्रत्येक श्वास में पुत्र का दुख शूलों-सा चुभ रहा है। जीवन में, मरण में, लोक में, पर-लोक में कहीं मानो राजा को स्थान नहीं है।

रानी सुनकर वज्राहत-सी बैठी रह गयी। देखते-देखते वह प्रेतिनी-सी विवर्ण और भयानक हो उठी है। उसकी आँखें फटकर मानो अभी-अभी कोटरों से निकल पड़ेंगी। उन पुतलियों का प्रकाश जैसे बुझ गया है। अचानक दोनों हाथों के मुक्कों से रानी ने छाती पीट ली, माथा पलंग की पटरियों पर दे मारा। आकाश-भेदी रुदन गले में आकर घुट रहा है। कुछ बस न चला, तो अपने केशों और अंगों को उसने नोच-नोच लिया। प्रतिहारियों ने रानी को सँभाला, और प्रहस्त ने राजा को उठाकर तल्प के उपधान पर लिटा दिया। धीमे और व्याकुल स्वर में इतना ही कहा—"शान्त राजन्, शान्त—कष्ट की यह घड़ी बहुत ही गम्भीर है—अधीर होने से बहुत बड़ा अमंगल घट जायेगा!" राजा और रानी कलेजा थामकर अपने भीतर क्षार-क्षार हो रहे हैं।

कि इतने ही में हलकी-सी कराह के साथ पवनंजय ने आँख खोली—। माथे के नीचे की गोदी का परस अनुभव कर बोले—

"....आह तुम....तुम आ गयीं रानी....वल्लभे....प्राणदे....तुम....?" और पुतलियाँ ऊपर की ओर चढ़ाकर देखा "ओ....माँ....तुम?....और कहाँ है वह.... लक्ष्मी?" एकाएक पवनंजय उठ बैठे और आँसुओं से धुलते माँ के उस क्षत-विक्षत चेहरे को क्षण-भर स्तब्ध-से ताकते रह गये—। फिर दोनों हाथों से उस विह्वल मुख को झकझोरकर उद्विग्न कण्ठ से फूट पड़े—

"ओह माँ....यह क्या हो गया है तुम्हें?....और वह कहाँ है माँ....बोलो, जल्दी बोलो....लक्ष्मी कहाँ है? यदि पुत्र का कल्याण चाहती हो तो उसे मुझसे न छुपाओ—उसी ने मुझे प्राण-दान दिया है कि आज मैं जी रहा हूँ। उसी ने

मुझे शक्ति दी है कि मैं त्रिलोक की विजय-लक्ष्मी का वरण कर लाया हूँ—केवल उसके चरणों की दासी बना देने के लिए....! तुम नहीं जानती हो माँ—उस सौभाग्य-रात्रि की वार्ता—वह सब मैं तुम्हें अभी कहूँगा ।....पर पहले उसे बुलाओ माँ....तुम नहीं, वही इन प्राणों को रख सकेगी ।....उसे जल्दी बुलाओ माँ.... नहीं तो देर हो जायेगी....!"

पुत्र के कन्धे पर माथा डालकर रानी छाती तोड़कर रो उठी । कुछ देर रहकर पवनंजय के उस पगले मुख को अपने वक्ष में दोनों हाथों से दबा लिया, फिर कठोर आत्म-विडम्बन के ढीठ स्वर में बोली—

"....सुन चुकी हूँ बेटा, सब सुनकर भी जीवित हूँ मैं हत्यारी—। अनर्थ घट गया है मेरे लाल...घोर अमंगल हो गया है....। छाती में लात मारकर मैंने लक्ष्मी को ठेल दिया है । मैंने सती पर कलंक लगाकर उसे इस घर से निर्वासित कर दिया है....। वसन्त के कहे पर मैंने विश्वास नहीं किया—तेरे वलय और मुद्रिका उठाकर फेंक दिये । अपने भीतर का सारा विष उड़ेलकर मैंने सती की अवमानना की है । आह....उसके गर्भ में आये अपने कुलधर का ही मैंने घात किया है । वंश की परम्परा को ही मैंने तोड़ दिया है—कुल-लक्ष्मी को धक्का देकर मैंने राज-लक्ष्मी का आसन उच्छेद कर दिया है ।—एक साथ मैंने सती-घात, कुल-घात, राज्य-घात, पति-घात और पुत्र-घात का अपराध किया है, बेटा....! मैं तुम्हारी माँ नहीं—मैं तो राक्षसी हूँ । मुझे क्षमा मत करो बेटा—मुझपर दया करके मुझे अपने पैरों तले कुचल डालो—तो सुगति पा जाऊँगी—और नहीं तो सातवें नरक में भी मुझ पापिन को स्थान नहीं मिलेगा...."

कहती-कहती रानी धमाक् से पुत्र के पैरों में गिर पड़ी । पवनंजय पहले तो अचल पाषाण की तरह सब कुछ सुन गये, मानो आत्मा ही लुप्त हो गया हो । पर ज्यों ही माँ पैरों में गिरी कि झुँझलाकर पैर हटा लिये और छिटककर दूर खड़े हो गये । एक क्षुब्ध सन्नाटा कक्ष में व्याप गया । दोनों हाथों में मुँह ढाँपकर कुमार बड़ी देर तक निस्पन्द और अकम्प होकर अपने भीतर डूब रहे....। फिर एकाएक घुमड़ते मेघ-से गम्भीर स्वर में गरज उठे—

"....धिक्कार है यह पुरुषत्व और वीरत्व—धिक्कार है मेरी यह विजय-गरिमा, धिक्कार है यह राज्य, यह सिंहासन, यह प्रमत्त वैभव और ऐश्वर्य—

धिक्कार है यह कौलीन्य, यह सतीत्व, यह शील और यह लोक-मर्यादा। सत्य पर नहीं, हमारे अहंकारों और स्वार्थों पर टिका है यह सदाचारों का पृथुल विधान....! —आह रे दम्भी पुरुष, देवत्व, ईश्वरत्व और मुक्ति के तेरे ये दावे धिक्कार हैं! निपीड़क, नृशंस, बर्बर! युग-युग से तू ने अपने पशु-बल के विषाक्त नखों से कोमला नारी का वक्ष चीरकर उसका रक्त पिया है....! —उस वक्ष का जिसने अपने रक्त-मांस में से तुझे पिण्ड-दान किया—और जन्म देकर अपने दूध से तुझे जीवन-दान किया। और उसी पर सदा तूने अपने वीरत्व का मद उतारना चाहा है! उस विधात्री और शक्ति-दात्री से शक्ति पाकर, आप स्वयं उसका विधाता और नियन्ता बनने का गौरव लिये बैठा है?—धूर्त, पाखण्डी, कापुरुष....! ...मेरे उसी पुरुषत्व का यह जन्म-जन्म का निदारुण अपराध है कि ऐसा अमंगल घटा है। यह एक पुरुष या एक स्त्री का दुर्दैव नहीं है, प्रहस्त, यह हमारी परम्परा के मर्म का व्रण फूटकर सामने आ गया है—?—जियो माँ—जियो, तुम्हारा दोष नहीं है। सती की अवमानना तुमसे पहले मैंने की है, उसी का दण्ड मैं भोग रहा हूँ।—इसमें तुम्हारा और किसी का क्या अपराध....?"

क्षण-भर चुप रहकर कुमार ने पिता की ओर निहारा।—मुकुट धरती में लोट रहा है! राज्यत्व और क्षात्रत्व अपने पराभव से भूलुण्ठित और विध्वस्त होकर धूल में मिल रहे हैं। पवनंजय के हृदय में फिर एक जोर का आघात हुआ। अन्तर्भेदी स्वर में कुमार पुकार उठे—

"उठो, प्रहस्त, उठो—देर हुई तो ब्रह्माण्ड विदीर्ण हो जायेगा। लोक-कल्याण की तेज-शिखा बुझ गयी है। आनन्द का यज्ञ भंग हो गया है, और मंगल का कलश फूट गया है। जीवन की अधिष्ठात्री हमें छोड़कर चली गयी है....। जल्दी करो प्रहस्त, नहीं तो लोक की प्राण-धारा छिन्न हो जायेगी। मेरी आँखों में कल्पान्त काल का प्रलयंकर रुद्र ताण्डव-नृत्य कर रहा है—नाश की झंझा-रात्रि चारों ओर फैल रही है, प्रहस्त, सृष्टि में विप्लव के हिलोरे दौड़ रहे हैं। इस ध्वंस-लीला के बीच, जल्दी से जल्दी उस अमृतमयी, प्राणदा को खोज लाकर, उसे विधातृ के आसन पर प्रतिष्ठित करना है।—वही होगी नवीन सृष्टि की अधीश्वरी! उसी के धर्म-शासन का भार वहन कर हमारा पुरुषत्व और वीरत्व कृतार्थ हो सकेगा!—प्रस्तुत होओ मेरे आत्म-सखा....!"

फिर माँ की ओर लक्ष्य कर बोले—

"रोओ मत माँ, मेरे पाप का प्रायश्चित्त मुझे ही करने दो—। जल्दी बताओ, निर्वासित कर तुमने उसे कहाँ भेजा है....?"

रानी ने धरती में मुँह डुबाये ही उत्तर दिया—

"महेन्द्रपुर....उसके पिता के घर।"

"उठो प्रहस्त, अश्वशाला में चलकर तुरत वाहन प्रस्तुत करो, चिन्ता का समय नहीं है।"

प्रहस्त उठ कर चले गये। कुछ देर द्रुत-पग से कुमार, कक्ष में इधर से उधर टहलते रहे—फिर तुरत झपटते हुए कक्ष से बाहर हो गये। माँ और पिता बेक़ाबू होकर रो उठे और जाकर पुत्र के चरण पकड़ लिये।—झटके के साथ पैर छुड़ाकर पवनंजय द्वार के बाद द्वार पार करते चले गये। राह में प्रतिहारियों और राज-कुल की महिलाओं ने अपने वक्ष बिछाकर उनकी राह रोकना चाही, कि उसपर पैर धरकर ही वे जा सकते हैं। पवनंजय एक झटका-सा खाकर रुक गये, पीछे लौटकर देखा, और दूसरे ही क्षण रेलिंग फाँदकर अलिन्द के छज्जे पर जा उतरे और अपलक नीचे कूद गये....। महल में हृदय-विदारक रुदन और विलाप का कोहराम मच गया। चारों ओर से प्रतिहार और सेवक दौड़ पड़े, पर राजांगन में कहीं भी कुमार का पता न चला।

[२३]

रात की असूझ तमसा को चीरते हुए दो अश्वारोही, प्रभंजन के वेग-से महेन्द्रपुर की ओर बढ़ रहे हैं। आगे-आगे दीर्घ मशाल लेकर एक मार्गदर्शक सैनिक का घोड़ा दौड़ रहा है। शीतकाल की हड्डी कँपा देनेवाली हवाएँ विरहिणी के रुदन-सी दिगन्त में भटक रही हैं। घोड़ों की टापों के अविराम आघात ही उस गुंजान शून्य को विदीर्ण कर रहे हैं। दूर-दूर से शृगालों और वन-पशुओं के समन्वित रुदन की पुकारें रह-रहकर सुनाई पड़ती हैं। कहीं किसी खेत की मेंड़ पर कोई कुत्ता ढीठ स्वर में भूँक उठता है। सुदूर अन्धकार में किसी ग्राम के घर का एकाकी दीप झलक जाता है। प्रिया के बाहुपाश का ऊष्म आश्वासन

हृदय को गुदगुदा देता है। तभी कहीं राह के किसी पुरातन वृक्ष की कोटर में उल्लू बोल उठता है।—अश्वारोहियों के माथे पर से कोई नीड़हारा एकाकी पंछी श्थल पंखों से उड़ता हुआ निकल जाता है। दूर जाकर सुनाई पड़ती है उसकी आर्त और विकल पुकार।

दोनों अश्वारोहियों के मनों के बीच एक अथक शक्ति का स्रोत बह रहा है। उनके सारे संकल्प-विकल्प खो कर, उसी मौन प्रवाह के अंश बन गये हैं।—पर इस संक्रमण में पवनंजय नितान्त अकेले पड़ गये हैं। धरती उलट कर उनके माथे पर घूम रही है, और तारों-भरे आकाश का अथाह शून्य उनके अश्व की चापों तले फैल गया है। ग्रह-नक्षत्रों के संघर्षों में उनकी राह रुँध जाती है।—प्राण का अस्त्र फेंककर वे घोड़े को एड़ देते हैं। एक नक्षत्र को पीछे ठेलकर वे दूसरे पर जा चढ़ते हैं।—देखेगा, वह कौन शक्ति है जो आज उसकी राह रोकेगी!

...सवेरे काफ़ी धूप चढ़ने पर महेन्द्रपुर के सीमस्तम्भ के पास आकर वे दोनों अश्वारोही उतर पड़े। मार्ग से परे हटकर, एक एकान्त वृक्ष के नीचे जाकर उन्होंने विराम लिया।—दूर पर महेन्द्रपुर के प्रासाद-शिखरों की उड़ती पताकाएँ दीख रही हैं। एक साध-भरी वेदना की उत्सुक और विधुर दृष्टि से पवनंजय उस ओर देखते रह गये। फिर एक दीर्घ निश्वास होंठों में दबाकर बोले—

"जाओ भाई प्रहस्त, मेरे पाप-पुण्यों के एकमेव संगी, तुम्हीं जाओ।—जाकर देवी से कहना, कि अपराधी इस बार फिर चरम अपराध लेकर आया है—प्राण का भिखारी बनकर वह उसके द्वार पर खड़ा है। यह भी कहना कि अब इस अपराध की आवृत्ति नहीं होगी—उसके मूलोच्छेद का संकल्प लेकर ही पवनंजय इस बार आया है! मुझे विश्वास है, वह नटेगी नहीं, रोष भी नहीं करेगी। इनकार तो वह जानती ही नहीं है, वह तो देना ही जानती है। जाओ भैया—जल्दी से जल्दी मेरा जीतव्य लेकर लौटो..."

कहकर पवनंजय वृक्ष के तने के सहारे जा बैठे।

प्रहस्त ने फिर घोड़े पर छलांग भरी और नगर की राह पकड़ी। सैनिक ने पास के वृक्षों के मूल में दोनों घोड़े बाँध दिये और स्वामी की आज्ञा में

आ बैठा।

नगर-तोरण के बाहर की एक पान्थशाला में जाकर प्रहस्त घोड़े से उतर पड़े। घुड़साल में घोड़ा बाँध कर, एक भृत्य के द्वारा पान्थशाला के रक्षक को बुला भेजा। रक्षक के आने पर, उसे एक ओर ले जाकर उन्होंने उसे कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ भेंट कीं और कहा कि वह साथ चलकर उन्हें राज-अन्तःपुर के द्वारपाल से मिला दे। उन्होंने उससे यह भी कह दिया कि राजमार्ग से न जाकर वे नगर-परकोट के रास्ते से ही वहाँ तक पहुँचना चाहेंगे। रक्षक ने यथादेश प्रहस्त को अन्तःपुर के सिंह-तोरण पर पहुँचा दिया, और उनके निर्देश के अनुसार द्वारपाल को जाकर सूचित किया कि कोई विदेशी राजदूत किसी गोपनीय काम को लेकर उनसे मिला चाहता है। द्वारपाल ने तुरत प्रहस्त को बुला भेजा। यथेष्ट लोकाचार के उपरान्त, प्रहस्त ने एकान्त में चलकर कुछ गुप्त वार्तालाप करने की इच्छा प्रकट की। द्वारपाल पहले तो सन्दिग्ध होकर, कुछ देर उनकी अवज्ञा करता रहा, पर प्रहस्त के व्यक्तित्व को देखकर उनका अनुरोध टालने की उसकी हिम्मत न हुई।—एकान्त में जाकर प्रहस्त ने अपना मन्तव्य प्रकट किया। बताया कि वे आदित्यपुर के राजा प्रह्लाद के गुप्तचर हैं, और महाराज का एक अत्यन्त निजी और गुप्त सन्देश वे युवराज्ञी अंजना के लिए लाये हैं, वे स्वयं ही उनसे मिलकर अपना सन्देश निवेदन किया चाहते हैं, अतएव बड़ा अनुग्रह होगा यदि वे तुरत उन्हें युवराज्ञी के पास पहुँचा सकें—। कहकर अपने गले से एक मुक्ता की एकावली उतारकर उन्होंने भेंटस्वरूप द्वारपाल के सम्मुख प्रस्तुत की।

द्वारपाल सुनकर सन्नाटे में आ गया....। उसने अपने दोनों कान मींच लिये। एक गहरी भीति और आश्चर्य की दृष्टि से पहले वह सिर से पैर तक प्रहस्त को देखता रहा। फिर शंकित और आतंकित दबे स्वर में बोला—

"....विदेशी युवक, तुम मुझे धोखा नहीं दे सकते।—साफ़ है कि तुम झूठ बोल रहे हो; तुम आदित्यपुर के दूत कदापि नहीं हो सकते। मूर्ख, तुम्हें यह भी नहीं मालूम कि कलंकिनी अंजना श्वसुर-गृह और पितृ-गृह दोनों ही से तज दी गयी है—! उस बात को भी कई महीने बीत गये। सावधान विदेशी, अपने प्राण प्यारे हों तो इस नगर की सीमा छोड़कर इसी क्षण यहाँ से चले जाओ। इस राज्य में यह आज्ञा घोषित हो चुकी है कि कोई भी नागरिक यदि पुंश्चली अंजना

को शरण देगा या उसकी चर्चा करता पाया जायेगा, तो उसे प्राण-दण्ड की शिक्षा होगी।—चुपचाप यहाँ से चले जाओ, फिर भूलकर भी किसी के सामने अंजना का नाम न लेना...."

उलटे पैर प्रहस्त लौट पड़े। उनका मस्तक चकरी की तरह घूम रहा था। राह में रक्षक के कन्धे पर हाथ रख वे अन्धाधुन्ध चल रहे थे। लगता था कि पैर शून्य में पड़ रहे हैं। चेतना चुक जाना चाहती है। यह निष्ठुर वार्ता भी अपनी इसी ज़बान से पवनंजय को जाकर सुनानी होगी—? हाय रे दुर्दैव, पराकाष्ठा हो गयी।—नहीं, इस शरीर में अब यह भीषण कृत्य कर सकने की शक्ति नहीं रह गयी है। यह संवाद लेकर पवनंजय के सामने जाने की अपेक्षा, वे राह की किसी वापी में डूब मरना चाहेंगे। पर अगले ही क्षण लगा कि वे कायर हो रहे हैं। दुख से भयभीत और कातर होकर, इस प्राणान्तक आघात के सम्मुख मित्र को अकेला छोड़कर भागने का अपराध उनसे हो रहा है।

पान्थशाला में पहुँचकर प्रहस्त ने बिना विलम्ब किये अश्व कसा। अंजना के सम्बन्ध में और भी जो कुछ वे रक्षक से जान सकते थे—वह जान लिया। फिर नियति-दूत की तरह कठोर होकर घोड़े पर सवार हो गये और नगर-सीम की राह पकड़ी।

प्रहस्त को दूर पर आते देख, अधीर पवनंजय उठकर आगे बढ़ आये। मित्र का उदास और फक् चेहरा देखकर पवनंजय के हृदय में खटका हुआ।—अपनी जगह पर ही वे ठिठक रहे।

घोड़े से उतरकर प्रहस्त दूर पर ही गड़े-से खड़े रह गये। माथा छाती में धँसा जा रहा है। वक्ष पर दोनों हाथ बँधे हैं। और टप्-टप् आँसू टपककर भूमि पर पड़ रहे हैं।

व्यग्र और कम्पित स्वर में पवनंजय ने पूछा—

"प्रहस्त....यह....क्या....?"

और होंठ खुले रह गये। सिर उठाकर भर्रा आते कण्ठ को कठिन कर तीव्र स्वर में प्रहस्त बोले—

"कहूँगा भाई....कहूँगा....हृदयों को बींधने के लिए ही विधाता ने मुझे अपना दूत बनाकर धरती पर भेजा है!....अपनी भाग्यलिपि का अन्तिम सन्देश

सुनो, पवन ।—त्यक्ता और कलंकिनी अंजना के लिए पितृ-गृह का द्वार भी नहीं खुल सका । आज से पाँच महीने पहले एक सन्ध्या में वह यहाँ आयी थी । पिता ने मुँह देखने से इनकार कर दिया । पितृ-द्वार से ठुकरायी जाकर वह जाने कहाँ चली गयी है, सो कुछ ठीक नहीं है । पिता से छुपाकर, माँ के अनुरोध से उसके सारे भाई गुप्त रूप से दूर-दूर जाकर उसे खोज आये, पर कहीं भी उसका पता न चला ।—महेन्द्रपुर के राज्य में अंजना का नाम लेने पर प्राण-दण्ड की आज्ञा घोषित कर दी गयी है पवन....!"

प्रलयकाल के हिल्लोलित समुद्र के बीच अचल मन्दराचल की तरह स्तब्ध पवनंजय खड़े रह गये—। प्रहस्त आँखें उठाकर उन्हें देखने का साहस न कर सके । जाने कितनी देर बाद एक दीर्घ निःश्वास सुनाई पड़ा । गम्भीर वेदना के स्वर में पवनंजय बोले—

"सच ही कह रहे हो, सखे !....मुझ पामर की यह स्पर्धा—कि अपने इंगित पर मैं उसे पाना चाहता हूँ ?—उसे देवी कहकर अपनी चरण-दासी बनाये रखने का मेरा वंचक अभिमान अभी गला नहीं है । अक्षम्य है मेरा अपराध, प्रहस्त,—उसे पाने की बात दूर, मैं उसकी छाया छूने के योग्य भी नहीं हूँ । इसी से वह चली गयी है मर्त्यों के इस माया-लोक से दूर...बहुत दूर...."

कुछ देर चुप रहकर कुमार फिर बोले—

"....अच्छा प्रहस्त, जाओ—अब तुम्हें कष्ट नहीं दूँगा । जिस लोक में सती के सत्य को स्थान नहीं मिल सका, उस में लौटकर अब मैं जी नहीं सकूँगा ।—इन प्राणों को धारण करनेवाली धरित्री जहाँ गयी है, वहीं जाकर इन्हें अव-स्थिति मिल सकेगी । उसे छोड़कर सारी सृष्टि में पवनंजय का जीना कहीं भी सम्भव नहीं है !....जाओ भैया....मैं चला...."

कहकर पवनंजय लौट पड़े और सैनिक को अश्व प्रस्तुत करने की आज्ञा दी । झपटकर प्रहस्त ने पवनंजय को बाँह में भर लिया और उनके कन्धे पर माथा डाल बिलख-बिलखकर रोने लगे....

"....नहीं पवन....नहीं, यह नहीं होने दूँगा....। बचपन मत करो मेरे भैया....। उदयागत अशुभ को झेलकर ही छुटकारा है । तीर्थंकरों और शलाका पुरुषों को भी कर्म ने नहीं छोड़ा है—तो हमारी क्या बिसात । भव-भव के

प्रबल अन्तराय ने तुम्हें यह आजन्म विच्छेद दिया है।—भाग्य से होड़ बदने की बाल-हठ तुम्हें नहीं शोभती, पवन....!"

"ओह, प्रहस्त—तुम्हीं बोल रहे हो—या लोक की माया का प्रेत तुममें से बोल रहा है? भाग्य से पराजित होकर—उसके विधान को छाती पर धारण कर—उसकी दया के अधीन मुझे जीने को कह रहे हो,—प्रहस्त?....और तीर्थंकरों और शलाका पुरुषों ने क्या उस कर्म के चक्र को लात मारकर नहीं तोड़ दिया। क्या उन्होंने सिर झुकाकर उसे सह लिया? दैव पर पुरुषार्थ की विजय-लीला दिखाने के लिए ही वे पुरुष-पुंगव इस धरती पर अवतरित हुए थे। इसी से आज तक मुक्ति-मार्ग की लीक अमिट बनी है। वही हमारी आत्मा की पल-पल की पुकार है—उसे दबाकर अकर्मण्य होने की बात तुम कह रहे हो....?

"—मोह मत करो, प्रहस्त, कर सको तो मुझे प्यार करो भैया। हँसते-हँसते मुझे जाने की आज्ञा दो—और आशीर्वाद दो कि लक्ष्मी को पाकर ही मैं फिर तुम्हारे पास लौटूँ। किसी प्रबल से प्रबल बाधा के सम्मुख भी मैं हार न मानूँ।—मानवी पृथ्वी के अन्तिम छोरों तक मैं अंजना को खोजूँगा—। यदि कुलाचल भी मेरे मार्ग की बाधा बनकर सम्मुख आयेंगे, तो उनका भी उच्छेद करूँगा। ग्रह-नक्षत्रों को भले ही अपनी चालें उलटनी पड़ें, पर पवनंजय का मार्ग नहीं रुँधेगा। एक नहीं, सौ जन्मों में सही, पर पवनंजय को उसे पाकर ही विराम है....!

"....एक जन्म के भाग्य-बन्धन को तोड़कर जो पुरुषार्थ अपनी प्रिया को नहीं पा सकता, निखिल कर्म-सत्ता को जीतकर वह मुक्ति-रमणी के वरण की बात कैसे कर सकता है—? यह मेरे अस्तित्व का अनुरोध है, प्रहस्त, इसे दबाकर तुम मुझे जिलाने की सोच रहे हो....?"

एक अनोखी आनन्द-वेदना से विह्वल हो प्रहस्त ने बार-बार पवनंजय का लिलार चूम लिया—और हारकर दूर खड़े हो गये। आँसू उनकी आँखों से उफनते ही आ रहे हैं; एकटक वे पवनंजय का उस क्षण का अपूर्व तेजस्वी रूप देख रहे थे—। रण-क्षेत्र में शस्त्रार्पण के उपरान्त जो प्रखर तेज विजेता पवनंजय के मुख पर प्रकट हुआ था, वह भी इस मुख की कोमल-करुण दीप्ति के सम्मुख प्रहस्त को फीका लगने लगा।

"अच्छा भैया, आज्ञा दो, चलूँ—! पहली ही बार तुमसे अनिश्चित काल के लिए विदा हो रहा हूँ। बिदा के मुहूर्त में दुर्बल मोह न दो, भैया, बलवान् प्रेम का पाथेय दो।"

कहकर पवनंजय ने नीचे झुक प्रहस्त के पैरों की धूल लेकर माथे पर लगा ली। प्रहस्त ने तुरत झुककर दोनों हाथों से कुमार को उठा लिया। सिर पर हाथ रखकर वे इतना ही कह सके—

"जाओ पवन....प्रिया के आँचल में मुक्ति स्वयं साकार होकर तुम्हें मिले....।"

...आँसुओं में डूबती आँखों से प्रहस्त और सैनिक देखते रह गये : दूर पर घोड़े की चापों से उड़ती धूल में, पवनंजय के मुकुट की चूड़ा ओझल होती दिखाई पड़ी...।

[३४]

अश्वारूढ़ पवनंजय, निर्मम और उद्दण्ड, एक ही उड़ान में योजनों लाँघ गये।—दूर-दूर तक नज़र फेंकी—दिशि-दिशान्तर में कहीं कोई आकर्षण नहीं है, कहीं कोई परिचय या प्रीति का भाव नहीं है। लोक में सत्य की ज्योति कहीं भी दिखाई नहीं पड़ रही है। सारे विश्वासों के बन्धन जैसे टूट गये हैं। एक गम्भीर अश्रद्धा और विरक्ति से सारा अन्तस्तल विषण्ण हो गया है।—मानव की इस पृथ्वी और आकाश की अवहेलना कर, आज वह क्षितिज की नीली साँकल तोड़ेगा....! वहीं मिलेगी, लोक से परे, शून्य वात्यालोक में, आलोक की अखण्ड लौ-सी दीपित वह प्रियतमा। एक नया ही विश्व लिये होगी वह अपनी उठी हुई हथेली पर। उसी विश्व में वह नव-जन्म पायेगा....। वहीं जाकर छुपा है उसका सत्य। आस-पास की जगती से सत्य की सत्ता ही मानो निःशेष हो गयी है। उसके जीवन को आश्रय देने की शक्ति ही मानो इस लोक में नहीं है।—भीतर का संवेग और संवेदन और भी तीव्र हो गया। उद्धत और दुरन्त होकर फिर घोड़े को एड़ दी।—आत्महारा और लक्ष्यहीन तरुण फिर निर्जीव शून्य में भटक चला। पुराने दिनों की निःसार कलना फिर हृदय को मथने लगी। गति के इस नाशक प्रवेग में शरीर पर भी वश नहीं रहा।

....एकाएक कुमार के हाथ से वल्गा छूट गयी। घोड़ा अपने आप धीमा पड़ चला। अनायास ही आस-पास की धरती पर दृष्टि पड़ी। श्रीहीन और करुण-मुखी पृथ्वी विरह-विधुरा-सी लेटी है—आकाश के शय्या-प्रान्त में लीन होती हुई। वृक्षों की शाखाओं में एक भी पल्लव नहीं है। पतझर की धूल उड़ाती हवा में पीले पत्ते उड़ रहे हैं। दिशाएँ धूसर, और अवसाद से मलिन हैं। दूर की एक शैला-रेखा पर अंजन छाया घनी हो गयी है। ऊपर उसके दूध-पीते शिशु-सा एक बादल-खण्ड पड़ा है। और उससे भी परे किसी तरु के शिखर पर, सान्ध्य-धूप की एक किरण ठहरी है।

....पवनंजय के मन का सारा औद्धत्य और निर्ममता, क्षण मात्र में पिघल चले। एक निगूढ़ आत्म-वेदना की करुणा से मन-प्राण आविल हो गया। सामने राह के किनारे जाता एक प्रवासी कृषक दिखाई पड़ा। काँधे पर उसके हल है, श्रान्त और क्लान्त, पसीने में लथपथ, धूल-भरे पैरों से वह चला आ रहा है।—कुमार उसके पास जा विनती के स्वर में बोले—

"हलधरबन्धु! बहुत थक गये हो। मुझ विदेशी का उपकार करो। लो यह घोड़ा लो—मेरा यह मुकुट लो—इसका भार अब मुझसे नहीं ढोया जाता। अपनी पगड़ी और अंगा मुझे दे दो भाई, तुम्हारा बहुत-बहुत कृतज्ञ हूँगा!"

हलधर चौंका। समझ गया कि कोई राजपुरुष है, पर क्या वह पागल हो गया है? विमूढ़ हो वह ताकता रह गया। क्या बोले, कुछ समझ न आया। सोचा कि शायद आज भाग जागा है। कुमार ने उसके अंगा और पगड़ी उतार-कर आप पहन लिये। अपने हाथ से उस कृषक के माथे पर मुकुट बाँधा, और अपने बहुमूल्य वस्त्राभरण उसे पहना दिये। घोड़े की वल्गा उसके हाथ में थमा दी।

"उपकृत हुआ हलधर बन्धु—!"

कहकर उसके पैर छुए और बोले—

"अच्छा बिदा दो,—कष्ट दिया है, अपना ही अतिथि जान क्षमा कर देना।"

कृषक अचरज से आँखें फाड़ देखता रह गया। विदेशी राजपुरुष चल पड़ा अपनी राह पर, और मुड़कर उसने नहीं देखा....।

राजमार्ग पर पवनंजय को असंख्य चरण-चिह्न दीख पड़े।—अनन्त काल

बीत गये हैं, कोटि-कोटि मानव इस पथ पर होकर गये हैं। उन पद-चिह्नों में कुमार को प्रिया के चरणों का आभास हुआ। निश्चय ही इसी राह होकर वह गयी है....। झुककर वे एक-एक चरण-चिह्न का वन्दन करने लगे, चूमने लगे, बलायें भरने लगे।

प्रिया के अन्वेषण में वातुल और विक्षिप्त राजपुत्र देश-देशान्तर घूम चला। अकिंचन और सर्वहारा वह दिवा-रात्रि चल रहा है—अश्रान्त और अविराम। नाना रूप और नाना वेष धरकर, वह देश-देश में, ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में, हाट में और बाट में, नदियों के घाट में, प्रिया को खोजता फिरता है। कहीं तमाशा-गीर बनकर तमाशे दिखाता, कहीं माली बनकर नगर के चौराहों में भाँति-भाँति के पुष्पाभरण बेचता। कभी रत्न अथवा कला-शिल्प की वस्तुएँ लेकर राज-अन्तःपुरों में पहुँच जाता। रानियाँ, राज-वधुएँ और राजकन्याएँ, इस मनमोहन और आवारा कलाधर को देखकर भौंचक रह जातीं। उसकी कला-सामग्री यों ही फैली रह जाती, और वे रमणियाँ उसके देश और उसके घर का पता पूछने लगतीं; उसके बारे में अनेक गोपन जिज्ञासाओं से उनका मन भर आता। निरीह और अज्ञान कलाकार बड़ी ही बेबस और दीन हँसी हँस देता। निर्दोष और विचित्र पहेलियों-भरी आँखों से वह उनकी ओर देखता रह जाता। वह कहता कि घर....?—घर तो उसका कहीं नहीं है—जिस झाड़ के नीचे, जिस मनुष्य के द्वार पर वह रात बिता देता है—वही उसका घर है। राह के संगी ही उसके आत्मीय हैं—वे मिलते हैं और बिछुड़ भी जाते हैं। धरती और आसमान के बीच सब कहीं उसका देश है—। कहाँ से आया है और कहाँ जायेगा, सो तो वह स्वयं भी नहीं जानता है—। महलों के सुख में बेसुध रहनेवाली वधुएँ और कन्याएँ, आत्मा के चिरन्तन बिछोह से भर आतीं। कलाकार उनकी सहानुभूति और ममता-माया का बन्दी बनाकर राज-चित्रशाला में बन्द कर दिया जाता। उससे कहा जाता कि जब और जैसी उसके जी में आये चित्रसारी करे और वहीं रहे; अपनी मनचाही वस्तु वह माँग ले। नाना भोजन-व्यंजन और वसन-भूषण ले, एक-एक कर वे चुपके-चुपके आतीं। उसका मन और उसकी चितवन अपनी ओर खींचने की जानें कितनी चेष्टाएँ अनजान में कर जातीं। उसका एक बोल सुनने को घण्टों तरसती खड़ी रह जातीं। पर विचित्र है यह कलाधर—

जाने कहाँ भूला है ? सारी भोग-सामग्रियाँ विफल पड़ी रह जाती हैं । राजांगनाओं के सारे हाव-भाव, लीला-विभ्रम निरर्थक हो जाते हैं । वह तो आँख उठाकर भी नहीं देखता है । अन्यमनस्क और भ्रमित-सा चित्रशाला के अलिन्द-वातायन में बैठा वह क्षितिज ताका करता है—। तो कभी-कभी वहाँ की विशाल दीवारों पर के बहूमूल्य चित्रों पर सफ़ेदा पोतकर उनपर अपनी ही विचित्र सूझ के धबीले चित्र बनाया करता है । इन चित्रों में न कोई तारतम्य है और न कोई सुनिश्चित आकृति ही है !—फिर भी एक ऐसा प्राण का प्रकाश उनके भीतर है कि प्रत्येक मन के संवेदनों के अनुरूप परिणत होकर ये धब्बे, जाने कितनी कथाएँ कहने लगते हैं । उनमें पृथ्वी, आकाश, नदी, पहाड़, वृक्ष, पशु-पक्षी, मनुष्य सब कल्पना के अनुसार अपने आप तैर आते हैं ।

और एक दिन पाया जाता है कि चित्रशाला शून्य पड़ी है और कलाकार चला गया है ! अपने साथ वह कुछ भी नहीं ले गया है—साथ लायी वस्तुएँ भी नहीं—! द्वार-कक्ष में उसकी पादुकाएँ भी वैसी ही पड़ी रह गयी हैं—। दीवार के उन धबीले चित्रों के प्रसार को जब अन्तःपुर की रमणियाँ ध्यान से देखने लगीं, तो उस रंग-रेखाओं के विशाल आवरण में, प्रकृति की विविध रूपमयता का घूँघट ओढ़े एक अनन्यतमा सुन्दरी की भावभंगिमा झलक जाती है—वे रमणियाँ दाँतों तले उँगली दाब लेतीं । एक अचिन्त्य वेदना से उनका हृदय भर आता है । अपने-अपने कक्ष के दर्पण के सामने जा अपना रूप निहारती हैं—और उस सौन्दर्य की झलक अपने भीतर पाने को तरस-तरस जाती हैं !

राह चलता प्रवासी ग्राम के किसी कृषक अथवा ग्वाले के यहाँ नौकरी कर लेता । दोपहरी में गाय-भेड़ चराने किसी पहाड़ की हरी-भरी तलहटी में चला जाता । उन चौपायों की आँखों में आँखें डाल उनसे मनमानी बातें करता । उनकी निरीह मूक दृष्टि की भाषा को वह समझ लेता । गले और भुजाओं में भर-भरकर उनसे दुलार करता, घण्टों उनके लोमों को सहलाया करता । कभी पहाड़ की चोटी पर चला जाता और वहाँ किसी दुर्गम ऊँचाई पर वनस्पतियों की सुरभित छाया में बैठकर वंशी बजाता । उस तान के दर्द से जड़-चेतन हिल उठते ! आस-पास के जंगली युवक-युवतियाँ पहाड़ के ढाल में इधर-उधर से निकल आते, और अपनी जगह पर चित्र-लिखे से रह जाते । प्रवासी को अपनी

अधमुँदी आँखों से सजल रोओं में दीखता—अनेक विलक्षण जीव-जन्तुओं की सृष्टि उसके पैरों के आस-पास घिर आयी है, भालू है तो नीलगाय भी है, कहीं व्याघ्र है तो हिरन भी है, झाड़ की डाल में मयूर आ बैठा है तो पैरों तले की बाबी से भुजंगम भी निकल आया है। भयंकर और सुन्दर, अबल और सबल सभी तरह के जीव अभय और विमुग्ध होकर वहाँ मिल बैठे हैं। और वंशी बजाते-बजाते वह स्वयं जाने कब गहरी सुषुप्ति में अचेत हो जाता। साँझ पड़े जब नींद खुलती तो चौपायों को लेकर घर लौट आता। दो-चार दिन टिका न टिका और किसी आधी रात उठकर फिर प्रवासी आगे बढ़ जाता।

राह के ग्राम-नगरों के बाहर पनघट, घाट और सरोवर के तीर बैठ वह जादूगर बनकर चमत्कार दिखाता। देश-देश की अद्भुत वार्ताएँ सुनाता, विचित्र और दुर्लभ वस्तुएँ दिखाता। भान भूलकर पुर-वधुएँ और ग्राम-रमणियाँ आस-पास घिर आतीं। मोहित और चकित वे देखती रह जातीं। आकुल और वातुल नयनों से प्रवासी जादूगर सबको हेरता रह जाता। उनकी नीलायित आँखों के सम्मोहन में प्रिया की छवि तैरकर खो जाती। उसकी आँखें आँसुओं से भरकर दूर पर थमी रह जातीं। उसे दीन, आश्रयहीन और आत्मीयहीन जान, रमणियाँ मन ही मन व्यथित हो जातीं। जादूगर अपनी चीज-वस्तु समेट पोटली कन्धे पर टाँग, अपनी राह चल पड़ता। सहानुभूति से भरकर वे वधुएँ अपने कण्ठहार और मुद्रिकाएँ उसके सामने डालकर कहतीं—'जादूगर, हमारी भेंट नहीं लोगे?' प्रवासी मौन और भाव-शून्य पीठ फेरकर अपने पथ पर बढ़ता ही जाता। आभरण धूल में मिलते पड़े रह जाते। स्त्रियाँ सजल नयन ताकती रह जातीं। जल का घट उठाकर घर लौटने का जी आज उनका नहीं है। क्या करके वे इस प्रवासी को आश्रय दे सकती हैं?

....पर निर्मम प्रवासी उनके हृदय हरकर चला ही जाता। चलते-चलते सन्ध्या हो जाती। मलिन और पीले आलोक में नदी की शीर्ण रेखा दिखाई पड़ती। उसके निर्जन तीर पर जाकर वह नदी के जल में अपनी छाया देखता। देश-देश की धूप-छाया, सुख-दुख और मनोवार्ता लेकर यह नदी चली आ रही है।....जाने कब किस निस्तब्ध दुपहरी में वन-तुलसी से छाये इस घाट में बैठकर उसकी प्रिया ने जल पिया होगा; इस नदी की धारा में उतरकर वह नहायी

होगी—। निविड़ सम्मोहन से भरकर वह नदी की धारा में डुबकी लगा जाता। उसके बढ़ते हुए प्रवाह को अपने भीतर समा लेने को वह मचलता रहता। रात-रात-भर वह श्वास रोककर नदी की धारा में पड़ा रहता और तारों भरे आकाश की ओर ताका करता। सवेरे के फूटते आलोक में पाता कि ऊपर फैली है, अन्तहीन शून्य की वही निश्चिह्न और अथक नीलिमा! और आस-पास स्वर्ण-परियों-सी चपल लहरें, हँसती बलखाती उसका मज़ाक़ करती हुई चली जा रही हैं—? फिर झुँझलाकर प्रवासी आगे चल पड़ता।

दिन-दिन कुमार का उन्माद संज्ञा से परे होता चला। हृदय की गोपन-व्यथा अब छुपाये न छुप सकी। लोकालय के द्वार-द्वार घूमकर, एक स्वर्ग-च्युत देवकुमार-सा मलिनवेशी युवा, अंजना नामा राज-कुमारी की दुख-वार्ता सुनाने लगा। पूछता कि क्या उनके घर कभी वह आयी थी? क्या ऐसे रूप और ऐसे वेश में, उस दीर्घ-केशी प्रिया को उन्होंने कहीं देखा है?—क्या उसके कन्धे पर कोई शिशु था? पूछते-पूछते वह विचित्र पन्थी रो देता और भाग निकलता—। लोग उसके पीछे दौड़कर उसे पकड़ना चाहते, पर देखते-देखते वह दृष्टि से ओझल हो जाता। —पवनंजय की दिगन्त-जयिनी कीर्ति लोक में सूर्य की तरह प्रकाशित हो गयी थी। आदित्यपुर की कलंकिता और निर्वासिता राजवधू की करुणकथा भी घर-घर में लोग आँसू भरकर कहते-सुनते थे। भेद खुलने में देर न लगती—। जन-जन के मुँह पर उड़ता हुआ, देश-देश और द्वीप-द्वीप में, अंजना की खोज में भटकते पवनंजय का वृत्त फैल गया—।

समय का भान भूलकर यों निर्लक्ष्य भ्रमण करते पवनंजय को महीनों बीत गये। उसे निश्चय हो गया कि मनुष्य की जगती में अंजना कहीं नहीं है। वह उसका अज्ञान था और उसकी भूल थी कि उसी लोकालय में वह उसे खोजता रहा, जहाँ के नीति-नियम और व्यवस्था में अंजना को कोई स्थान नहीं था।.... नहीं....उसने नहीं स्वीकारा होगा अब इस देह की कारा को—। जिस देह में जन्म लेकर परित्यक्ता, कलंकिता और निर्वासिता होकर, सारे जगत् का तिरस्कार ही उसे मिला है, अवश्य ही उस देह के सीमा-बन्धनों को तोड़कर अब वह चली गयी होगी अपनी ही मुक्ति के पथ पर।—उस अनाथा और निःसहाय गर्भिणी ने निरन्तर दुख के आघातों से जर्जर होकर, अवश्य ही किसी विजन एकान्त

में प्राण त्याग दिये होंगे—।

....वह निकल पड़ा निर्जन वन-खण्डों में। कुलाचलों के उच्छेद करने की बात उसे भूल गयी है। ग्रह-नक्षत्रों की गतियाँ उलटने का दावेदार वीर्य निर्वेद और निस्तरंग होकर सो गया है। विजयोद्धत होकर कई बार उसने इस पृथ्वी को गूँधा है, लाँघा है, पार किया है। पर आज उसे जीतने का भाव उसके मन में नहीं है। पास में शस्त्रास्त्र नहीं हैं, यान भी नहीं है और कोई वाहन भी नहीं है।—विद्याओं का बल, भुजाओं का बल और लोक का हृदय जीतनेवाली महामहिम गरिमा—सब कुछ विस्मरण हो गया है। सब कुछ धूल और मिट्टी होकर पैरों में पड़ा है—। नितान्त पराभूत, असहाय, निरुपाय, एक निरीह और अनाथ बालक-सा वह भटक रहा है। अपना कहने को कुछ भी नहीं है उसके पास। सारी कांक्षाएँ-कामनाएँ, कल्पनाएँ, संकल्प-विकल्प— सब निःशेष हो गया है। मुक्ति और बन्धन का विकल्प ही जब मन में नहीं रहा है, तो मुक्ति-रमणी के वरण का क्या प्रश्न हो सकता है....?

निपट अज्ञानी और भाव-शून्य होकर वह वन-वन फेरी दे रहा है।—वृक्ष-वृक्ष, डाल-डाल और पत्ती-पत्ती से वह प्रिया की बात पूछता फिरता है। पृथ्वी के विवरों में मुँह डालकर घण्टों अपनी श्वास से उसकी गन्ध को पीता रहता है। जड़-जंगम, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, दीमक सबके अन्तरतम में झाँक रहा है। अनायास ही सबके अपनत्व का लाभ वह पा गया है। बाहर से वह जितना ही विरही, विसंग और एकाकी है, भीतर उतना ही सर्वगत और सर्वसंगत होता जा रहा है। जिस विह्वलता से वह कली और किशलय को चूमता है, उसी ललक से वह तीखे काँटों और नुकीले भाटों को भी चूम लेता है। होठों से रक्त झर रहा है, आँखों से आँसू बह रहे हैं। अंग-अंग के क्षतों से फूट रहे रक्त में प्रिया के अरुण होंठों के चुम्बन सिहर उठते हैं। सुगम और दुर्गम की कोई सतर्कता मन में नहीं है। सारी अगमताओं और अवरुद्धताओं में वह अनायास पार हो रहा है। वह तो मात्र एक सतत गतिमान प्राण-भर रह गया है। पहाड़ की ये तपती चट्टानें जितना ही कठिन अवरोध दे रही हैं, उतना ही अधिक तरल होकर वह उनके भीतर भिद जाना चाहता है। वह दिन-दिन-भर उन तप्त पाषाणों से लिपटा पड़ा रहता है—कि इनमें अपने को पिघलाकर इस समूचे भूधर के सारे,

जड़-जंगम में जीवन-रस बनकर वह फैल जायेगा। इन पार्वतीय नदियों के तटों में वह अपने को गला देना चाहता है, कि इनके प्रवाह में मिलकर मानवीय पृथ्वी के जाने किन दूर-दूरान्त छोरों में वह चला जायेगा—। तटवर्ती प्रदेशों के जाने कितने गिरि-वन, पशु-पक्षी और लोकालयों को वह जीवन-दान करेगा, उसके सुख-दुखों, प्यास-तृष्णाओं का परस पाकर, अपनी चिर दिन की विरह-वेदना को शान्त करेगा!

कभी किंचित् संज्ञा जाग उठती है तो नाना आवेदनों और निवेदनों में वह प्रिया को पुकार उठता है—

"....रानी—मेरे अपराध का अन्त नहीं है। पर अपने को मैंने कब रखा है। उसी रात तुम्हारी शरण में मैंने अपने को हार दिया था। तुम्हारा भेजा ही युद्ध पर गया था। तुमने कहा था कि धर्म की पुकार आयी है—जाना ही होगा। पर वहाँ देर हो गयी; क्यों हो गयी सो तुम्हीं जानो। अब और न तरसाओ—अब और परीक्षा न लो। तुम्हारे बिना ये प्राण न मरते हैं, न जी पाते हैं। बहुत ही दीन, अकिंचन और दयनीय हो गया हूँ। क्या अब भी तुम्हें तरस नहीं आयेगा—? पर आह, तुम्हारी अथाह कोमलता का परस जो पा चुका हूँ—कैसे विश्वास कर सकता हूँ कि तुम इतनी निर्दय हो सकती हो। अपने ही क्षुद्र स्वार्थी हृदय से तुम्हें तौल रहा हूँ; मेरी हीनता का तो अन्त ही नहीं है। तेरे दुखों की कल्पना भी नहीं कर पाता हूँ। उनमें झाँकने की बात सोचते ही भय और त्रास से सहम उठता हूँ। पुरुष का युग-युग का पुरुषार्थ तेरे कष्टों के सम्मुख फीका पड़ गया है। किस बुद्धि से उसकी बात मैं सोच सकूँगा? मेरा दुर्बल हृदय टूटकर रुद्ध हो जाता है; तेरी वेदना अनुभव कर सकने जितनी चेतना मुझमें नहीं है। —पुरुष में वह कभी भी नहीं रही है। मुझे खींच लो रानी अपनी उसी स्नेहल गोद में, जिसमें उस दिन शरण देकर मुझे प्राणदान दिया था....नहीं, अब नहीं सहा जाता....तुम कहाँ हो....बोलो....बोलो........तुम जहाँ हो वहीं से बोलो.... मुझे जरूर सुनाई पड़ेगा...."

दूर-दूर के गिरि-शृंगों से पुकारें लौट आतीं। और एक दिन अचानक उस प्रतिध्वनि में उसने प्रिया की पुकार का कण्ठ-स्वर पहचाना। मानो वह कह रही है—"मैं यहाँ हूँ...मैं वहाँ हूँ...मैं तुम्हारे चारों ओर हूँ....अरे मैं कहाँ

नहीं हूँ,...!"

सुनकर वह पर्वत के सबसे ऊँचे शृंग पर जा पहुँचा। आकाश में आकुल भुजाएँ पसारकर उसने चारों ओर दृष्टि डाली। हवाओं के झकोरों में वही ममता-भरा आवाहन बार-बार गूँजता सुनाई पड़ने लगा। हृदय तोड़कर उसने रो उठना चाहा कि अपने रुदन में वह आस-पास की इस निःसीम प्रकृति को, धरती और आकाश को बहा देगा...। पर आँख खोलते ही पाया कि सुनील अन्तरिक्ष शिशु-सा सरल उसकी आँखों में मुसकरा रहा है—और हरीतिमा का विपुल स्नेहल आँचल पसारकर धरणी उसे बुला रही है।......पा गया.......वह पा गया प्रिया को....। विदेह और उन्मुक्त दसों दिशाओं में फैली है उसी के वात्सल्य की अपार माया!—पहली ही बार समा सका है इन चर्म चक्षुओं में, प्रिया का वह सांगोपांग और अविकल दर्शन!

वह मचल पड़ा—वह दौड़ पड़ा। देह विस्मरण कर वह पर्वत के शृंग से धरती की गोद में आ पड़ा। टूटने को आकुल देह के बन्ध छटपटाने लगे। हाथ-पैर पसारकर सजल शाद्बल हरियाली से भरी पृथ्वी से वह लिपट गया। धरणी के वक्ष से वक्ष दाबकर भूमिसात् होने के लिए उसका रोयाँ-रोयाँ आलोडित हो उठा। नहीं—अब वह अपने को नहीं रख सकेगा।....इस मृण्मयी के कण-कण और अणु-अणु में वह अपने को बिखेर देगा। जन्म-जन्म की पराजित वासना, चिर दिन की विरह-वेदना एकाग्र होकर जाग उठी।

अन्ध और निर्बन्ध होकर प्रकृति के विशाल वक्ष में वह अपने को अहर्निश मिटाने लगा, गलाने लगा। उसकी समूची चेतना एक निराकुल परिरम्भण के अशेष सुख से आविल है। बाहर से जितना ही वह अपने को मिटा रहा है, भीतर उसके अंग-अंग में एक नवीन रक्त का संचार हो रहा है। एक नवीन जीवन के संसरण से उसकी शिरा-शिरा आप्लावित हो उठी है। अपूर्व रस की माधुरी से उसका सारा प्राण ऊर्मिल और चंचल है। उसकी मुँदी आँखें नव-नवीन परिणमन और एक सर्वथा नवीन सृष्टि के सपनों से भर उठी हैं। मन के सूक्ष्मतम आवरण-विकारों की झिल्लियाँ तोड़कर, प्रकृति और अनादि जीवन के स्रोत फूट चले हैं।

....दिन पर दिन बीतते जाते हैं। उसकी सुषुप्ति गम्भीर से गम्भीरतर हो

रहीं है। बाहर से बिलकुल विजड़ित होकर वह मिट्टी के घने और विपुल आवरणों में सो गया है। ऊपर से वन-जूही और कचनार के फूल निरन्तर उस माटी के स्तूप पर झरते रहते हैं। उसकी बाहर झाँकती अलकों में सौरभ से मूच्छित साँप, बेसुध उलझे पड़े रहते हैं। देश-देश के मिट्टी, जल, वन, फल-फूल का गन्ध लेकर पवन आता है—कानों में लोक के नाना सुख-दुख, विरह-मिलन की वार्ता निरन्तर सुनाया करता है।—यों दिन पर दिन बीतते चले जाते हैं—पर पवनंजय की योग-निद्रा नहीं टूट रही है।

....एक वासन्ती प्रभात के नये आलोक में, एक चिर-परिचित स्पर्श से सिहरकर उसने आँखें खोलीं...देखा : राशि-राशि फूलों का अवगुण्ठन हटाकर प्रिया का वही मुसकराता मुख सामने था—बोली—'जागो ना....रात बीत गयी है...।' विस्मित और विमुग्ध, मतिहारा होकर वह देखता रह गया—चारों ओर नव-नवीन पुष्पों और फलों से आनत, नव-नवीन, सुख-सुषमा और सौरभ से मण्डित अनेक सृष्टियाँ खिल पड़ी हैं। अनावृत और अनाविल सौन्दर्य का सहस्र-दल कमल फूटा है—और मुसकराती हुई प्रिया उसका एक-एक दल खोल रही है।

आनन्द से आँखें मींचकर फिर पवनंजय ने एक गहरी अँगड़ाई भरी और उठ बैठे। सिर से पैर तक शरीर मिट्टी, तृण और वनस्पतियों से लथपथ है। आँखें मसलकर खोलने पर पाया कि वे वास्तविक लोक में हैं।—दिनों की गहन विस्मृति का आवरण, हठात् आँखों से परे हट गया।—वही परिचित वन-खण्ड, वही वृक्ष और दूर पर वही गिरिशृंग हैं जहाँ से लुढ़ककर वह यहाँ आ पड़ा था। पर वन में वासन्तिका छिटकी है। दृष्टि उठाकर उसने अपने आस-पास देखा; चार-पाँच मनुष्याकृतियाँ खड़ी हैं। बाहर के इस आलोक से उसकी आँखें अभी चुँधियाँ रही हैं। उसे कुछ-कुछ परिचित चेहरों का आभास हुआ, पर वह ठीक-ठीक पहचान नहीं पा रहा है। अपने इन चर्म चक्षुओं पर जैसे उसे विश्वास नहीं रहा है। इतने ही में उसे लगा कि उसे पकड़कर कोई उठा रहा है—

"पवनंजय...!"

...परिचित कण्ठ ! विद्युत् के एक झटके के साथ पवनंजय को स्पष्ट दीखा, सामने पिता खड़े हैं—। उनकी बग़ल में खड़े हैं राजा महेन्द्र और प्रहस्त।

मानसरोवर के विवाहोत्सव के बाद राजा महेन्द्र को आज ही देखा है, पर पहचानने में देर न लगी। दूर पर दो-एक परिचित राज-सेवक खड़े हैं। उधर एक ओर दो यान पड़े हैं। फिर मुड़कर अपने उठानेवाले की ओर देखा। उस अपरिचित सौम्य चेहरे को वे ताकते रह गये, पर पहचान न सके।

प्रतिसूर्य हँसकर स्वयं ही अश्रु-गद्‌गद कण्ठ से बोले—

"....चौंको नहीं बेटा, सचमुच तुम मुझे नहीं जानते।—मैं हूँ अंजनी का मामा प्रतिसूर्य, हनुरुहद्वीप का राजा। अंजना और तुम्हारा आयुष्मान् पुत्र मेरे घर सकुशल हैं। जब से तुम्हारे गृह-त्याग का वृत्त सुना है, अंजना ने अन्न-जल त्याग दिया है। संज्ञाहीन और विकल होकर दिन-रात वह तुम्हारे नाम की रट लगाये है। तुरत चलो बेटा, एक क्षण भी देर हो गयी तो वह जन्म-दुखियारी तुम्हारा मुँह देखे बिना ही प्राण त्याग देगी....।"

पवनंजय ने सुना, और सुनकर भी मानो विश्वास न कर सके। चौकन्ने और अभिभूत-से वे खड़े रह गये। अंग-अंग उनका काँप रहा है—दूर से आती हुई यह कैसी ध्वनि सुनाई पड़ रही है। होंठ खुले रह गये हैं, और पागल की नाईं जड़ित पुतलियों से वे प्रतिसूर्य की ओर ताक रहे हैं। वृद्ध प्रतिसूर्य के चेहरे पर चौंसठ-धारा आँसू बह रहे हैं।

एकाएक पवनंजय चिल्ला उठे—

"अंजना....? अंजना...? अंजना मिल गयी....सचमुच वह जीवित है इस लोक में....? वह मुझ पापी के लिए रो रही है....प्राण दे रही है—आह....!"

विह्वल हो पवनंजय, प्रतिसूर्य के गले लिपट, फूट-फूटकर रोने लगे।

"रोओ नहीं बेटा, दीर्घ कष्ट और दुख की रात बीत गयी है। आज ही सुख का मंगल-प्रभात आया है तुम्हारे जीवन में। चलो, अब एक क्षण की भी देर उचित नहीं है। चलकर अपनी बिछुड़ी प्रिया और अपने अनाथ पुत्र को सनाथ करो....।"

थोड़ी ही देर में पवनंजय कुछ स्वस्थ हो चले। सब आत्मीयजन मिलकर उन्हें पास के एक सरोवर पर ले गये। प्रहस्त ने अपने हाथों कुमार को स्नान कराया, हलके और सुगन्धित नवीन वस्त्राभरण धारण कराये।

चलने को जब प्रस्तुत हुए, तो फिर एक बार कुछ दूर पर लज्जित और

नमित खड़े, पिता और श्वसुर की ओर पवनंजय की दृष्टि पड़ी। कुमार को अनुभव हुआ कि अपनी ही आत्म-लांछना और आत्म-तिरस्कार से वे मर मिटे हैं।—तभी दोनों राजपुरुषों ने आकर पवनंजय के पैर पकड़ लिये। मूक पत्थर-से वे आ पड़े हैं—शब्दातीत है उनका आत्म-परिताप। केवल उनके हृदयों की धड़कन ही जैसे कुमार को सुनाई पड़ी। पवनंजय धप्-से नीचे बैठ गये, धीरे-से पैर समेट दूर सरक गये और व्यथित कण्ठ से बोले—

"पितृजनो, समझ रहा हूँ तुम्हारी वेदना। पर, क्या भूल नहीं सकोगे, उस बीती बात को...? मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिये हैं, मैं तो सबके कष्ट का कारण ही रहा हूँ। पर मैं तुम्हारा पुत्र हूँ—बहुत ही दीन, अबल और अकिंचित्कर हो गया हूँ....। क्या तुम भी पुत्र रूप में मुझे लौटा नहीं सकोगे....?"

दोनों राजाओं ने हिये भरकर कुमार को आलिंगन किया और उनका लिलार सूँघ लिया।

शीघ्र ही यान प्रस्तुत किये गये। एक विमान में राजा प्रतिसूर्य, प्रहस्त और पवनंजय बैठे। दूसरे में राजा प्रह्लाद, राजा महेन्द्र और अन्य अनुचर लोग बैठे। थोड़ी ही देर में मांगलिक घण्टा-रव और शंखध्वनि के साथ दोनों यान उड़ चले, हनुरुहद्वीप की ओर।

जब यान अपनी अन्तिम ऊँचाई पर जाकर स्थिर गति से चलने लगा, तब प्रतिसूर्य, प्रहस्त की गोद में सिर रखकर सुखासीन बैठे पवनंजय के पास सरक आये। उनके गले में बड़े ही स्नेह से दोनों हाथ डाल दिये और गद्गद कण्ठ से बोले—

"बधाई लो बेटा, कामकुमार और तद्भव मोक्षगामी पुत्र के तुम पिता हो! उसके जन्म के बहुत दिनों पहले ही वनवास काल में मुनि ने दर्शन देकर अंजना को यह भवितव्य प्रकट किया था। और ठीक जिस दिन अरण्य की गुफा में अंजना के पुत्र जन्मा और मैं उसे लेकर हनुरुहद्वीप आया, उसी दिन तुम्हारी लोक-विश्रुत धर्म-विजय का संवाद सुना....। उस घड़ी की अंजना की आनन्द-वेदना इन्हीं आँखों देखी है, पर शब्दों में कह नहीं सकूँगा....।"

वृद्ध चुप हो गये और पवनंजय के मुख की ओर क्षणैक देखते रह गये। सुनते-सुनते कुमार की आँखें मूँद गयी थीं और पक्ष्म आँसुओं से पुलकित थे।

भीतर एक गम्भीर परिपूर्णता के उत्स में विश्व के सारे आह्लाद और विषाद की धाराएँ एक होकर बह चली हैं।....सुख में, दुख में, संयोग और वियोग में वही एक अनाहत आनन्द की बाँसुरी बज रही है....।

तब संक्षिप्त में प्रतिसूर्य ने अंजना के वनवास और उसके दीर्घ कष्टों की कथा भी हँसते-हँसते सुनायी। उसके बाद पार्वत्यवन पर अपने विमान अटकने का योगायोग, और नीचे जाकर अंजना के अनायास मिलन और पुत्र-जन्म का वृत्त कहा। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अंजना के उस नवजात शिशु की कान्ति से गुफा प्रकाशित हो गयी थी। यह भी बताया कि कैसे आकाशमार्ग में, यान से बालक अंजना के हाथ से छूटकर, पर्वत-शिला पर जा गिरा और शिला खण्ड-खण्ड हो गयी—पर बालक को कोई आँच नहीं आयी; वह वैसा ही मुसकराता हुआ खेलता रहा।—उस क्षण उस बालक के वज्र-वृषभ-नाराच-संहनन का अनायास प्रमाण मिला और तभी वसन्तमाला ने मुनि की भविष्यवाणी का प्रसंग कह सुनाया....।

....सुनकर पवनंजय को लगा कि मानो अपने आगामी जन्म के किसी अपूर्व विश्व में पहुँच गये हैं, जहाँ का परिचय सर्वथा नया है। विगत सब कुछ मानो विस्मरण हो गया है।

कुछ देर प्रतिसूर्य फिर चुप हो रहे।—जब पवनंजय ने उन्मुख होकर फिर जिज्ञासा की दृष्टि से उनकी ओर देखा, तो प्रतिसूर्य ने फिर अपने वृत्तान्त का सूत्र पकड़ा। संक्षेप में, पवनंजय की खोज में अपने भ्रमण का वृत्त भी उन्होंने कह सुनाया। बोले कि जब से पवनंजय की विजय का संवाद उन्होंने सुना था, तभी से वे इस प्रतीक्षा में थे, कि कुमार के घर लौटने की ख़बर पाते ही, तुरत वे अंजना का कुशल-सन्देश लेकर आदित्यपुर जायेंगे। पर दुर्दैव की नाट्य-लीला का अन्तिम दृश्य रह गया था, वह भी तो पूरा होकर ही रहना था। पवनंजय के गृहागमन का संवाद और अंजना को घर न पाकर उसी रात उनके गृहत्याग का संवाद साथ-साथ ही हनुरुहद्वीप पहुँचे। प्रतिसूर्य ने पवनंजय के लौटने के पहले ही आदित्यपुर जाकर उनकी प्रतीक्षा करनी चाही थी, पर अंजना ने उन्हें नहीं आने दिया। यह भी दैव का विधान ही तो था....! सोच में पड़ गये कि कहाँ जायें और कैसे पवनंजय को खोजें....? तब उन्होंने अंजना की एक न सुनी।

उसके उस समय के दारुण दुख में उसे छोड़, वज्र का हृदय कर, पहले वे महेन्द्रपुर गये और वहाँ से फिर आदित्यपुर गये। क्रम-क्रम से दोनों सन्तप्त राजकुलों को जाकर अंजना की कुशल और पुत्र-जन्म का संवाद सुनाकर ढाढ़स बँधाया। फिर राजा महेन्द्र, राजा प्रह्लाद, मित्र प्रहस्त आदि को लेकर वे पवनंजय की खोज में निकल पड़े। दूर-दूर तक पृथ्वी के अनेक देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर, विकट वन-पहाड़ों में वे पवनंजय को खोज आये पर कहीं कोई पता न चला। सुयोग की बात कि अपने उसी भ्रमण में हताश और सन्तप्त, आज वे इस भू-तरुवर नाम के वन में विश्राम लेने उतरे थे।—चलते-चलते राह में अचानक एक मिट्टी के स्तूप को हिलते हुए देखा....। पहले तो बड़े कौतूहल से देखते रह गये। पर जब दीखा कि कोई मनुष्य इस मिट्टी के ढेर में गड़ गया है और अब निकलने की चेष्टा कर रहा है, तभी प्रतिसूर्य ने जाकर ऊपर की मिट्टी हटायी और पकड़ कर उस मनुष्य को उठाने लगे।—एकाएक उस व्यक्ति का चेहरा दिखाई पड़ा, जो इतने दिनों मिट्टी में दबे रहने पर भी वैसा ही स्निग्ध और कान्तिमान् था; राजा प्रह्लाद देखते ही पहचान गये—चिल्ला उठे—'पवनंजय....!"

...सुनते-सुनते पवनंजय को ध्यान आया कि तभी शायद पिता का परिचित कण्ठ-स्वर सुन कर वे चौंक उठे थे....!

....समुद्र-पवन का स्पर्श पाकर, कुमार ने यान की खिड़की से झाँका। राजा प्रतिसूर्य ने उँगली के इशारे से बताया—समुद्र की अपार नीलिमा के बीच उजले शंख सा पड़ा है वह हनुरुहद्वीप। उसके आस-पास व्यवसायी जहाजों के मस्तूल और नावों के पाल उड़ते दीख पड़ रहे हैं। तटवर्ती हरी-भरी पहाड़ी में धीवरों और मल्लाहों के ग्राम दीख रहे हैं, और उड़ते हुए जल-पंछी द्वीप के भवन-शिखरों पर से पार हो रहे हैं....

[३५]

हनुरुह-द्वीप में—

राज-प्रासाद के सर्वोच्च खण्ड की छत पर अंजना का कक्ष—। सामुद्रिक

हवा के झकोरे उस प्रवाल-निर्मित, मत्स्याकार कक्ष के बिलौरी गवाक्षों पर खेल रहे थे। दक्षिण की खिड़की से तिरछी होकर साँझ की केशरिया धूप कमरे के सीप-जटित फ़र्श पर पड़ रही थी। चारों ओर समुद्र का तट-देश उत्सव के कोमल और मधुर-मन्द वाद्यों से मुखरित हो उठा था।

प्रतिहारी कक्ष के द्वार तक पवनंजय को पहुँचा कर चली गयी। कुमार ने एकाएक परदा हटा कर कमरे में प्रवेश किया।—कुछ दूर बढ़ आये। गति अनायास है—और मन निर्विकल्प। सामने दृष्टि उठी : अंजना के वक्ष पर उन्होंने देखा—वह शिशु कामदेव—! पुत्र के शरीर से सहज स्फुरित कान्ति में, दीपित था प्रिया का वही सरल, सस्मित मुख-मण्डल।

स्तब्ध, चित्र-लिखित-से पवनंजय शिशु को देखते रह गये—उनकी सारी कामनाओं का मोक्ष-फल ?—उनके चिर दिन के सपनों का सत्य ?

एक अलौकिक आनन्द की मुसकराहट से कुमार ने सामने खड़ी प्रिया का अभिषेक किया। उसके प्रति नीरव-नीरव उनकी आत्मा में गूँज उठा—

'ओ मेरी मुक्ति के द्वार, मेरे वन्दन स्वीकार करो। मैं तो केवल कल्पनाओं से ही खेलता रहा। पर तुमने मेरी कामनाओं को अपनी आत्मवेदना में गलाकर वह सर्वजयी पुरुषार्थ डाला है, जो उस मुक्ति का वरण करेगा, जिसका मैं सपना भर देख सका हूँ—'

पवनंजय आँखें नीची किये खड़े थे, जय और पराजय की सन्धि रेखा पर।

"इसे स्वीकार न करोगे...."

प्रिया का वही वत्सल, करुण कण्ठ-स्वर है। पवनंजय आँखें न उठा सके। पुरुषत्व के चरम अपराध के प्रतीक-से वे सिर झुकाये खड़े थे। फिर दूसरी भूल उनसे हो गयी है। बार-बार वे प्रमत्त हो उठते हैं। उन्हें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा है। पर अनजाने ही कुमार ने हाथ फैला दिये थे। उन फैले हाथों पर धीमे से अंजना ने शिशु को रख दिया।

अगले ही क्षण कुमार अनिर्वचनीय सुख से पुलकित और चंचल हो उठे। अपनी छाती के पास लगे शिशु को देखा : आँख के आँसू थम न सके।—यह सौन्दर्य—यह तेज!—अनिर्वार है यह मानो छाती में सरसराता हुआ, अस्पर्श रूप से पार हो जायेगा। हाँ, यही है वह, यही है वह, जिस की खोज उनके प्राण की

अनादि जिज्ञासा थी....! सुख इतना अपार हो उठा कि उसे अपना कहकर ही सन्तोष नहीं है !

हवा और पानी-सा सहज चंचल और गतिमय शिशु बाँहों पर ठहर नहीं पा रहा है। अनायास झुककर पवनंजय ने उसका लिलार चूम लिया। मुँदी आँखों की बरौनियों से धीरे-धीरे उसके मुख को सहलाने लगे।—मन ही मन कहा—

'....जाओ मेरे दुर्धर्ष ममत्व—मेरे मान ! उस वक्ष पर—उसी गोद में—जिसने लोक-मोहन कामदेव का रूप देकर तुम्हें जन्म दिया है;—जाओ उसी के पास, वही तुम्हें निखिलेश भी बनायेगी...!'

प्रकट में हाथ बढ़ाते हुए बोले—

"लो अंजन, इसे झेलने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है !....चुप क्यों खड़ी रह गयी—देखोगी नहीं...? हाँ....हाँ....समझ रहा हूँ—मेरी अन्तिम हार का आत्म-निवेदन मेरे ही मुँह से सुना चाहती हो—! अच्छी बात है, तो लो, सुनो : मेरी भुजाओं में वह बल नहीं है जो इसे थाम सके, मेरे वक्ष में वह सहारा नहीं है जो इसे रोककर रख सके !—वह तो तुम्हारे ही पास है !....लो, अंजन"

कहकर पवनंजय ने बालक को अंजना की ओर फैला दिया। एक अभूतपूर्व मुग्ध लज्जा से अंजना विभोर हो गयी। नीची ही दृष्टि किये उसने बालक को अपनी बाँहों पर झेल लिया और उसी क्षण पवनंजय के चरणों में रख दिया।

जाने कब एक समयातीत मुहूर्त में अंजना और पवनंजय, अशेष आलिंगन में बँध गये।

....प्रकृति पुरुष में लीन हो गयी, पुरुष नवीन प्रकृति में व्यक्त हो उठा।

झरोखों की जालियों में दीख रहा है : आकाश के तटों को तोड़ती हुई समुद्र की अनन्त लहरें, लहराती ही जा रही हैं....लहराती ही जा रही हैं, अकूल और अछोर....जाने किस ओर....? जाने किस ओर....

हमारे अन्य उपन्यास

उपन्यास	लेखक	मूल्य
जय-पराजय	सुमंगल प्रकाश	२६.००
पुरुष पुराण	डॉ. विवेकीराय	८.००
समुद्र संगम	डॉ. भोलाशंकर व्यास	१७.००
माटीमटाल-२ (पुर.)	गोपीनाथ महान्ती	२५.००
माटीमटाल-१ (पुर.)	गोपीनाथ महान्ती	२०.००
धूप और दरिया	जगजीत बराड़	६.५०
देवेश : एक जीवनी	सत्यपाल विद्यालंकार	१५.००
छाया मत छूना मन (पुर.)	हिमांशु जोशी	७.५०
मृत्युंजय	*शिवाजी सावंत*	४०.००
दायरे आस्थाओं के	सं. लि. भैरप्पा	९.००
बारूद और चिनगारी	सुमंगल प्रकाश	२०.००
पूर्णावतार	प्रमथनाथ विशी	१५.००
आधा पुल (दू. सं.)	जगदीशचन्द्र	१४.००
नमक का पुतला सागर में	धनंजय वैरागी	१६.००
तीसरा प्रसंग	लक्ष्मीकान्त वर्मा	१२.५०
टेराकोटा	लक्ष्मीकान्त वर्मा	१४.००
आईने अकेले हैं	कृश्नचन्दर	५.००
कहीं कुछ और	डॉ. गंगाप्रसाद विमल	७.००
मेरी आँखों में प्यास	वाणी राय	१०.००
विपात्र	ग. मा. मुक्तिबोध	४.००
सहस्रफण (दू. सं.)	विश्वनाथ सत्यनारायण	१६.००

उपन्यास	लेखक	मूल्य
रणांगण	विश्राम बेडेकर	३.५०
कृष्णकली (ती. सं.)	शिवानी	१०.००
हँसली बाँक की उपकथा	ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	१०.००
गणदेवता (पुर., ती. सं.)	,,	१८.००
अस्तंगता (द्वि. सं.)	,,	९.००
महाश्रमण सुनें : (द्वि. सं.)	'भिक्खु'	४.००
अठारह सूरज के पौधे	रमेश बक्षी	४.५०
जुलूस (ती. सं.)	फणीश्वरनाथ 'रेणु'	८.००
जो (द्वि. सं.)	डॉ. प्रभाकर माचवे	४.००
गुनाहों का देवता (तेरहवाँ सं.)	डॉ. धर्मवीर भारती	१०.००
सूरज का सातवाँ घोड़ा (सातवाँ सं.)	,,	३.५०
पीले गुलाब की आत्मा (द्वि. सं.)	विश्वम्भर 'मानव'	६.००
अपने-अपने अजनबी (पाँचवाँ सं.)	अज्ञेय	५.००
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	५.००
ग्यारह सपनों का देश (द्वि. सं.)	सम्पा. : लक्ष्मीचन्द्र जैन	७.००
राजसी	देवेशदास, आई. सी. एस्.	५.००
शतरंज के मोहरे (पुर., चौथा सं.)	अमृतलाल नागर	१२.००
रक्त-राग (द्वि. सं.)	देवेशदास, आई. सी. एस्.	५.००
तीसरा नेत्र (द्वि. सं.)	आनन्दप्रकाश जैन	४.५०